* अर्हम् नमः * पुष्प ६

पूर्वधरमहर्षि पू० श्री जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण महाराज रचित

ध्यानशतक

१४४४ ग्रन्थ रचयिता पू० आचार्य श्री हरिभद्रसूरिकृत
संस्कृत व्याख्या के आधार पर

मूल - भावार्थ तथा विवेचन

—: विवेचक :—

कर्मसाहित्य सूत्रधार सिद्धान्तमहोदधि स्व० पू० आचार्यदेव
श्री विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराज के पट्टालंकार प्रभावक प्रवचनकार
पू० आचार्यदेव श्री विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज

प्रकाशक :
दिव्यदर्शन कार्यालय
कालुशीनी पोल–कालुपुर
अहमदावाद—१

प्राप्तिस्थान :
१ दिव्य दर्शन कार्यालय
कालुशीनी पोल, कालुपुर
अहमदाबाद-१

२ दिव्य दर्शन शास्त्र संग्रह
पकुबाई ज्ञानमन्दिर
वेड़ावालीवास
शिवगंज (राजस्थान)

३ कुमारपाल वी. शाह
६८ गुलालवाडी
बम्बई-४

प्रथम आवृति
वि० सं० २०३०

कीमत रु० ५-००

प्रुफ संशोधनादि सम्पादनकर्ता
पू० मुनिराज श्री
पद्मसेनविजयजी महाराज

मुद्रक :
कमल प्रिन्टिंग प्रेस
श्रद्धानन्द बाजार
ब्यावर (राज)

प्रकाशक के दो शब्द-

चतुर्विध सघ को बहुत उपयोगी हो, सुन्दर जीवन-उत्थान का साधन बने, और आत्मा के दोपो को बता कर उन्हे दूर करने में खूब सहायक हो तथा अपनी पहुंच की अनुपम साधना को दृष्टि सन्मुख रख दे ऐसे इस ध्यान-शतक शास्त्र के विवेचन को प्रकाशित करते हुए हमे अपूर्व आनन्द होता है। इस शास्त्र ने ध्यान के बारे मे अनुपम मार्गदर्शन करके जैनधर्म की सर्वोपरिता सिद्ध कर दी है, वीतराग सर्वज्ञ श्री तीर्थंकर भगवान के अनन्त उपकार को पेश किया

(१) नमुत्थुण आदि देववन्दन सूत्रो के गर्भित अनुपम तत्त्व, (२) भवस्थिति परिपाक से ले कर उत्तरोत्तर जरूरी आन्तरिक साधना तथा (३) अशुभ ध्यान निवारण पूर्वक शुभ ध्यान के पदार्थ: इन तीनों पर महान शास्त्र (१) ललित विस्तरा (२) पचसूत्र तथा (३) श्री ध्यान शतक समझने में गहन होने पर भी दैनिक उपयोग के होने से पू० प० जी श्री भानुविजयजी गणिवर (अब पू० आचार्य देव श्री विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज) ने बहुत सरल और विस्तृत विवेचन के रूप मे (१) श्री परमतेज भा० १-२ (२) श्री उच्च-प्रकाशने पथे और (३) श्री ध्यान शतक का विवेचन लीख कर श्री चतुर्विध सघ के समक्ष सुन्दर सामग्री पेश की है।

बालभोग्य शैली मे लिखे हुए इस ध्यान शतक विवेचन में

कैसा तत्वों का भण्डार भरा हुआ है, वह तो इसके साथ की उन पूज्य आचार्य देव श्री की ही प्रस्तावना से समझ मे आ जावेगा। भव्य जीवो पर आपश्री का यह महान उपकार है।

इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने मे पूज्य श्री के शिष्य पू० मुनिराज श्री पद्मसेनविजयजी महाराज ने प्रूफ जांचने आदि मे अच्छा सहयोग दिया है। श्री बेंगलोर जैन श्वे० संघ ज्ञान खातु व श्री मद्रास जैन श्वे० सघ ज्ञान खातु इन दोनो से प्रारम्भिक सहायता मिली है। उन सब का हम आभार मानते है।

कालूशीनी पोल
अहमदाबाद
वि० स० २०३०
श्रावण शुक्ला ७

निवेदक :
दिव्य दर्शन प्रकाशन–(अहमदाबाद)
दिव्य दर्शन प्रकाशन–(जयपुर)
को तरफ से
भरतकुमार चतुरदास शाह

प्रस्तावना

जीव की दो अवस्थाए है एक होश की तथा एक बेहोश की। निद्रा मूच्छी दोनो बेहोशी की अवस्थाए हैं। इसमे मन, इन्द्रियें, शरीर, वाणी तथा अवयव सभी निष्क्रिय तथा निश्चेष्ट पड़े हुए होते है। वे सब काम करते हो। वह होश की अवस्था है। इन पांचो को चलाने वाला आत्मा है। आत्मा इच्छे उस अनुसार शरीर तथा शरीर के अवयवो को, इन्द्रियो को, वाणी तथा मन को प्रवृत्ति करवाती है, उसकी प्रवृत्ति को दिशा दर्शन करती है तथा प्रवृत्ति रोक भी देती है। यह करने का हेतु दु:ख निवारण और सुख शान्ति है। दु ख न आवे, आया हो तो चला जावे तथा सुखशान्ति मिलती रहे, मिली हुई टिक कर रहे इसी उद्देश्य से मन वचन काया और इन्द्रियो का प्रवर्तन तथा निवर्तन होता है। यो इन चारों के प्रवर्तक निवर्तक के रूप में आत्मा स्वतन्त्र साबित होती है। चारो पर अधिकार या वर्चस्व रखने वाला कोई एक व्यक्ति होना चाहिये और वह आत्मा ही है।

विचार वाणी वर्ताव करने वाली आत्मा है। उसे इसके लिए साधनस्वरूप मन, वचन, काया तथा इन्द्रियो है। इन साधनो और उनकी प्रवृत्ति मे मन तथा विचार की प्रधानता है। 'मन लइ जावे मोक्ष मा रे, मन ही य नरक मोझार' याने मन मोक्ष मे या नरक मे ले जाता है। वचन काया व इन्द्रियो की बहुत सी प्रवृत्ति मन से किये जाने वाले विचार के आधार पर चलती है और मन के विचारो के आधार पर शान्ति या अशान्ति का सर्जन होता है। साथ ही शुभ अशुभ कर्मो का बन्ध तथा शुभ अशुभ कर्मो का क्षय भी होता है। उसमे भी किसी विषय पर मन के एकाग्र विचार तथा ध्यान का गहरा प्रभाव पड़ता है।

'ध्यान' याने किसी भी विषय पर एकाग्र मन।

ध्यान के लिए मन तो एक साधन मात्र है। ध्यान करने वाली तो आत्मा ही है। इससे 'मन से कैसी प्रवृत्ति करवाना' यह आत्मा की मुनसफी (स्वेच्छा की बात है। शुभ अथवा अशुभ ध्यान आत्मा जैसी इच्छा करे वैसा कर सकती हैं। अत. शुभाशुभ ध्यान द्वारा सुखदुख, शान्ति अशान्ति और कर्मबन्ध कर्मक्षय करने वाले हम स्वय ही है। यदि हम अपने इस स्वातन्त्र्य को समझ लें, तो मन को अशुभ से रोक कर शुभ ध्यान मे प्रवृत करके उसके अनुपम लाभ लेते रहें।

'ध्यानशतक' शास्त्र शुभ अशुभ ध्यान पर अद्भुत प्रकाश डालता है। अशुभ ध्यान के रूप मे आर्तध्यान और रौद्रध्यान का स्वरूप क्या है, उसके कितने प्रकार है, वह किन किन कारणों से तथा कहा कब जाग उठता है, उनके बाह्य लक्षण कौन २ कि जिन पर स पहचाने कि भीतर ये वर्तमान है, उनमे लेश्या कौन सी होती है, कौन कौन कक्षा के जीव वह करते है, उसका फल क्या ? इत्यादि बातो का सुन्दर व मजबूत खियाल इस शास्त्र से मिलने पर हमे खयाल आता है कि हम कहा खडे है और जीवन का बहुत बड़ा हिस्सा कैसे अशुभ ध्यान मे बरबाद हो रहा है तथा इस दुर्दशा को कैसे रोका जा सकता है।

इसी तरह ध्यानशतक-शास्त्र शुभ ध्यान के रूप में धर्मध्यान तथा शुभ ध्यान पर सुन्दर विस्तृत प्रकाश डालता है। वह बताता है कि ये शुभ ध्यान लाने की भूमिका मे क्या क्या करना चाहिये, इन ध्यानो के प्रकार कैसे है, उन प्रत्येक मे क्या क्या चिन्तन करना चाहिये या सोचना विचारना चाहिये, किस आधार से इन मे चढा जा सकता है, उनके अधिकारी (योग्य) कौन है, योग्य देश काल व

आसन कौन से है क्रम क्या है, किन साधनाओ से यह ध्यान आ सकता है, ध्यान आने के बाह्य लक्षण कैसे होते हैं, ध्यान टूटने पर क्या करना चाहिये, इत्यादि विषयो पर सम्पूर्ण समझाइश इस शास्त्र मे दी गई है।

दूसरी तरह इस ग्रन्थ की विशेषता देखे तो जीवन मे मन बहुत काम करता है। अनादि सस्कारो मे वृद्धि या ह्रास और भवान्तरो मे अच्छे बुरे सस्कारो की परम्परा मन तैयार करता है। सुख दुःख ज्यादातर मन की कल्पना पर ही जीते है। शुभ अशुभ कर्मबन्ध या कर्मक्षय मन के आधार से होता है। मोक्ष-मार्ग का प्रारम्भ मन की स्वच्छ दृष्टि मे शुरू होता है। धर्म का आधार मन के उपयोग (व जागृति) पर है। दूसरे के साथ के व्यवहार मे हमारा मन यदि भारी रहे तो कठिनाई लगती है और मन यदि हल्का हो तो अच्छा लगता है। मन अनुकूल को प्रतिकूल तथा प्रतिकूल को अनुकूल लगा देता है. इस तरह मन का कार्यक्षेत्र बहुत बड़ा है।

यह मन कैसे विकल्प, झुकाव तथा ध्यान मे चढता है तो कुसस्कारो की वृद्धि और परम्परा बढे, तैयारी हो, दुःख ही दुःख लगे, पापकर्म का बन्ध और पुण्यकर्म का नाश हो, भारी धर्मकष्ट भोगने पर भी मोक्षमार्ग पर स्थान नही मिलता, धर्मक्रिया करने पर भी धर्म नही होता, अन्यो के साथ के व्यवहार मे कठिनाई का अनुभव हो, और बात बात मे प्रतिकूलता आ खडी हो, प्रत्येक बात मे मन को कमी का अनुभव हो। इससे उलटे मन कैसे झुकाव, विकल्प या ध्यान मे चढे कि कुसस्कार नाश हो, सुसस्कार गढे जाय, पाप नाश हो, पुण्य वृद्धि हो, मोक्षमार्ग पर स्थान मिले, आन्तरिक धर्मपरिणति निश्चित हो, अन्यो के साथ के व्यवहार मे

सभी अच्छी बातो का अनुभव हो, और प्रतिकूलता मे भी अनुकूलता लगे, बात बात मे स्फूर्ति तथा तृप्ति रहा करे यह सब जानना अत्यन्त आवश्यक है।

मनुष्य यदि यह सब सूक्ष्मता से जान ले और उसके अनुसार वह अपने मन का झुकाव, विकल्प तथा ध्यान अच्छी ओर रखे तो कर्मयोग से प्राप्त नरकागार जैसे सयोगो मे भी स्वर्गीय आनन्द तथा मस्ती का अनुभव कर सकता हैं। अन्यथा अच्छे सयोग होने पर भी रोना, शोक तथा सताप मे जलने का होता रहेगा। इस जानकारी के लिए 'ध्यानशतक' शास्त्र एक अति उत्तम साधन है। यह पूर्वधर महर्षि विशेषावश्यक-भाष्यादि के रचयिता आचार्य भगवन्त श्री जिनभद्र गणिक्षमाश्रमण महाराज की कृति है।

१०५ गाथा के 'ध्यान शतक' शास्त्र मे मन की अवस्थाएँ, ध्यान का स्वरूप व प्रकार, शुभ-अशुभ ध्यान के लक्षण, लिग, लेश्या, फल, अशुभ ध्यान की भयंकरता, शुभ ध्यान की भूमिका का सर्जन करने वाली उपायस्वरूप साधनाएँ, शुभ ध्यान के योग्य, देश, काल, मुद्रा, ध्यान हो सकने के अनुकूल आलम्बन, शुभ ध्यान के विषयो (ध्येयो) का विस्तार और उनके अधिकारी, शुभ ध्यान रुकने पर आवश्यक चिन्तन (अनुप्रेक्षा)... इत्यादि कई विषय खूब भरे हुए हैं।

इस प्राकृत भाषास्थ शास्त्र के सक्षिप्त निर्देशो को सस्कृत टीका मे समर्थ शास्त्रकार आचार्य पुरन्दर श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज ने अच्छी तरह से स्पष्ट किया है। अथवा यो कहिये कि ग्रन्थ रूपी चित्र का उन्होने टीका रूपी एन्लार्जमेन्ट (विस्तृतीकरण) किया है। इसके बिना असली सक्षिप्त शब्दो पर से अर्थ-विस्तार समझना कठिन था। इस टीका का सहारा लेकर

बाह्य लिगों का स्वरूप, सर्वज्ञ को मनके विना ध्यान किस तरह ? सभी क्रियाओं मे ध्यान अन्तर्भूत कैसे, शुक्ल ध्यान के बाद शरीर क्यों रखना चाहिये .. आदि का वर्णन किया है ।

धर्म ध्यान के काल में शुभाश्रव, सवर, निर्जरा, दैवी मुख, शुक्ल के फल मे ये विशेप, तथा दोनों ध्यान ससार प्रतिपक्षी क्यों, मोक्ष हेतु कैसे ? इसका वर्णन करके ध्यान से कर्म नाश के बारे में पानी, अग्नि, सूर्य के दृष्टान्त देकर योगों का तथा कर्म का तप्त होना, शोपण, भेदन का वर्णन किया । ध्यान यह कर्म योग चिकित्सा, कर्मदाहकदव, कर्म बाद बिखेरने वाली हवा के रूप में बताकर ध्यान के प्रत्यक्ष फल मे ईर्ष्या विपादादि मानस दुःख नाश समझाया । हर्ष दुःख किस तरह मे ? ध्यान से शारीरिक पीड़ा मे दुःख क्यों नही ? श्रद्धा-ज्ञान-क्रिया से ध्यान नित्य सेव्य बताकर क्रियाएं भी ध्यान रूप किस तरह है यह समझाया है ।

इतना बडा पदार्थ-संग्रह मन को काम में लगा देने के लिए है । मानसिक चिन्तन मे इसी का रटन चलाये जाना होता है; इमी से इम ग्रन्थ रत्न का वार वार वाचन, मनन, संक्षेप मे नोट करके और उसकी स्मृति उपस्थिति करने जैसी है तभी वह चिन्तन में चालू रखा जा सकेगा । इससे जीवन पर गजव रूप से प्रभाव पडेगा । बात बात मे उठने वाले आर्त्त रौद्र ध्यान को रोका जा सकेगा, अनेकविध धर्मध्यान को मन मे फिराया जा सकेगा ।

कलकत्ता
वीर सं० २४९७ माघ सुद ५ रवि

— पंन्यास भानुविजय

शुद्धिपत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	५	का वाद	को वाद
	१२	मौखिक	मौखिक ही थे
३	१	....	गाथा....१
३	२	ज्झाणा	ज्झाण
५	१	खाली या मात्र	निर्गुण
		कोरा	निःस्वभावरूप मे
	१०	को	की
८	९	अर्थात्	जिस काया से
		कायिक प्रवृत्ति	होता है वह
११	५	सन जावे	वासित हो जावे
	६	भरा हुआ	भावित हुआ
	१०	धान	ध्यान
१२	१	मेघ....झाण	मेग....झाणं
	१८	।६	।७
१६	१	मुहु....त्तझाण	मुहुत्त....झाण
१८	३	झाणणं	झाणेण
	६	उनका	उनकी
	१७	या	यानी
२१	२	परण	सरणं
	९	निदान चा	निदान च
२२	१३	था या।	था ! या
२४	२३	अत्य पंक्ति निकाल देना	
२५	८	स्मभण	स्मरण

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५	१९	कहेगे	रहेगा
२६	१६	चाह कर	स्वेच्छा से
३१	३	पमत्था	पसत्था
३२	११	या मेरी	यानी मेरी
३४	२४	असमाधि या	असमाधि यानी
३५	२	अणुसार वेस्स	अणुसारवेस्स
३५	१८	या लोहा	यानी लोहा
	१९	हाथ	हाथा
३८	६	(तैयार करवाया हुआ)	निकाल दो
४१	२०	मोक्षेच्छा	मोक्षेच्छावश
४५	२०	होते समाविष्ट	समाविष्ट
	२२	हैं	होते है
५०	३	पससइ	पसंसइ
५३	२	होना	होना इसके
	१३	भो रहे	भीतर रहे
	१६	समना	ममता
६०	७	है याने	हो
	८	कारण (द्वि०)	कार्य
	१२	चलाने से	चलाने पर
६१	२५	हिसानु०	हिंसानु०
६२	८	जलता	जलती
	१०	खजर	खजर
६४	१२	विश्य	विश्व
	१३	हो तो	न हो तो
६६	२२	होने को	होने का
६७	२	निरवे क्खं	निरवेक्खं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६९	७	क्रत्य	कृत्य
	२३	परन्तु	परन्तु यों तो
	२४	हो	चिंतन हो
७०	१४	तो . भी	तो भी
		देने लगा	दू
		उनके	उसके
	२१	के लिए	को
	२३	चूकते.. .किसे	चूकाता.. क्या
७१	२	महाण्णं	महण्णं
	१२	भाग	भोग
७३	१२	विजया....	विपया...
७४	१	ध्यान चिंतन	ध्यान
	२	वह	किन्तु वह
	४	उतरे	उतर गए
	५	तक को	तक के
७५	८	यों चाहे	यों
	१४	'आर्त	रौद्र
		उससे भी	उसमे
	१५	ज्यादा क्या है	क्या बढे
	२२	बाद को	बाद के
७६	१६	सजन	सृजन
७८	१९	हिसा	हिंसा
८०	१३	उन्हे	उन्हे वह
८१	४	साहूकारो	साहूकारी
८२	२०	जावेगी	जावेगा
८४	१	भूमि का	भूमिका

पृ०	प०	अशुद्ध	शुद्ध
८४	१६	गरमी मे	गरमी से मनमे
८५	४	घरिण	धारण
	१५	जाती	रहती
८६	१५	भुला देने	भूल जाने
	२६	अव हद	अनहद
८७	८	अर्थ	व उसके अर्थ को
	९	ज्ञान को	ज्ञान की
	२१	दूसरे यह भी	दुसरा यह भी है
८९	१२	इस	यह
९१	१७	उसके	उनके
	२१	भग भी न	भंग भी नही
९२	८	होगा	होगी
९७	५	करना	करनी
	१०	अग	अंग
१०१	३	सेत्रा	सेवा
	२२	करी दुख	दु.ख करी
१०२	५	दीघ	दीर्घ
१०३	४	निजंगा	निर्जरा
१०५	६	किस तरह	क्यो
१०७	८	भगने	भोगने
	२५	चाहिए	चाहिए इसका विकास करना चाहिए
१०८	५	क्यों	क्या
१०९	९	आने	आगे
	१९	धर्म साधन	धर्म साधन करते समय

पृ०	प०	अशुद्ध	शुद्ध
१११	१	को	से
	२	इसमे	इसमे बाद में
	५	को मड़ा	का प्रस्थान
	२१	से तथा	में पड़ी तथा
	२४	भी	भी होने पर ग्रानन्द
११२	१४	करना	करनी
११४	७	इमा	इसी
	२४	ये इन	इन
	२५	से दूर	से ये पद्मानादि दूर
११८	१७	के दो	नामक दो
१२३	११	ि ले	मिले
१२४	४	शामान	शमन
१२६	१५	कहा	कही
१२७	२१	भुलाया	भूल
१२९	२०	या ग्राधार	ग्राधार
१३१	४	फि	फिर
१३५	२३	होता है जिमसे	हो, तो इससे
१३७	१	ग्ररे... से	अहो !....... मे
	१२	गुना (३)	गुनो
१३८	१८	उसी	उन्ही
१३९	१	या पश्य	यानो पश्य
	१४	सत्य	सत्य ।
१४०	१४	पाछा	पीछा
	२५	ग्रनव्याता	ग्रनघ्यंता
१४२	१२	ज उदय	ज उदयं

पृ०	प०	अशुद्ध	शुद्ध
१४२	१४	भा	भी
१४४	५	अर्थ प्रधान	अर्थप्रधान
१४७	८	त्कृष्ट	उत्कृष्ट
१४९	१४	भग	भग
१५०	३	से क	से कैसा ?
१५३	१४	पायस	वायस
	२४	दशन	दर्शन
१५४	१३	सेलेर क	से लेकर
१५७	१३	की साक्षत्	को साक्षात्
१५८	१३	जिनेश्वर	जिनेश्वर
१६३	११	न्हें	उन्हे
१६४	७	गग:	राग:
	१०	दर्शि	दर्शि
१६५	६	कापायो	कपायों
१६७	११	न्ही	इन्ही
१६८	७	शास्त्र	शस्त्र
	१४	मम्म	मम्मण
	१७	घातकी	घातकी
१६६	२	उदाहरण	उदाहरण-
१७०	२	विवागण	विवागं
	६	मिठाय	मिठायश
	१८	का, रोकना	का रोकना,
१७१	१६	यात्स्य	यामस्स्य
	२२	; का मिलन	का मिलन;
१७२	१	वंघ	वंघे

पृ०	प०	अशुद्ध	शुद्ध
१७३	१०	हो माइप	होमाइ-प
१७४	१	तग्वेगं	तग्वेगं
	२	चवेगमग्ग	वेगमग्गप
		निक्रोमं	निस्रोमं
	५	तिग्वण	निग्वण
१७६	३	पयार्थ	पदार्थ
	१०	अग्गो	अग्गो
	१६	६ (को० ३)	७
	२०	सम्यक्तव	सम्यक्त्व
१७७	६	लोकाकाश	लोकाकाश
	१५	चिप	वैग
१७८	२३	पर	पैर
१७९	११	रहते	रहती
१८०	५	औ .. दारिक	औदारिक
१८१	१०	युक्ति मे	युक्ति
	१५	तहर	तरह
१८३	८	अनो	अतो
१८६	११	एक त्रि	एकत्रित
	२०	नष्ट	नहर
१९०	९	ना	नो
१९३	४	गा	०।।
	५	और वन आदि ६	ऐरवत आदि ७
	१२	दानों	दोनो
१९४	९	४१८	३१८
	१५	वे ७ यरोड	७ करोड
		आमुर	असुर

पृ०	प०	अशुद्ध	शुद्ध
१९४	१०	पोले	पोले
	२१	हित	रहित
१९५	१७	तथा स्वभाव	तथा स्वभाव
	९३	से	मे
	२४	का ही	को ही
१९६	४	घनी	घनो
	६	अचित्य	अंचित्य
	५	तनुमात	तनुवात
	२२	३५ सामीप्येव	यदि कहो उप सामीप्येन
	२३	उडे	जुडे
१९७	८	या	व
१९८	४	मातिकी	मालिकी
	१३	ग्रह	यह
	१९	याल	काल
१९९		योग्य (३)	भोग्य (३)
	१३	उसमे	उसको
	२५	ज्ञान	ज्ञान होने पर भी
			शतशः ग्रन्थो का ज्ञान
२००	२५	ही	है
	२६	वद	वह
		स्वय	स्वय करता है।
२०१	१३	साख्यदर्शना	साख्यदर्शन
२०२	२१	तद्ध	... तत्व
२०३	१७	द्देश्य	देश्य

पृ०	प०	अशुद्ध	शुद्ध
२०४	१७	उनके	उनमे
२०७	२३	स्थानक का	स्थानक
२०८	११	चारिज्ञ के	चारित्र को
२०९	१६	दुध्य न या	दुर्घ्यान या
		अपघ्यान	अपध्यान है
२१३	२	पड़ I	पडता
	३	अेकानिक	एकान्तिक
	६	ज्य दा अनत	ज्यादा अनन्त
	७	कम	कर्म
२१८	२१	जधोलोक	अघोलोक
	२२	नायक	दायक
२२०	१४	भोगो	योगो
	२१	काष्ठको	काष्ठ
२२८	२०	आशरणा	अशरण
	२१	स्वाक्यात	स्वाख्यात
२२९	२	मनपलन्द	मनपसन्द
	१४	वध	वधे
२३०	१	जान	जाना
२३१	२३	राकने	रोकने
२४०	२	ज्जाण	ज्झाणं
	४	ने	ये
२४१	१६	दय	उदय
२४२	४/६	फ ·· निष्फल	फल....निष्फली
२४३	६	नची	नहीं
२४४	१०/२३	तानसी	तामसी

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
२४४	१०/२३	एव/शभा	एवं शोभा
२४९	३/२०	लको/हा	लोकों/यहां
२५०	११	सिया	सिद्ध
२५१	१	ज्ञानी	ज्ञानी
	४	उप ोग	उपयोग
	६	रू ...	रूप
	८	ही	वही
	२२	शलेशी	शैलेशी
२५२	६	वसे सो	वसेसो
	२०	जान	जाने
२५७	१९	काया	'काययोग'
२५९	६	वीय	वीर्य
२६१	१	लिस	लिए
२६३	१	पहसी.....'ग्र'	पहली....'ए'
२६७	११	लोकान्तर	लोकान्त
	१९	दानो	दोनो
२७०	१	प्पई वमिय	प्पईवमिव
२७१	१३	करने का	करके
२७२	२०	बननी	बनती
२७५	१७	अयोग	अयोगी
	१५/२६	अयाग/यागो	अयोग/योगों
२८५	११	अपने	अपनी
२८७	२१	वे/वाले	वह/वाला
	२३	हुआ ...पर स	रहा....पर
२९४	४	व र्म	कर्म

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
२९८	१	करता	कर्ता
२९९	३	लाए	लगे
	१४	अनिच्छत	अनिच्छित
३००	१	वहिज्जइ निजरा	वहिज्जइ निर्जरा
३०१	४	पीडा स	पीडा से
	१४	जता	जाता
३०२	१३	अनेक रुचि	रुचि
३०४	१६	ऐसा वह	इनको

卐 ध्यान शतक 卐

विषयानुक्रम

ध्यानशतक

श्री ध्यानशतक नाम से प्रसिद्ध 'ध्यानाध्ययन' नामक १०५ गाथा के शास्त्र को पूर्वधर महर्षि पू० श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण महाराज ने रचना की। उस पर पू० आ० श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने 'संक्षिप्त व्याख्या' की। दोनो महर्षि इतने अति उच्च श्रेणी के विद्वान है कि उनकी पंक्तियो का बाद के शास्त्रकार अपने रचित शास्त्रो मे सूत्राक्षर को तरह आधार रूप मे उद्धृत करते है।

आचार्य पुरंदर श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण

आप पूर्वधर महर्षि है। १४ पूर्व नाम के शास्त्र श्रुत-सागर समान हैं। उनमें से वे 'पूर्व' शास्त्र के जानकार है। उनके बाद तो 'पूर्व' शास्त्र बिलकुल ही नष्ट हो गये क्योकि वे लिखे हुए नही थे। वे केवल मौखिक रूप से पढे जाते, पढ़ाये जाते और याद रखे जाते। सभी मौखिक काल के प्रभाव से जीवो की बुद्धि का ह्रास होने से उसे ग्रहण करना तथा याद रखना कठिन हो गया। अत. श्री महावीर प्रभु के बाद १४ पूर्व में से क्रमशः नष्ट होते होते १००० वर्ष में तो 'पूर्व' ज्ञान पूर्णत नष्ट हो गया। श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण महाराज प्रथम सहस्त्राब्द के अन्तिम भाग मे हुए अत: उन्हे लगभग १ पूर्व का ज्ञान होगा ऐसा माना जाता है। इतना भी कुछ कम नही। उसके आधार पर उन्होंने अकेले 'करेमिभंते' सामायिक सूत्र की निर्युक्ति पर लगभग साढे तीन हजार श्लोक प्रमाण 'विशेषावश्यक भाष्य' की रचना की। उसमें पंचज्ञान, अनुयोग, गणधरवाद,

निन्हववाद, परमेष्ठि नमस्कार आदि पर ऐसे तर्क पूर्ण विशद विवेचन किये कि बाद मे वह शास्त्र 'आकर ग्रन्थ' के रूप मे प्रसिद्ध हुआ, एवं द्रव्यानुयोग का महाशास्त्र गिना जाता है। उपरात इसी महर्षि ने श्रमणसूत्र मे आये हुए 'चउहि झाणेहिं' पद को लेकर 'झाण' याने 'ध्यान' पर 'ध्यानाध्ययन' की रचना की। वह १०५ गाथा का है। अर्थात् (१००) 'शत' के निकट की संख्या की गाथाओं का है। अत यह अध्ययन 'ध्यान शतक' नाम से पहचाना जाता है।

सूरिपुरंदर श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज ने

इस शास्त्र की गाथाओ के प्रत्येक पद के गम्भीर भाव स्पष्ट करने के लिए पूरी व्याख्या रची है। १४४४ शास्त्रों के प्रणेता के नाम से प्रसिद्ध इन बहुश्रुत महाप्रज्ञ आचार्य भगवन्त की भी भारी ख्याति है। योगशतक, योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, अनेकान्तवाद, उपदेशपद, पचाशक, धर्मसंग्रहणी आदि मौलिक शास्त्रो की रचना के उपरात उन्होने श्री चैत्यवन्दन सूत्रवृत्ति, आवश्यक सूत्र वृत्ति आदि व्याख्या ग्रन्थो की भी रचना की है। इसमे से एक इस ध्यानशतक पर यह सक्षिप्त व्याख्या ग्रन्थ है। इन दोनो के आधार पर यहा मूल गाथा तथा अर्थ देकर उस पर गुजराती भाषा* मे सरल विवेचन किया गया है। जहा 'ध्यान शतक' के रचयिता पूर्वधर महर्षि हो और व्याख्याकार समर्थ शास्त्रकार हो, तो फिर उस ग्रन्थ मे आये हुए पदार्थो का गौरव कितना अधिक होगा, यह समझा जा सकता है। व्याख्याता स्वयं ही लिखते हैं कि 'ध्यान शतक' शास्त्र महार्थ है अर्थात् महान पदार्थो से भरा हुआ है, अत. यह 'आवश्यक' मे एक भिन्न शास्त्र है। इसलिए इसके प्रारम्भ मे शास्त्रकार मंगलाचरण करते हैं, जिससे विघ्न दूर हों। इस मंगल के रूप में इष्टदेव

* यह उसका हिन्दी अनुवाद है।

को नमस्कार करते हुए वे इस प्रकार कहते है.-

वीरं सुक्कज्झाणग्गिदड्ढकम्मिंधणं पणमिऊण ।
जोईसर सरणं झाणज्झयणं पवक्खामि ॥१॥

अर्थ - शुक्लध्यान रूपी अग्नि से कर्म ईधन को जलाने वाले योगेश्वर (योगीश्वर, योगीसर) तथा शरण करने योग्य श्री वीर-प्रभु को नमस्कार करके मै 'ध्यान' का अध्ययन कहूंगा ।

विवेचन :

यहा वर्तमान जिनशासन के अधिपति चौवीसवें तीर्थंकर श्री वीर विभु को नमस्कार किया है । ये 'वीर' अर्थात् विशेष रूप से कर्मों का 'ईरण' करने वाले (निकाल भगाने वाले) हैं । वह भी ऐसा कि स्वात्मा पर एक भी कर्म बाकी न रहे और जाने के बाद पुन कभी न आवे । अथवा 'वीर' याने मोक्ष मे जाने वाले ।

उन्होने शुक्ल ध्यान से कर्मों को निकाल भगाया ।

'शुक्ल' याने शोक को पीडित करके या उसे थकाकर के रवाना करने वाला ध्यान ।

प्रश्न— ध्यान क्या वस्तु (चीज) है ?

उत्तर— 'ध्यान' अर्थात् जिसके द्वारा तत्त्व का मनन किया जाय, एकाग्र चितन किया जाय । अत: तत्त्व पर एकाग्रता से चित्त को रोक रखना । मात्र चितन मे, भावना मे या विचारणा मे चित्त एक वस्तु पर से दूसरी पर तथा दूसरी से तीसरी पर भटकता रहता है । तब ध्यान मे वह एक ही विषय पर एकाग्र व स्थिर बनता है, उसे स्थिर रखा जाता है । यह ध्यान भी धर्म-ध्यान नहीं, परन्तु

शुक्ल ध्यान। वह प्रचंड अग्नि के समान है। वह कर्म रूपी काष्ठ को जलाकर भस्म कर डालता है।

प्रश्न – कर्म का अर्थ क्या है ?

उत्तर— "क्रियते तत् कर्म।" अर्थात् मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग द्वारा जो उत्पन्न किया जाता है, वह कर्म कहलाता है। वह एक प्रकार का अत्यन्त सूक्ष्म पौद्गलिक रजकण है। भाषा या मानसिक विचार के पुद्गल से भी यह सूक्ष्म पुद्गल (Matter) है। आत्मा मिथ्या दर्शन आदि सहित होते ही तुरन्त ये रजकण कर्म रूप बनकर आत्मा के साथ चिपक जाते है। जैसे तेल वाले वस्त्र पर वातावरण के रजकण चिपकते है न ? तेल का हिस्सा उसे खीचता है। इसी तरह मिथ्यादर्शनादि तेल की तरह कर्माणुओं को आत्मा के भीतर खीचते है। दूसरे लोग कर्म को भाग्य, अदृष्ट, प्रारब्ध आदि व गुणरूप कहते है। परन्तु वह गुणरूप न होकर जड़ पुद्गल स्वरूप है। इसीलिए उसमे कितने ही प्रकार के परिवर्तन हो सकते हैं।

प्रश्न— मिथ्यादर्शन अविरति आदि क्या हैं ?

उत्तर— ये आत्मा के परिणाम (भाव) हैं। मिथ्यादर्शन ऐसा आत्म-परिणाम है कि उसमे वस्तुदर्शन मिथ्या रूप मे होता है। वस्तु जिस स्वरूप मे है, उसे वैसे रूप मे न देखकर या न मानकर विपरीत रूप मे मानना या देखना ही मिथ्यादर्शन है। उदा० आत्मा को ज्ञानादि स्वरूप न मानकर शरीर रूप मे या ज्ञानादि स्वभाव

से रहित खाली या मात्र कोरा मान
वीतराग या उदासीन न मानकर जगत्कर्ता की तरह परमात्मा को
दर्शन है। *अविरति अर्थात् हिसादि पापो का । यह मिथ्या-
करना। विरति अर्थात् प्रतिज्ञापूर्वक त्याग। उदा त्याग नही
मारूंगा।' ऐसी प्रतिज्ञा करके हिसा नही करे वह नही
हुई। पर हिसा न करता हो, तब भी प्रतिज्ञा न होना
अविरति है। प्रमाद याने अज्ञान, भ्रम, संशय, विस्मरण
*कषाय अर्थात् जिससे 'कष'=ससार का 'आय'=लाभ हो वह
मान, माया, लोभ, हास्य, शोक, हर्ष, खेद आदि। योग याने मन-
वचन काया की प्रवृत्ति का आत्म परिणाम, चैतन्य स्फुरणा।

ये पाचों या कम या ज्यादा कारणो आत्मा का कर्मों से संबन्ध करवाते है।

प्रश्न— कर्म कितने प्रकार के है तथा वे क्या काम करते है ?

उत्तर— कर्म असल मे आठ प्रकार के है। नीचे के टेबल पत्रक पर से समझ मे आवेगा कि प्रत्येक प्रकार के आत्मा के असली स्वभाव को ढक कर उसे वैसे विकृत स्वरूप मे दिखाते हैं। उदा० प्रथम ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के अनन्त ज्ञान स्वभाव को ढक कर अज्ञानता का मैला स्वरूप उत्पन्न करता है। मोहनीय कर्म वीतरागता का आच्छादन करके आत्मा मे राग द्वेष मिथ्यात्व आदि मलिनता खड़ी करता है।

आठ कर्म तथा आत्मा का शुद्ध तथा विकृत स्वरूप

कर्म	आत्मा का शुद्ध स्वरूप	आत्मा का विकृत स्वरूप
१ ज्ञानावरण	अनन्त ज्ञान	अज्ञान
२ दर्शनावरण	अनन्त दर्शन	अदर्शन, निद्रा
३ वेदनीय	स्वाभाविक अव्याबाध सुख	शाता, अशाता
४ मोहनीय	सम्यग्दर्शन, वीतरागता	मिथ्यात्व, अविरति, राग-द्वेष, कषाय, काम, हास्यादि वगैरे।
५ आयु कर्म	अजर, अमर-अक्षयता	जन्म, जीवन, मरण,
६ नाम कर्म	अरूपिता	शरीर, इन्द्रिय, चाल, यश, अपयश, सौभाग्य, दुर्भाग्य आदि।
७ गोत्र कर्म	अगुरुलघुत्व	उच्चकुल, नीच कुल।
८ अन्तरायकर्म	दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्यलब्धि	कृपणता, दरिद्रता, पराधीनता, दुर्बलता।

ये कर्म आत्मा मे अति तीव्र दु ख का अग्नि प्रकट करते है, अत ये ईंधन-काष्ठ के समान है। ऐसे इन कर्मो को शुक्ल ध्यानाग्नि से जिन्होने जला डाले है, अर्थात् इन कर्मों के स्वभाव का नाश करके इन्हे दूर कर दिया है ऐसे श्री वीर परमात्मा हैं।

प्रश्न— मिथ्यादर्शन अविरति आदि से एकत्रित किये कर्म अकेले शुक्ल ध्यान से कैसे दूर हो जाते हैं ?

उत्तर— शुक्ल ध्यान तभी आता है जब पहले मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और अधिकाश (ज्यादातर) कषाय दूर हो चुकते हैं। अत उनके दूर होने से सम्यग् दर्शन, विरति, अप्रमत्तता तथा उपशम तो साथ मे खडे ही है। परन्तु केवल इन्ही मे ऐसा कर्मनाश करने की ताकत नही है। क्योंकि इनमें अभी आत्मा विविध भावों मे घूमते हुए ज्ञानोपयोग से चल या विचलित है, अस्थिर है। अस्थिर से कर्म इस तरह साफ नष्ट नही होगे। तब जीव शुक्ल ध्यान मे एकाग्र उपयोग मे स्थिर होता है, उससे जबरदस्त कर्मनाश सुलभ हो जाता है।

महावीर प्रभु ने शुक्ल ध्यान से कर्मनाश किया है अतः वे योगेश्वर या योगीश्वर अथवा योगीस्मर्या बन गये है।

योगेश्वर :

अर्थात् अनुपम योग अर्थात् मन वचन काया के व्यापार से प्रधान तथा अतिशयो से मुख्य। प्रभु के योग अनुपम क्यो ? इस तरह.—

मन पर्याय ज्ञानी मुनि और अनुत्तरवासी देवो के संशय भगवान केवलज्ञान से जानकर द्रव्यमनोयोग से उसका छेद करते है अर्थात् सशय समाधान की विचारधारा के योग्य मानस पुद्गलो को व्यवस्थित करते है, सगठित करते हैं और उन्हे वह संशय-ग्रस्त आत्मा विशिष्ट ज्ञान से जान कर समाधान प्राप्त कर लेता है।

(२) तो प्रभु का वचनयोग भी इतना ही अनुपम है। समवसरण मे प्रभु की वाणी योजन-गामिनी होती है। प्रत्येक अक्षर, पद, वाक्य साफ स्पष्ट और समझने मे सरल होता है। उपरांत, म्लेच्छ, आर्य तथा तिर्यच जो भिन्न भिन्न भाषा वाले होते हैं उन्हे अपनी अपनी भाषा मे वह वाणी परिणमित होकर समझ मे आ जाती है। अर्थात् वचन स्वयं ही उनकी भाषा मे परिवर्तित हो जाते है। पुनः वह

वाणी श्रोता के मन को इतना ज्यादा आनन्द देने वाली होती है कि कदाचित् ६ मास तक सतत सुनी जाय तो भी वहां भूख प्यास या थकान आदि किसी भी पीडा का अनुभव नही होता। उपरान्त उसमें से एक एक वाक्य भी अनेकों के भिन्न भिन्न संशय को दूर करने की जोरदार शक्ति रखता है एवं जिनवाणी का रस भी इतना अगाध होता है कि समस्त जीवनभर सुनने पर भी श्रोता को तृप्ति नही होती, उसे पूर्ण संतुष्टि (सुन चुकने की) नही होती, परन्तु अभी भी अधिकाधिक सुनने की इच्छा-अतृप्त इच्छा रहा करती है।

प्रभु का काययोग अर्थात् कायिक प्रवृत्ति भी सब देवताओं से अधिक तेजस्वी तथा मनोहर होती है। तब भी उसकी विशिष्टता यह है कि उससे जीवों के समूह घबराते नही है पर हमेशा उन्हें प्रशांत स्वरुप वाले कर देती है। उनके पास आये हुए सिंह, हिरन, शेर, बकरी, सर्प, मोर आदि परस्पर वैर भूल कर मित्र जैसे बन कर शांत हो कर बैठ जाते है।

योगीश्वर :

अर्थात् (१) योगियों के ईश्वर। इसमें 'योग' अर्थात् जिससे आत्मा केवलज्ञानादि के साथ जुड जाता है वह धर्म-शुक्ल ध्यान। ऐसे योग वाले साधु ही योगी है। उनके लिए ईश्वर समान अथवा ऐश्वर्यवान। ये योगी प्रभु के ही उपदेश से योग में प्रवर्तमान होने से प्रभु के ही गिने जाते है। उनसे प्रभु का ऐश्वर्य गिना जाय वैसे शोभावान भी। अतः प्रभु उनके ईश्वर अथवा उनके होने से ऐश्वर्य-वान कहलाते है। जैसे चक्रवर्ती ३२००० मुकुटबद्ध राजाओं के कारण ऐश्वर्यवान है। अथवा (२) प्रभु योगियों के ईश्वर अर्थात् स्वामी हैं।

योगीश्वर (या योगीस्मर्य) अर्थात् प्रभु योगियों के लिए स्मर्य अर्थात् स्मरणीय, स्मरण चिंतन व ध्यान करने योग्य हैं।

'शरण्य' हैं प्रभु, आतर शत्रु रागादि से पीटे गये जो जीव प्रभु का शरण लेते है, उनके प्रति वे अति वत्सल हैं, वात्सल्य धारण करने वाले अथवा रक्षण देने वाले है।

प्रश्न— भगवान शुक्लध्यानाग्नि से कर्म को जला डालने वाले हैं, अत: वे योगीश्वर व शरण्य तो हैं ही। फिर ये दो विशेषण लगाने का क्या प्रयोजन ? यह अर्थ पहले शब्द मे ही गतार्थ (समाया हुआ) है।

उत्तर— शुक्ल ध्यान से कर्मनाश करने वाले तो दूसरे सामान्य (अतीर्थंकर) केवल ज्ञानी भी होते है किन्तु वे योगेश्वर नही होते। क्योंकि उन्हे प्रभु के जैसे वचन तथा काया के अतिशय नही होते। वैसे ही उन्हे भी केवलज्ञान प्राप्ति मे प्रभु ही शरण्य बने हुए है अत. वस्तुत: अन्तिम शरण्य प्रभु ही है। अत. इन दो विशेषणो से प्रभु की अधिकता बताने का प्रयोजन है।

प्रश्न— तो फिर मात्र 'योगेश्वर' विशेषण लगाने से 'शुक्लध्यानाग्नि से कर्मनाशक' विशेषण गतार्थ हो जाता है न ? अलग क्यो कहा जाय ?

उत्तर— नहीं, यो तो 'योगेश्वर के रूप मे अणिमादि लब्धि वाले भी गिने जाते है। उनसे भी प्रभु को ज्यादा बताने के लिए 'शुक्ल ध्यानाग्नि से कर्मनाशक' कहना जरूरी है।

अथवा दूसरे शब्दों मे कहे तो एक विशेषण कह देने से दूसरे विशेषणों का भाव उसमे समा जाता हो तब भी अल्पज्ञ शिष्य उसे

जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं, जं चलं तयं चित्तं ।
तं होज्ज भावणा वा, अणुप्पेहा वा, अहव चिंता ॥२॥

अर्थ– जो स्थिर मन है, वह 'ध्यान' है। जो चंचल मन है वह 'चित्त' है। वह चित्त भावना रूप हो, अनुप्रेक्षा रूप हो, या चिंता स्वरूप हो।

स्वयं समझने की शक्ति वाले नहीं होते। अतः उन्हें अज्ञात वस्तु बताने के लिए अन्य विशेषणों का उल्लेख करना जरूरी है। पूर्व महर्षि भी यही मानते हैं, अस्तु।

ऐसे महावीर प्रभु को प्रणाम करके 'ध्यान' का प्रतिपादन करने वाला अध्ययन यहां अच्छी तरह (प्रकर्षेण) कहा जायगा। 'प्रणाम' याने प्रकर्ष से मन वचन काया के त्रिविध योग से नमस्कार। इसी तरह 'प्रकर्ष से कथन' अर्थात् यथास्थितता को रखते हुए कथन। सर्वज्ञ की दृष्टि से 'ध्यान' पदार्थ जैसे स्वरूप का है वैसे ही स्वरूप से कथन। किन्तु जरा भी परिवर्तन वाला नहीं।

अब ध्यान का लक्षण बताया जाता है:—

विवेचन :

ध्यान कहो, भावना कहो, ये सब मन की अवस्थाएं हैं।

यहा मन की दो अवस्थाएं बताई हैं। १. ध्यान तथा २. चित्त। इसमे मन को एक ही विषय पर एकाग्रता का आलंबन करवाना, दूसरे या तीसरे विचार न करके एक मे ही स्थिर करना, उसे 'ध्यान' कहते है। तब जो मन अस्थिर है अर्थात् एक विषय के विचार पर से दूसरे विषय के विचार मे भटकता हो, उसे 'चित्त' कहते हैं। ध्यान के प्रकार आगे कहे जावेंगे।

'चित्त' के ३ प्रकार है। १ भावना, २. अनुप्रेक्षा तथा ३. चिंता। भावना अर्थात् ध्यान के लिए अभ्यास की क्रिया, जिससे मन भावित हो। भस्म या रसायनादि को भावित करने के लिए भिन्न-भिन्न वनस्पति के रस से भावित किया जाता है अथवा उसके पुट दिये जाते है, जिससे वह उससे अच्छी तरह सन जावे। कस्तूरी की डिब्बी मे रात को रखा हुआ दतून सुबह कस्तूरी से भरा हुआ सा लगता है अर्थात् उसे उसकी भावना या पुट लगा, इसी तरह मन को भावित करने वाले ज्ञानादि के बराबर अभ्यास की प्रवृत्ति करने को याने मन को उसमे लगाये रखना भावना कहलायेगी। इससे दूसरे-तीसरे विकल्पो से बचकर मन अब ध्यान अर्थात् एक तत्त्व पर एकाग्रता के लिए समर्थ बन जाता है।

अनुप्रेक्षा का अर्थ है पीछे की ओर दृष्टि करना। जिन तत्त्वों का अध्ययन किया हो, उसे याद करके जो चिंतन मनन किया जाता है वह है अनुप्रेक्षा। ध्यान एक अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा नहीं टिकता। अत इतना समय निकलने पर मन ध्यान से भ्रष्ट होगा। उस समय यदि मन को किसी तत्त्वस्मरण मे जोडा जाय तो उसे अनुप्रेक्षा करना कहेगे। इससे पुन ध्यान मे जुड़ने से पहले मन व्यर्थ विकल्पो से विचलित न हो। उदा० जगत के संयोगो की अनित्यता के तत्त्वो का विचार किया जाय तो वह उसकी अनुप्रेक्षा हुई। इस तरह जगत के जीवो की अशरण अवस्था, ससार की विचित्रता आदि किसी भी तत्त्व की अनुप्रेक्षा की जा सकती है। इस तरह सूत्र या अर्थ का चिंतन या स्मरण किया जाय तो वह अनुप्रेक्षा है।

चिन्ता अर्थात् भावना या अनुप्रेक्षा सिवाय की मन की अस्थिर अवस्था। उदा० यह सोचना कि 'अब क्या कर्तव्य है?' या 'मेरे रागादि कितने कम हुए?' इत्यादि विचारधारा 'चिन्ता' है।

अंतो मुहुत्तमेत्तं चित्तावत्थाणमेगवत्थुंमि ।
छउमत्थाणं झाणं जोगनिरोहो जिणाणं तु ॥३॥

अर्थ- एक वस्तु मे चित्त की स्थिरता सिर्फ एक अन्तर्मुहूर्त रहती है । यह ध्यान छद्मस्थो को होता है । वीतराग सर्वज्ञ के लिए योगनिरोध ही ध्यान है ।

ऐसे तीन प्रकार के चित्त से भिन्न मन की स्थिर अवस्था 'ध्यान' कहलाती है । ऐसा सामान्य स्वरूप बना कर अब ध्यान का काल (समय) तथा स्वामी कौन है, यह बता कर उसका विशेष रूप से वर्णन करते है ।

विवेचन :

एक ध्यान ज्यादा से ज्यादा अन्तर्मुहूर्त तक टिकता है । इसका नाप इस तरह है —परम सूक्ष्म अविभाज्य काल को एक 'समय' कहते हैं । केवलज्ञानी की दृष्टि से भी इसके हिस्से नहीं हो सकते । क्षण या पल तथा विपल के हिस्से हो सकते है; पर समय के नहीं । अत सबसे छोटा या सूक्ष्म काल 'समय' है । ऐसे असंख्य समय का एक श्वासोच्छ्वास काल होता है । हृष्ट पुष्ट तन्दुरुस्त और निश्चिन्त पुख्त वय के मन वाले उम्मर लायक मनुष्य के हृदय की एक धड़कन में जो समय लगता है उसे प्राण कहते है । ऐसे ७ प्राण=१ स्तोक । ९ स्तोक (४९ प्राण)=१ लव । और ७७ लव (३७७३ प्राण)=१ मुहूर्त अथवा २ घडी (४८ मिनिट) इससे कम काल को अन्तमुहूर्त कहते हैं । उसे भिन्नमुहूर्त भी कहते है ।

मात्र इतने समय तक ही चित्त एक वस्तु पर एकाग्र स्थिर रह सकता है, निष्कम्प अवस्थान कर सकता है । फिर साधारण मात्र भी चलित होकर पुनः ध्यान लग सकता है । पर अन्तर्मुहूर्त बाद

उसमे से अवश्य विचलित होगा। यहां 'वस्तु' कहा है। यह वस्तु अर्थात् जिसमे गुण तथा पर्याय रहते हैं अर्थात् कोई चेतन या जड द्रव्य। चेतन के गुण ज्ञान दर्शनादि। जड पुद्गल के गुण, रूप रसादि। चेतन के पर्याय अर्थात् देवत्व, मनुष्यत्व, बचपन या कुमारावस्था आदि। जड के पर्याय पिंडत्व, शकु या घड़ा आदि अवस्था। ऐसी गुण पर्याय वाली किसी वस्तु पर ध्यान सतत ज्यादा से ज्यादा अन्तमुंहूर्त तक टिक सकता है। यह ध्यान के काल की बात हुई।

ध्यान के स्वामी छद्मस्थ भी व केवली भी होते है। छद्म याने ज्ञानादि गुण का आच्छादन करे, ढक दे, वे ज्ञानावरणादि घाती कर्म। उसमे रहे हुए (जिस पर ये कर्म है वह) छद्मस्थ। उनके मन की एकाग्रता सतत अन्तमुहूर्त मात्र की। जिसके घाती कर्म नष्ट होने से जो सर्वज्ञ केवली हो चुके है, उन्हे सभी कुछ प्रत्यक्ष होने से तथा साधना सपूर्ण हो जाने से ध्यान याने एकाग्र चिंतन करने का कुछ रहना ही नही। तब भी वे अन्त मे जो योगनिरोध करते हैं, वही उन्हे ध्यान रूप होता है। जैसा इसी ग्रन्थ मे आगे कहा जाएगा, मात्र मन की हो नही, काया की सुनिश्चलता भी ध्यान ही है और योगनिरोध में वह होता है।

योग तथा निरोध क्या चीज है ?

योग अर्थात् औदारिकादि शरीर आदि के संयोग से उत्पन्न आत्मा के परिणामरूप व्यापार। जैसे कहा है कि औदारिकादि शरीर के सम्बन्ध के कारण आत्मा मे जो वीय स्फुरण होता है वह काययोग है। औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीर के व्यापार से जीव पहले भाषाद्रव्य, भाषावर्गणा के पुद्गल ग्रहण करता है (और

उन्हें भाषा रूप मे परिवर्तित करना है।) फिर इन पुद्गलों के सहारे जीव मे जो वीर्य स्फुरण होता है वह वचनयोग कहलाता है। इस तरह औदारिकादि काया के व्यापार से मनोद्रव्य याने मनो-वर्गणा के पुद्गल लेकर (मन रूप मे परिवर्तित करके) मनोद्रव्य समूह के सहारे जीव मे जो वीर्य स्फुरणा होती है वह मनोयोग है।'

आठ पुद्गल वर्गणाएं

जगत मे जीव के उपयोग मे आने लायक जड पुद्गल अणुसमूह ८ प्रकार के है। १ से ४, औदारिक, वैक्रिय, आहारक व तैजस तथा ५ से ८, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मानस तथा कार्मण। इस प्रत्येक समूह को वर्गणा कहते है। (१) एकेन्द्रिय से लगाकर पचेन्द्रिय तिर्यंच तक के सब के शरीर अर्थात् पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा अनेक प्रकार के कीड़े, मकोडे, मक्खी और पशु पक्षी के शरीर तथा मनुष्य के शरीर औदारिक वर्गणा से बनते हैं। (२) देव तथा नारकी के शरीर जिस पुद्गल समूह से बनते हैं वह वैक्रिय वर्गणा है। (३) चौदह पूर्वी महामुनि विचरते हुए भगवान के पास भेजने के लिए उन्हे स्वय को प्रकट हुई आहारक लब्धि (शक्ति) से जो शरीर बनाते हैं, उसके पुद्गल को आहारक वर्गणा कहते हैं। (४) शरीर मे आहार का पाचन कराने की शक्ति जिस पुद्गल मे है वह तैजस वर्गणा का है। (५) शब्द बोलने के लिए जिस पुद्गल से शब्द बनता है वह भाषा वर्गणा। (६) श्वासोच्छ्वास के लिए उपयुक्त पुद्गल श्वासोच्छ्वास वर्गणा है। (७) विचार करने के लिए मन जिस पुद्गल से बनता है वह मनोवर्गणा है, तथा (८) आत्मा पर चिपकते हुए कर्म जिसमे से बनते है वह कार्मण वर्गणा है।

इसमे औदारिकादि काया की जो प्रवृत्ति होती है अर्थात् जो शरीरक्रिया होती है वह स्वत नही होती। परन्तु जैसे बीमार

मनुष्य लकडी के सहारे चलता है, वैसे इस शरीर के सहारे से आत्मा मे वीर्य, परिणाम की स्फुरणा से शरीर क्रिया होती है। इस आत्मपरिणाम को काययोग कहते है। तब वचनयोग तथा मनोयोग क्या है? काय योग से भाषावर्गणा तथा मनोवर्गणा के पुद्गल लेकर उन्हे वचन व मन के रूप मे परिवर्तित करके उसके सहारे जीव बोलने तथा विचारने का जो वीर्य स्फुरण करता है वह वचनयोग तथा मनोयोग है।

योग निरोध आवश्यक क्यों?

आत्मा जब सर्वज्ञ बन जाता है, तब कर्म बन्ध के कारण-स्वरूप मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद तथा कषाय तो नष्ट हो चुकते है, परन्तु आहार, निहार, विहार व उपदेश आदि मे उक्त 'त्रिविध योग' रूप बन्ध का अन्तिम कारण चालू रहता है। यह यदि मोक्ष मे जाने के अन्तिम समय तक चालू रहे तो उससे बाधे हुए कर्म को कब छोडा जाय, कहा छोडा जाय? उन्हे छोड़े विना सर्व कर्म मुक्ति या मोक्ष कैसा? अत मोक्ष जाने से पहले अन्तिम आयुष्य की पूर्णाहुति के वक्त पाच ह्रस्वाक्षर अ इ उ ऋ लृ के उच्चारण मे लगने वाले काल तक जीव योगरहित, अयोगी, होता है। इस काल में अब कर्मबन्ध बिलकुल नही होता और बचे हुए बाकी कर्मो का केवल क्षय किया जाता है। यह योग रहित अवस्था बनाने के लिए जीव मन वचन काया के योगो का पूर्णरूप से निरोध (रोक) करता है। इन कायादि तीनो का अब कोई सम्बन्ध या सहारा नही। तब आत्मद्रव्य शैलेश याने मेरु जैसा निश्चल बनता है। इस अवस्था को शैलेशी कहते हैं। यह १४वें गुणस्थानक पर होती है। इसके लिए १३वें गुणस्थानक के अन्त मे सपूर्ण योग निरोध करना पड़ता है। इस योग निरोध की क्रिया में काया को अब सुनिश्चल कर दिया।

अन्तो मुहुत्तं परओ चिंता झाणतरं व होज्जाहि।
सुचिरंपि होज्ज बहुवत्थुसंकमे झाणसंताणो ॥४॥

अर्थ · (छद्मस्थ को ध्यान के) अन्तमुहूर्त बाद चिंता, भावना या अन्तर होकर पुन. तुरंत ध्यान लगता है। इस तरह बहुत सी वस्तुओ पर क्रमश· चित्त का स्थिरतापूर्वक अवस्थान दीर्घकाल तक चलता रहता है। उसे संतति या ध्यानधारा कहते हैं।

इसलिए यह योगनिरोध क्रिया भी ध्यान रूप है और वह मात्र अन्तर्मुहूर्त तक ही चलती है। इसलिए सर्वज्ञ के लिए योगनिरोध ही ध्यान कहा·। यह उन्हे (सर्वज्ञ भगवन्त) ही होता है, क्योंकि दूसरे के लिए यह करना असम्भव है। सर्वज्ञ को किस तरह व कितने काल तक होता हैं वह आगे कहा जायगा।

अब छद्मस्थ को अन्तर्मुहूर्त काल तक ध्यान के बाद क्या होता है सो कहते है.--

विवेचन :

ध्यानांतर--अन्तर्मुहूर्त मे एक ध्यान का अन्त होता ही है। उसके बाद पूर्वोक्त 'चित्त' अवस्था याने चिंता, भावना या अनुप्रेक्षा आती है। यहां गाथायें जो 'ध्यानांतर' कहा है, उसका अर्थ दूसरा ध्यान नही, पर 'ध्यान का अन्तर' याने बीच मे पड़ने वाला अन्तर या निकलने वाला समय (Interim Period) यह अन्तर (gap) चिंता, भावना या अनुप्रेक्षा से पड़ता है। पर उसे अन्तर तो तभी कहेगे जब कि पुन. तुरत दूसरा ध्यान शुरु हो जाय। 'ध्यान का अन्तर' का अर्थ ही यह है कि दो ध्यान के बीच का समय, उस समय मे होने वाली क्रिया।

ध्यान धारा.- अब यह दूसरा ध्यान अन्तर्मुहूर्त मे पूरा

अट्टं रुद्दं धम्मं सुक्कं झाणाइ तत्थ अंताइं ।
निव्वाण साहणाइं, भवकारणमट्टरुद्दाइं ।।५।।

अर्थ.—आर्त, रौद्र, धर्म तथा शुक्ल नाम से चार ध्यान है। इसमे अन्तिम दो (धर्म तथा शुक्ल) ध्यान (निर्वाण) मुख के साधन है और आर्त रौद्र ध्यान ससार के कारण है।

ध्यान प्रारम्भ हो सकता है। इस तरह ही चले ऐसा कोई नियम नही है। नया ध्यान प्रारम्भ होने के बजाय चिन्तनादि मे ही कितना ही काल निकल जाय। परन्तु हा, तुरन्त नया ध्यान, फिर अन्तर; पुनः नया ध्यान इस तरह दीर्घकाल तक चल सकता है। इसे ध्यान धारा या ध्यान प्रवाह कहते है। यह भगवान या दूसरे ऐसे महात्माओ को अच्छा होता है, दीर्घ होता है। इस नये नये ध्यान मे चित्त एक पदार्थ से दूसरे पर और दूसरे से तीसरे पर एकाग्र अवस्थान करता जाता है।

प्रश्न— ध्यान की वस्तु कौन सी ?

उत्तर— ध्यान की वस्तु (Subject) के तौर पर आत्मा मे या पर मे रहे हुए द्रव्यादि आ सकते है। आत्मा मे रहे हुए पदार्थ मनोद्रव्य आदि पर भी ध्यान हो सकता है। अथवा पर मे रहे हुए किसी भी द्रव्य गुण या पर्याय पर ध्यान हो सकता है। उदा० आत्मा का ग्रहण किया हुआ मनोद्रव्य कैसा है ? भाषाद्रव्य कैसा है ? या आत्मा का अगुरु लघु गुण कैसा है ? इस पर ध्यान किया जाय अथवा बाहर के किसी पर द्रव्य, वर्गणा पुद्गल या उत्पत्ति व्यय आदि पर मन केन्द्रित हो सकता है।

यहा तक प्रसग प्राप्त वस्तु के साथ ध्यान का सामान्य लक्षण कहा। अब विशेष लक्षण कहने की इच्छा से ध्यान के प्रकारो के

कहा है :

अट्टेण तिरिक्खगई, रुद्दज्झाणेण गम्मती नरयं ।
धम्मेण देवलोयं सिद्धिगई सुक्कझाणेणं ॥

अर्थ : आर्त से तिर्यंच गति, रौद्र से नरक गति, धर्म से स्वर्ग गति तथा शुक्ल ध्यान से सिद्धि गति मिलती है ।

सामान्य नाम तथा उनकी विशिष्ट कार्यजनकता संक्षेप से कही जाती है ।

विवेचन :

ध्यान चार प्रकार का है:–(१) आर्त ध्यान (२) रौद्र ध्यान (३) धर्म ध्यान तथा (४) शुक्ल ध्यान ।

(१) इसमें 'आर्त' शब्द 'ऋत' धातु पर से बना है । ऋत मे उत्पन्न होने वाला वह आर्त्त । ऋत याने दुःख । इस निमित्त से होने वाला अध्यवसाय या एकाग्रचित्त वह आर्त्त ध्यान है । (२) हिंसा झूठ आदि की रुद्रता याने क्रूरता से भरा चित्त रौद्रध्यान है । (३) श्रुतधर्म या चारित्र धर्म के अनुसार एकाग्रचितन धर्म ध्यान है । (४) आठ प्रकार के कर्म मल का शोधन करे अथवा शोक को दुःख, ह्रास या नाश करे वह शुक्ल ध्यान । ये चार प्रकार के ध्यान है ।

ध्यान की कार्यजनकता

अब प्रत्येक ध्यान के कारण क्या क्या फल मिलता है उसका विचार करें । उपर्युक्त व्याख्याओ से यह स्पष्ट है कि आर्त और रौद्र ध्यान ये दो अशुभ ध्यान है । तो धर्म व शुक्ल ध्यान दो शुभ ध्यान है । शुभ ध्यान निर्वाण याने सुख का कारण और अशुभ ध्यान भव अर्थात् दुःख का कारण है । 'निर्वाण' का सामान्य अर्थ शांति या सुख होता है । धर्म ध्यान से देवगति तथा शुक्ल ध्यान से सिद्धिगति

मिलती है। वहा सुख मिला ऐसा कहा जायगा।

प्रश्न—तब भी 'निर्वाण' का विशेष अर्थ मोक्ष होता है, तो धर्मध्यान को मोक्ष साधन कहा है किस तरह ?

उत्तर—धर्म ध्यान आगे जाकर शुक्ल ध्यान प्राप्त करवा कर मोक्ष प्राप्ति कराने वाला बनता है अत. उसे मोक्ष साधन कहने मे हर्ज नही। उदा सम्यग्दर्शन आगे जाकर सम्यक्चारित्र की प्राप्ति और साधना करवाने से मोक्षदाता बनता है, इसलिए उसे भी मोक्ष साधक ही कहते हैं।

आर्त और रौद्र ध्यान को भव के कारण कहे है। 'भव' याने जिसमे जीव कर्म के वश मे पडे हुए होते है वह, अर्थात् संसार। उसके कारण स्वरूप आर्त तथा रौद्र। गाथा मे तो सामान्य शब्द 'भव' रखा है, पर उसका विशेष बोध व्याख्या से होता है। उसके अनुसार यहा 'भव' शब्द का अर्थ चारों गति न लेकर तिर्यंच और नरक गति लेने का है। ऐसी व्याख्या का कारण है (१) जैसे- अन्यत्र उपर्युक्त श्लोक मे कहा है वैसे दोनो दुर्ध्यान के फल ये ही हैं तथा (२) यही ग्रन्थकार आगे जाकर प्रत्येक ध्यान का विशेष फल बताते हुए आर्त का तिर्यंच गति तथा रौद्र का नरक गति फल बताते हैं। वैसे ही (३) मनुष्य तथा देवगति जैसे सद्गति ऐसे अशुभ ध्यान का फल नही हो सकती। अत· यहा 'भव' शब्द से तिर्यंच नरक गति लेना चाहिए।

यहा तक ध्यान की सामान्यत: बात कही। अब 'यथोद्देशनिर्देश.' याने जैसे सामान्य से सामूहिक प्रतिपादन किया उसी तरह के क्रम से विशेष रूप का वर्णन होता है, इस न्यास से चार प्रकार के ध्यान मे से पहले आर्त ध्यान के वर्णन का मौका है। अत· अत्र यहां उसका वर्णन करते है।

इस प्रकरण मे आर्त और रौद्र ध्यान का विचार ५-५ द्वार मे तथा धर्म व शुक्ल ध्यान का विचार १२-१३ द्वार मे किया है। द्वार अर्थात् खास पदार्थ। किसी भी विषय पर विचार करना हो तो उसके खास पदार्थ - प्रधान अग-निश्चित कर लेने से फिर प्रत्येक पदार्थ लेकर उस विषय पर विस्तृत विचार किया जा सकता है। व्यवस्थित व्याख्याता इस प्रकार अपने दिमाग मे मुख्य पदार्थ को सोचकर फिर क्रमश एकेक पदार्थ को लेकर उस विषय का प्रतिपादन करते है। श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण भगवन्त समर्थ व्याख्याता है। अत. यहां भी उनके दूसरे शास्त्रो की तरह मन मे प्रत्येक ध्यान के खास पदार्थ निश्चित करके फिर उसमे से एकेक पदार्थ लेकर उसका वर्णन करते है। यहा आर्त तथा रौद्र ध्यान के विचार के लिए ५-५ पदार्थ इस प्रकार है :— १. स्वरूप २. स्वामी ३. फल ४. लेश्या तथा ५. लिग। अर्थात् १ आर्त ध्यान (तथा उसके प्रकारो का प्रत्येक) का स्वरूप क्या है ? (२) आर्त ध्यान कैसे जीवो को होता है ? (३) आर्त ध्यान का फल क्या ? (४) इस ध्यान वाले की मानसिक लेश्या कैसी होती है ? तथा (५) अतर मे (मन के भीतर) आर्त ध्यान चल रहा है तो उसके ज्ञापक चिन्ह क्या होते हैं ?

अब इन प्रत्येक पदार्थ को क्रमश. एकेक लेकर उस पर विचार किया जाता है।

१. स्वरूप

टीकाकार आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज लिखते है कि आर्त ध्यान अपने चार प्रकार के विषयो मे बाटा जा सकता है अत: ४ प्रकार का होता है। भगवान वाचक मुख्य उमास्वातिजी महाराज ने आर्त ध्यान के ४ प्रकार बताते हुए श्री तत्त्वार्थ महाशास्त्र में कहा है :—

अमणुण्णाणं सद्दाइविसयवत्थूणं दोममइलस्स ।
धणियं विप्रोगचिंतणमसंपओगाणुसरणं च ॥६॥

अर्थ . द्वेप से मलिन जीव को अनिच्छित शब्दादि विपय तथा ऐसी वस्तु के वियोग का गाढ चितन या असंयोग का गाढ ध्यान रहे। (यह आर्त ध्यान का पहला प्रकार है।)

---

(१) अमनोज्ञाना संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारो, (२) वेदनायाश्च, (३) विपरीतं मनोज्ञानां, (४) निदानं चा (अध्याय ९ सू० ३१ से ३४) इत्यादि।

अर्थात् आर्त ध्यान के चार प्रकार इस तरह हैं:—

१. अनिष्ट संयोग – मन को अनिच्छित विषयो के संयोग में उनका वियोग कैसे हो उसका निश्चल चिंतन।

२ रोगादि वेदना मे उनके वारक उपायों का निश्चल चितन।

३ इष्ट योग—प्रथम से विपरीत अर्थात् मन का इच्छित संयोग या मनपसन्द विषयों की प्राप्ति के बारे मे निश्चलपन।

४ नियाणा—अर्थात् पौद्गल्कि सुखों की दृढ आशंसा या प्रणिधान।

ध्यान के इन चार प्रकारो में से कोई भी ध्यान चलता हो तो यह आर्त ध्यान है। अब यहा पहले भेद का स्वरूप बताते हुए कहते हैं:—

विवेचन :

जीव को इन्द्रियों के अमनोज्ञ शब्दरूप, रस, गंध, स्पर्श या वैसे शब्दादि वाला पदार्थ, जैसे कि भौंकता हुआ गधा या कुत्ता आदि संपर्क मे आवे तो वह पसंद नही आता। उस पर द्वेष तथा अरुचि

होती है। फिर चित्त 'वह कैसे हटे ?' ऐसे उसके वियोग के विचारो मे चढ जाता है। इसमे क्षण भर भी यदि चित्त स्थिर बना या अत्यन्त तन्मय हुआ तो वह अनिष्ट वियोग स्वरूप का आर्त ध्यान हुआ। आर्त ध्यान तीनो काल के बारे मे हो सकता है।

तीनों काल के बारे में आर्त ध्यान

(१) यह वर्तमान काल के 'अनिष्ट वियोग' की बात हुई। (२) भविष्य के बारे मे आर्त ध्यान इस तरह होता है कि 'भविष्य मे अनिष्ट किस तरह न आवे', 'न आवे तो अच्छा', ऐसे अनिष्ट वियोग पर मन लग जाता है। (३) इसी तरह अतीत विषय के बारे मे आर्त ध्यान इस तरह होगा कि पूर्व मे अनिष्ट संयोग या विषयो के या पदार्थ के बारे मे या पूर्व मे जिनका वियोग हो चुका है ऐसे अनिष्ट वियोग के बारे मे मन मे याद आ जाय। जैसे 'अरे! वह कैसा दुःखद प्रसंग था या! दुःखद पदार्थ था! सो गया अच्छा हुआ।' अथवा 'वह प्रसंग न आया, बच गये, अच्छा हुआ।' यह अतीत याने पूर्व मे व्यतीत हो चुकी वस्तु के बारे में हुआ जिसका अभी कोई सम्बंध नही है, तब भी उस पर मन जाने से वह बिगड़ जाता है। वैसे ही भविष्य मे भी इच्छित बात हो या न हो, वह किसे मालुम है। पर अभी से उस का एकाग्र चिंतन यह आर्त ध्यान है। इसी तरह इसके बाद के तीन प्रकार के आर्तध्यान मे भी वर्तमान विषय की तरह ही अतीत तथा भविष्य के वैसे ही विषयो के बारे में भी आर्त ध्यान हो सकता है।

विषय—आर्त ध्यान का मूल कारण

इस आर्त ध्यान के होने का मूल कारण इन्द्रियो के विषय है। 'विषय' शब्द का अर्थ ही यह है कि जीव किसी पदार्थ मे आसक्त होकर विषाद प्राप्त करे। इष्ट विषय या इष्ट सयोग मे एक बार चाहे

हर्ष हो जाय पर समय जाने पर यही विषय दु.खद बनता है। मानो अचानक ही कोई ५०००) रु० कमाता है तो उसे हर्ष होगा, परन्तु इतने मे यदि जाना कि पास वाला तो १०,०००) रु० कमा गया तो तुरन्त ईर्ष्या या विषाद दिल मे उठता है। स्वयं कमा लेने पर यह दशा है। अथवा पैसा कमाने के बाद उसे 'कहा रखूं ? कहां खर्च करुं ? उस कमाई से नई कमाई क्या हो सकती है ?' आदि चिंता खडी हो जाती है। यह भी एक प्रकार की चिंता, बेचैनी, मनस्ताप (दु.ख) के रूप मे विषाद ही है। अत. विषय विषाद कराने वाले ही है। अनिष्ट विषयो के बारे मे तो तीनो काल-सम्बन्धी बोझ या चिंता रहती है।

ये विषय दिन भर में कितने ?

भूख, तृष्णा, सरदी गरमी, अरुचिकर खान पान, कपडे, घर, रास्ता, गली, नौकरी धन्धा या अनिष्ट सेठ-नौकर-ग्राहक-दलाल-पडौसी कुटुम्ब स्नेही आदि, नापसंद रूप, रस, स्पर्श आदि कितने ही आते हैं, आयेंगे तथा आ चुके अथवा अभी नही है, पहले नही आये या भविष्य मे भी इष्ट नही है, पर उनके बारे मे मनमें विचार उठने पर मन बिगडता है, दृढ चिंतन होता है कि 'वह कब मिटे ? कैसे जावे ? पुन' न आवे तो अच्छा....' आदि। 'पहले खूब दु:खद विषय प्राप्त हुए, मिटे सो अच्छा हुआ अथवा नही आवे तो अच्छा।' दिन भर में वैसा कितना चलता रहता है ? वह भी इतने से ही पूरा नही होता। कदाचित यह बात मन मे नही आई तो वेदना या इष्ट संयोग के बारे मे जो आगे कहेंगे, चिंतन आ जाता है। तो प्रति दिन में आर्त ध्यान कितना ? वह सब किस गति के कर्म बंध कराता है ? देव मनुष्य गति के या तिर्यंच गति के ? ध्यान, अध्यवसाय, वृत्ति आदि के अनुसार कर्म बंध प्रति समय होता रहता है। शुभ मे शुभ, अशुभ मे अशुभ। आर्त ध्यान अशुभ होने से दिन भर में कितनी बार कितने अशुभ कर्मों का बंध होता है ? यह सोचने योग्य है।

तह सूलसीसरोगाइ वेयणाए विजोगपणिहाणं ।
तदसंपओगचिंता तप्पडिआगाउलमणस्स ॥७॥

अर्थ —तथा शूल, सिर दर्द आदि पीड़ा में उनके निवारण के उपाय में व्याकुल मन वाले को यह वेदना कैसे जावे या भविष्य में न आवे उसकी दृढ़ चिंता (होना यह आर्त ध्यान है ।)

प्रश्न— जगत में रहते हुए अनिष्ट सपर्क तो रहेंगे ही । तो आर्त ध्यान से कैसे बचा जाय ?

उत्तर— पहले तो यह पहचानने के लिए ही यह 'ध्यानशतक प्रकरण है । फिर उससे बचने के लिए इसमें आगे धर्म ध्यान का विस्तृत विचार किया गया है । यह देखने से पता चलेगा कि यदि हम बचना चाहे तो आर्त रौद्र मिटाने के लिए सपूर्ण साधन सामग्री प्राप्त है । मात्र जीवन मे उसका उपयोग प्रधान हो जाना चाहिये । उपरान्त, आर्त ध्यान का पहला प्रकार तो द्वेष मलिनता में से उठता है अर्थात् अनिष्ट के प्रति अरुचि, अभाव, अप्रीति रहने से होने से आर्त ध्यान खड़ा होता है । इसी तरह आगे कहेंगे उसमे राग भी जिम्मेदार है । अत. असल मे तो ये राग द्वेष ही गलत है । अत. उनका निग्रह करने से-रोकने से आर्त ध्यान से बचा जा सकता है । यह पहले प्रकार की बात हुई ।

२. आर्त ध्यान : वेदनानुबन्धी

अब आर्त ध्यान का दूसरा प्रकार कहते हैं:—

विवेचन :

पेट, छाती, दांत, आंख, कान आदि में शूल (पीड़ा), तीव्र होने पर पुन: चिंतादि आते हैं । पुन अन्तर के बाद तीसरी बार भी

वेदना या उसके सिवाय भी मस्तक, पेट, आंत आदि के अनेक प्रकार के रोग, व्याधि, कष्ट में से उठती हुई वेदना या कटु अनुभव होने से उत्पन्न दुःखद संवेदन, वह 'कैसे मिटे, कैसे हटे', उसका क्षण भर भी तन्मय चिन्तन हो, तो वह वर्तमान कालीन आर्त्त ध्यान हुआ। साथ ही किसी भी तरह से वह हटी या मिटी तो भी भविष्य के बारे में 'वह कभी भी मुझे कैसे न हो ?' ऐसी दृढ चिंता हो यह भी आर्त ध्यान का दूसरा प्रकार ही है। इसी तरह भूतकाल के बारे में भी होता है। यदि पूर्व में अनुभव की हुई वेदना स्मरण में आने पर, 'अरे, वह तो बहुत ही दुःखदायी ! कितनी अधिक पीडा ! मिटी सो अच्छा हुआ', ऐसा चिंतन हो, अथवा 'दूसरे को पीडा हुई, मुझे न हुई यह अच्छा हुआ', ऐसा दृढ चिंतन चलता रहे तो वह भी वेदना का आर्त ध्यान हुआ।

प्रश्न— कैसे जीवों को यह वेदना का आर्त्त ध्यान होता है ?

उत्तर— जिसे भी वेदना के निवारण करने के लिए उसके प्रतीकार में या निवारक उपाय में चित्त व्याकुल हो। उदा० 'कौन-सा वैद्य या डाक्टर ढूंढूं ? क्या दवा लूं ? कैसा पथ्य पालन करूं ? कितना आराम करूं ? दवा का समय हुआ ? पथ्य लेने का हुआ ?' इत्यादि विचारों की उथल-पुथल चलती हो, उसे वेदना वियोग का प्रणिधान कहेंगे। यह आर्त ध्यान है। इसी तरह भविष्य के बारे में कौन सी सावधानी रखूं, कौन सी भस्म, टोनिक या दवा लूं, पाक खाऊं ? इत्यादि विचार चलते ही रहें, विचारों की उथल-पुथल चले तो वह वेदना असंयोग प्रणिधान रूप आर्त ध्यान है।

प्रश्न— वेदना भी एक अनिष्ट ही है, तो इसके वियोग या असंयोग का ध्यान प्रथम प्रकार में ही आ जाता है। तो इसका दूसरा प्रकार कहने में क्या विशेषता है ?

इट्ठाण विसयाईण वेयणाए य रागरत्तस्स।
अवियोगऽज्झवसाणं तह संजोगाभिलासो य ॥८॥

अर्थ.—इष्ट वियोगों आदि में या इष्ट वेदना में रागरक्त जीव को उसके अवियोग पर मन की इच्छा तथा (अप्राप्त के लिए) संयोग की इच्छा रूप दृढ अध्यवसाय (प्रणिधान) हो, यह तीसरा प्रकार है।

उत्तर – पहले में कितनी ही बार अनिष्ट निवारक उपायों का पता नहीं चलता, या वे दिखते नहीं। उदा० पड़ोसी खराब मिला है, पुत्र स्वच्छंदी तथा उद्धत मिला है, अपना शरीर या अंग कुबड़ा मिला है। इत्यादि में कोई उपाय नहीं दिखता, तब भी उनका अरुचि में आर्त ध्यान चलता रहता है। 'यह कहा मिला? कितना दुःखदायक' इत्यादि। तब दूसरे प्रकार में वैद्य, दवा, पथ्यादि उपाय या प्रतीकार प्राप्त है। चिकित्सा आदि के बारे में जो व्याकुलता होती है, उसके कारण आर्त ध्यान होता रहता है। यह विशेषता है। यह आर्त ध्यान के दूसरे प्रकार के बारे में बात हुई।

३. आर्त ध्यान. इष्टसंयोग, अवियोगानुबंधी

अब आर्त ध्यान का तीसरा प्रकार कहते हैं:—

विवेचन :

इष्ट, मनपसंद शब्द, रूप, रस आदि विषय या वैसे विषय वाले पदार्थ अथवा मन से चाहकर इष्ट लगती हुई पीड़ा, 'किस तरह न जाय' या न हो तो 'कैसे मिले', उसका दृढ चिंतन'—यही तीसरे प्रकार का आर्त ध्यान है। सगे स्नेही जनों के अच्छे मानयुक्त शब्द सुनने को मिलने पर, 'नौकर या सेठ या ग्राहक, आड़तिया आदि मनपसंद मिले हैं, व्यापार ठीक चलता है, कुटुम्बी अच्छा बर्ताव करते हैं', इत्यादि इष्ट प्राप्त किस तरह चलता रहे और उसमें फर्क नहीं

देविंदचक्कवट्टित्तणाइं गुणरिद्धिपत्थण मईयं ।
अहमं नियाणचितण, मण्णाणाणुगयमच्चंतं ॥९॥

अर्थ—देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि के सौन्दर्यादि गुणो की तथा समृद्धि को याचना स्वरूप नियाणा करने का चितन होता है, वह अधम है, अत्यन्त अज्ञानता भरा है। (यह चौथे प्रकार का आर्त ध्यान है।)

पडे, उसका दृढ चितन रहा करे, इसी तरह कोई वेदना या पीड़ा भी उत्पन्न होने पर पसंद आ गई, उदा० देवरानी को घर मे बहुत काम खीचना पडता है, उसमे उसे बुखार या अन्य बीमारी आ गई। उसे तीव्र चितन हो कि 'यह बीमारी न जाय तो अच्छा, जिससे काम से बचू ।' तो यह सब आर्त ध्यान है। यह वर्तमान की बात हुई।

इसी तरह भविष्य के बारे मे, 'भविष्य मे ऐसे इष्ट विषय, पदार्थ या वेदना कैसे प्राप्त हो', उसका क्षण भर भी तन्मय चितन आर्त ध्यान है।

तो भूतकाल के बारे मे भी पहले प्राप्त, रहे हुए या मिले हुए विषय, वस्तु या वेदना के बारे मे एकाग्र विचार हो कि 'वे अच्छे मिले थे, रहे तो अच्छा था, बहुत अनुकूल आ गये', तो वह अतीत सम्बन्धी आर्त ध्यान हुआ।

प्रश्न—कैसे जीव को ऐसा आर्त ध्यान होता है ?

उत्तर—जो रागरक्त हो, राग-स्नेह आसक्ति से भावित हो, उसे इससे ऐसा आर्त ध्यान होता है। असल मे राग आकर्षण होने मे मन राग के विषय मे ऐसा लग जाता है कि 'यह विषय प्राप्त हुआ हो तो कैसे नही जाय, खर्च न हो', इत्यादि चिता मे तन्मय बने; और न मिला हो तो 'कैसे मिले, कैसे बढे' आदि चितन में मशगूल होता है। जीव को राग कहां नही है ? कितनी ढेरो वस्तुए

इष्ट है ? तो मन तो काम करता ही रहता है। इसमे फिर यह आर्त ध्यान डग डग पर, कदम कदम पर कितना ही चलता है। यह तीसरे प्रकार की बात हुई।

४. निदानुबंधी आर्त ध्यान

अब आर्त ध्यान का चौथा प्रकार कहते है. -

विवेचन :

निदान याने नियाणा चौथे प्रकार का आर्त ध्यान है। वह भी मानसिक गाढ चिंतन है। इसमे 'मेरे त्याग तप आदि के प्रभाव से मुझे देवलोक मिले, इन्द्रपन मिले या चक्रवर्तित्व मिले, वासुदेव, बलदेव बनूं, देवेन्द्र, नरेन्द्र का बल, सौन्दर्य या समृद्धि प्राप्त हो'. ऐसी उत्कट अभिलाषा से उसकी निश्चित माग की जाती है। 'बस, मुझे यही चाहिये, यही मुझे मिले', ऐसा निश्चय होता है। यह नियाणा का चिंतन अधम है। यही आर्त्त ध्यान है।

सांसारिक सुख सुखाभास है:—

प्रश्न— कैसे जीव को यह आर्त्त ध्यान होता है ?

उत्तर— अत्यन्त अज्ञान पीडित जीव को यह आर्त्त ध्यान होता है, क्योकि अज्ञानी के सिवाय दूसरो को सांसारिक सुखो की अभिलाषा नही होती। अज्ञानता यही है कि ये सुख सुखाभास है, दुःखरूप है, दुःख का प्रतिकार मात्र है, परसंयोगसापेक्ष है। परन्तु पर का सयोग तो विनश्वर है, तरतमता वाला है, इससे उसके सुख मे शांति नही है, कायमी स्वस्थता नही है, बल्कि काल, संयोग, परिस्थिति मे परिवर्तन होने से वह महा दु.खद बनता है। मोह के कारण यह समझ मे नही आता इसलिए उसकी झंखना, आशंसा, आकर्षण रहता है। अन्यथा असल में तो सांसारिक सुख के विषयों मे ऐसा तत्त्व ही क्या है कि जिससे उसके सुख की कामना हो !

एवं चउव्विहं रागद्दोस मोहंकि.यस्स जीवस्स।
अट्टज्झाणं संसारवद्धणं तिरियगइमूलं ॥१०॥

अर्थ—यह चारो प्रकार का आर्तध्यान रागद्वेष तथा मोह से क़लुषित जीव को होता है। वह ससार वर्धक है और तिर्यंचगति का कारण है।

कहा है—

अज्ञानान्धाश्चटुलवनितापाङ्गविक्षेपितास्ते ।
कामे सक्तिं दधति विभवाभोगतुंगार्जने वा ।
विद्वच्चित्तं भवति च महत् मोक्षकांक्षैकतानं।
नाल्पस्कन्धे विटपिनि कषत्यंसभित्ति गजेन्द्रः।

अर्थ:—स्त्रियो के चपल कटाक्ष से आकर्षित होकर जो जीव काम में आसक्त होते है वे अज्ञान से अंध है अथवा अति वैभव का विस्तार कमाने में आसक्त भी अज्ञानाध है। तव ज्ञानी का विशाल चित्त (ऐसे तुच्छ अर्थ काम में चिपकता नहीं है) मात्र एक मोक्ष की ही इच्छा में रक्त रहता है। देखिये, श्रेष्ठ हाथी खुजलाने के लिए भी छोटे वृक्ष के साथ अपने कन्धे को नही घिसता। तो फिर ज्ञानी तुच्छ विषयो में अपना मन क्यो डाले? उन्हे तो निरपेक्ष निराबाध स्वाधीन अनन्त सुखमय मोक्ष की ही लगन होती है।

यह आर्त्त ध्यान के चौथे प्रकार की बात हुई।

ध्यान का स्वामी और फल

अब इस ध्यान के स्वामी कौन हैं तथा फल क्या है यह कहते हैं:—

विवेचन :

पहले हम देख चुके है कि आर्तध्यान के चारो प्रकारो मे से कोई द्वेष के कारण तो कोई राग या मोह के कारण उत्पन्न होते है। अत आर्तध्यान का स्वामी कौन है? रागद्वेष मोह से जो कलुषित जीव होता है वह। रागादि का जोर है तो आर्तध्यान आ जायगा।

आर्तध्यान का फल है संसार वृद्धि।

संसार कर्मबन्धन के कारण खड़ा होता है। आर्तध्यान मे कोई कर्म क्षय नही होता, पर कर्मबंध बढता है। अत स्वभाविक ही है कि उससे संसार वृद्धि होती है। भव का चक्कर बढता है, यह सामान्य फल हुआ। उसका विशेष फल है तिर्यंचगति। आर्तध्यान एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय चौरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय तिर्यंचगति के योग्य कर्म बंध करवाता है।

प्रश्न—इस कथन पर से क्या यह फलित होता है कि जीवन-भर मे परभव का आयुष्य तो मात्र एक बार हो और अमुक निश्चित समय तक ही बाधा जाता है; तो आयुष्य-बंध के समय यदि जीव आर्तध्यान मे हो तो तिर्यंचगति का आयुष्य बाधे पर उसके अलावा के समय मे यह दड नही?

उत्तर—नही। दड तो है ही। यदि जीव आयुष्य बांधते समय आर्तध्यान मे हो, तब तो वह तिर्यंच का आयुष्य बाधेगा, उसके साथ उसके योग्य अन्य कर्म भी साथ साथ बाधेगा, परन्तु उसके सिवाय के समय में भी तिर्यंचगति के योग्य आयुष्य के सिवाय के अन्य अशुभ कर्म अवश्य बाधेगा। इसीलिए वेदना होने पर भी आर्तध्यान से बचने जैसा है। अन्यथा यहां भी पीड़ा है और आर्त-ध्यान से बन्धे हुए अशुभ कर्मों के कारण बाद मे भी पीड़ा होगी।

मज्झत्थस्स उ मुणिणो सकम्मपरिणाम जणियमेयंति ।
वत्थुस्सभावचिंतणपरस्स संमं सहंतस्स ॥११॥
कुणओ व पसत्थालंबणस्स पडियारमऽप्पसावज्जं ।
तवसंजमपडियारं च सेवओ धम्ममणियाणं ॥१२॥

अर्थ:—किन्तु (१) 'यह पीडा मेरे कर्म विपाक से खड़ी हुई है' ऐसे वस्तु स्वभाव के चिंतन मे तत्पर तथा सम्यक् सहन करते हुए मध्यस्थ (राग द्वेष रहित) मुनि को, (२) अथवा (रत्नत्रयी की साधना का) प्रशस्त आलंबन रखकर निरवद्य या अल्प सावद्य (सपाप) उपाय करने वाले मुनि को तथा (३) निराशंस भाव से तप और संयम को ही प्रतीकार के रूप मे सेवन करते हुए मुनि को धर्म ध्यान ही है, आर्त्त ध्यान नही ।

मुनि को वेदना में आर्तध्यान क्यों नहीं ?:—

प्रश्न – यो तो साधु को भी शूल, रोग आदि वेदना आती है और उसे सभी सहन नही कर लेते, पर उसके निवारण के लिए दवा चिकित्सा आदि करवाते है; तो क्या उन्हे भी वेदना-वियोग का आर्तध्यान लगता है ? तथा दूसरे जब वे तप और संयम का पालन करते है उसमे सांसारिक दु ख के वियोग का जब ध्यान रहता है, जैसे 'इस तप संयम से अब संसार के दु.ख नही आवेंगे' ऐसा होता है; तो इससे क्या उन्हे आर्तध्यान हुआ ?

उत्तर—साधु होने पर भी रागादि के वश हो, तो उन्हे जरूर आर्तध्यान होता है, पर ऐसे नही, उन्हें नही । इसीलिए ग्रन्थकार महर्षि कहते है 'मज्झत्थस्स....':—

विवेचन :

(१) सम्यक् सहन करने वाले, (२) सहन न करके भी पुष्ट

आलंबन में प्रतीकार करते हुए तथा (३) तप संयम का आचरण करते हुए मुनि को धर्म ध्यान ही होना है। यह बताया जाता है।

मुनि कौन ?—(१) 'मन्यते जगत्त्रिकालावस्थामिति मुनि.'। मुनि अर्थात् जगत की तीनों काल की अवस्था का विचार करने वाला अर्थात् साधु। 'जगत' यानि जीवन मे अनुभव में आने वाले जगत के जड चेतन पदार्थ तथा प्रसग। उनमें राग द्वेष या हर्ष शोक न हो, उसके लिए उसकी भूत, वर्तमान तथा भविष्य की स्थिति का मनन करे वही मुनि।

भूतकाल की अवस्था का मनन इस तरह करते है कि वर्तमान-में यह पदार्थ या प्रसग जिस स्वरूप में दिखता है वह आकस्मिक है या मेरी इच्छा से खड़ा नहीं हुआ। किन्तु उसके पीछे निश्चित कारण काम कर रहे हैं। उदा० किसी अनिष्ट वस्तु का आना। वह उसके कारण से बनी है। सम्भव है कि वह अच्छे पुद्गलो में से बनी हो जैसे पेड़े में से विष्टा। वैसे ही यह मेरे कर्म, काल, भवितव्यतादि के कारण यहा उपस्थित हुई है। तो मैं क्यो दुर्ध्यान करूं ? कोई जीव मेरा कुछ खराब करता दिखता हो, तो वह अपने पूर्वोपार्जित मोहनीय कर्म के उदय से तथा अपने ही स्वाधीन असत् पुरुषार्थ से वैसा करता है। उसमें मेरे कर्म भी जिम्मेदार हैं। तो मैं नाहक दुर्ध्यान क्यों करूं ? यदि बीमारी आती है, आई तो वह मेरे पूर्वोपार्जित असाता वेदनीय कर्म के कारण आती हैं, आई है। इसमें मैं क्यो दुर्ध्यान करूं ? यह भूतकाल की अवस्था का विचार हुआ।

अब वर्तमान का विचार—उदा० (१) यह इष्ट या अनिष्ट वस्तु या व्यक्ति मेरे शुद्ध अनन्त ज्ञानादि असंख्य प्रदेशमय मौलिक आत्मस्वरूप में लेश भी कमीवेशी नहीं कर सकता, तो मुझे क्या चिंता ? या हर्ष क्यो ? उलटे राग या द्वेष, खेद या हर्ष

करने में एक ओर मेरा बाह्य आत्मस्वरूप अधिक विकृत होता है और दूसरी ओर मेरी साधना और मेरे धर्म स्थान को हानि होती है। तो ये द्वेषादि क्यो किये जाय ? तथा (३) वर्तमान समय में सम या विषम पदार्थ या प्रसंग प्राप्त हो तो उसमें कुछ नया नही है। संसार ऐसा ही है कि उसमें विना सोचा या इच्छा विना भी विचित्र घटना होती रहती है।' इत्यादि।

भविष्य अवस्था का मनन (१) वर्तमान अनिष्ट पर कषाय करने से भावी के लिए अशुभ कर्म वध, सक्रमणादि तथा कुसंस्कार खडे होते है। (२ फिर वस्तु या व्यक्ति मेरे कपाय करने पर भी न सुधरे, तथा वह अपने रास्ते ही काम करता रहे तो कषाय करना बेकार रहेगा। (३) सामने वाले व्यक्ति को मेरे कपाय करने से कषाय की उदीरणा होगी, जिससे बिचारे के अशुभ कर्म बंध बढेंगे। (४) मुझे भी भविष्य मे ये कर्म कुसंस्कार उदय मे आने से उस समय आत्मा की परिस्थिति विपम बनेगी तथा नये पाप उत्पन्न करेगी। इत्यादि।

१. सम्यक् सहन करने वाले को आर्त ध्यान नहीं

इस तरह अनेक रूप से तत्त्व को पकड़ कर जगत की त्रिकाल अवस्था का मनन करे वह मुनि कहलाता है। वेदना या बीमारी आने पर वह सोचे; 'इसका न आना मेरी इच्छा या मेरे हाथ की बात नही है; परन्तु मेरे अपने पूर्वोपार्जित कर्म के उदय का परिणाम ही यह वेदना है। कारण हो तो कार्य होता है। कर्म थे तो रोग आता ही' इस तरह बीमारी तथा कर्म वस्तु के स्वभाव पर मन लगावे। इसी से वह मध्यस्थ रह सकता है, रहता है। न शरीर के राग में खिचाता है न बीमारी के प्रति द्वेष मे। इससे उसे वेदना का चित्त-सताप नही होता, आर्त ध्यान नही होता। वह तो पूर्व महर्षि का यह वचन बराबर नजर समक्ष रखे कि—

कर्म रोकने सम्बन्धी महर्षि वचन

'पुव्वि खलुभो ! कडाण कम्माणं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिकन्ताण वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेदयिता, तवसा वा झोसइत्ता ।'

अर्थ.—हे महानुभाव ! पूर्व मे दुष्टमन से किये कर्मो का (आलोचना व प्रायश्चित द्वारा) प्रतिक्रमण नही किया हो तो उन कर्मों को सचमुच मे भोगने मे ही उनसे छुटकारा होगा, भोगे बिना या तप से क्षीण किये बिना नही ।' -

जीवन जीने में ४ प्रकार की सावधानी

मुनि इस सूत्र के अनुसार इस जन्म के बारे मे दो तथा जन्मातर के बारे मे दो, इस तरह कुल ४ प्रकार से सावधानी रखता है ।

१. मन वचन काया की असत् प्रवृत्ति मे बचना, जिससे अशुभ कर्म बंध, संक्रमणादि और कुसस्करण स बच जाय ।

२. असत्प्रवृत्ति के हो जाने पर पश्चात्ताप, आलोचना या प्रायश्चित द्वारा प्रतिक्रमण करना अर्थात् पाप से पीछे हटना ।

३. पूर्व जन्म के अशुभ कर्मों के उदय से आने वाली पीडा को समभाव से प्रसन्नता से भोगना, तथा

४. पूर्व बद्ध कर्म के क्षय के लिये बाह्य आभ्यंतर तप मे रत्त रहना ।

पीड़ा के समय शुभ विचार

ये सावधानी रखने से आर्तध्यान होने का अवकाश ही कहां रहा ? सहन करने का हो तब (१) शुद्ध आत्म वस्तु (२) कर्म वस्तु व (३) बाह्य निमित्त अर्थात् वस्तु के सच्चे स्वरूप पर बराबर दृष्टि रहे, तो फिर पीड़ा या वेदना में असमाधि या अस्वस्थ चित होने का कोई कारण नही रहता । वह समझता है कि—

'काहं अछित्तिं अदुवा अहोहं, तवोवहाणेसु य उज्जमिस्सं ।
गणं च नीतिं अणुसार वेस्सं, सालंबसेवी समुवेइ मोक्खं ॥'

अर्थ – 'मैं (परम्परा से प्राप्त श्रुत तथा आगम की) परम्परा को सम्हाल कर रखूंगा अथवा मैं पढूंगा या तप और योगोद्वहन मे उद्यम कर सकूंगा अथवा मुनिगणों को शास्त्र नीति अनुसार सम्हाल सकूंगा ।'– ऐसा उद्देश्य रखकर दवादि उपचार करे अर्थात् सालंब सेवी बने । वह (बाद मे इस उद्देश्य की ही प्रवृत्ति रखने से) मोक्ष प्राप्त करता है ।' इससे पता चलता है दवादि उपचार के सेवन मे उद्देश्य ऐसा प्रशस्त व पवित्र हो तो ही आर्त्त ध्यान नही होता ।

(१) पीड़ा से आत्मा के शुद्ध स्वरूप का कुछ नही बिगडता । वैसे ही पूर्व का दुष्कृतकारी अपराधी आत्मा दड भुगत ले यही योग्य है । इसमे नाराजगी क्या ?

(२) मैं पसन्द करू या न करू, कर्म अपना फल दे कर ही रवाना होगे । तथा वे पीड़ा दे कर जाते है तो यह तो कचरा साफ हुआ । फिर इसमे खेद या नाराजी किस बात की ? जितनी पीड़ा उतनी ही कर्म की सफाई ।

(३) बाह्य निमित्त तो मात्र कुल्हाडी के हाथे की तरह है । कुल्हाड़ी मे काटने वाला तो उसका आगे का हिस्सा या लोहा है, हाथ नही । इसी तरह पीडा देने वाले तो असल मे कर्म ही हैं, निमित्त नही ।

इस प्रकार की समझ या बुद्धि से आर्त्तध्यान न हो कर धर्म ध्यान होता है । यह सम्यक् सहन करने वाले की बात हुई ।

२. मुनि का दवा करने में विशिष्ट उद्देश्य

मुनि वेदना आदि मिटाने के लिए यदि औषध आदि उपचार

करना है तो वह दुःख से त्रस्त होकर नही, पर ज्ञानादि के प्रशस्त आलंबन से करता है। 'आलंबन' अर्थात् प्रवृत्ति का निमित्त; दवा, औषध आदि के सेवन की प्रवृत्ति का उद्देश्य। यहा उद्देश्य है केवल पवित्र ज्ञानादि के संरक्षण तथा संवर्धन करने का। इससे उसे कर्म बंध नही है। कहा है कि—

प्रशस्त आलंबन कैसे रखे ?

मुनि देखता है कि रोगादि की वेदना के समय अपने कमजोर शरीर-संघयण (रचना की शक्ति १०) और कमजोर मन के कारण अपने ज्ञानादि आराधना के कर्तव्य का बराबर पालन नही कर सकता, उसमे त्रुटि होगी, विराधना होगी आदि। यह न होने देने के लिए ही 'अच्छा, औषध का सेवन कर लूं।' यह सोचकर औषधादि का सेवन करे। तो वह उद्देश्य प्रशस्त है, पवित्र है। मन का लक्ष्य इस प्रशस्त कर्तव्य के पालन मे है। अत: मन आर्त्त ध्यान में नही है।

ये प्रशस्त आलंबन कौन से ?

१. 'पूर्व पुरुषों ने भगवान के श्रुत यानी आगम को दूसरो को पढाकर आगम परम्परा को अविच्छिन्न रखा। यह उत्तराधिकार आज मुझ तक पहुँचाया है, वह मैं रोगादि की पीडा के कारण दूसरे को नही दे सकता। अत: मैं औषधोपचार करके यदि शरीर मे स्वस्थ बनूं तो उसे दूसरे को दे सकूंगा। इस तरह श्रुत का उत्तराधिकार मेरे बाद भी आगे चालू रहेगा। अन्यथा मेरी बीमारी मे मेरे पास के इस उत्तराधिकार का विच्छेद हो जावेगा। अत. औषधोपचार कर लूं।' यह श्रुत टिकाने का आलंबन है, उद्देश्य है।

(२) 'मेरे से वेदना मे श्रुताभ्यास, अध्ययन या परावर्तन नही हो सकता, अत: औषधादि सेवन करके उसमे लग जाऊं।' यह श्रुतस्वाध्याय का दूसरा उद्देश्य हुआ।

(३) 'रोगादि की पीड़ा मे मुझ से विशिष्ट तपस्या या आगम अध्ययन के लिए जरुरी योगोद्वहन की क्रिया नही हो सकती। तो औषधादि का सहारा लेकर यह उद्यम करुं।' ऐसा योगोद्वहन का उद्देश्य हो।

(४) 'मेरे सिर पर मुनिगण को शास्त्रानुसार सारणा, वारणा आदि करके इसके द्वारा उन्हे बराबर सम्हालने की जिम्मेदारी है, पर इस वेदना मे वह अदा नही हो सकती। तो औषधादि का अपवाद सेवन करके गण रक्षा अच्छी तरह कर लूं।' ऐसा गणरक्षा का उद्देश्य हो।

(५) उपरोक्त आलंबनो की गाथा मे 'च' पद से अन्य उद्देश्य भी लिये जा सकते है। जैसे 'वेदना मे मै उपबृंहणा, स्थिरीकरण, साधर्मिक वात्सल्य आदि दर्शन के आचार तथा जिनदर्शनादि अनुष्ठान नही कर सकता।' 'गुरु आने पर खड़ा होना' आदि अभ्युत्थानादि विनय रूप ज्ञानाचार का पालन नही कर सकता। समिति, गुप्ति, भिक्षाटन, निर्दोष गोचरी, इच्छाकारादि साधु समाचारी आदि का अच्छी तरह पालन नही कर सकता। अतः औषधादि लेकर उसे अच्छी तरह करुं।' इस तरह दर्शनादि के आचार पालन के उद्देश्य से दवा करे।

इसमे से किसी भी उद्देश्य से औषधादि का सेवन करे, उसे 'सालंबसेवी' कहते है। वह करके उन उद्देश्यो का पालन करने मे ही वह लग जावेगा। अतः क्रमशः वह आगे बढता हुआ अन्त मे मोक्ष प्राप्त कर लेता है। सवाल मात्र यह है कि—

कैसे औषधों वगैरह का सेवन करें ?

सेवन करने की औषधिया ऐसी हो जो निरवद्य या अल्पसावद्य हों। अवद्य अर्थात् पाप। खास तौर से जिसमे साक्षात् या परम्परा

मे हिंसा का करना, कराना या अनुमोदन करना हो वह अवद्य। ऐसे पापो से रहित निरवद्य उपचार का मुनि सेवन करे। अथवा जिसमे बहुत अल्प पाप हो, वैसे (अल्प) सावद्य उपचार का सेवन करे। उदा० दवा या पथ्य के लिए ही गाव मे तीन वार घूमकर आने पर भी स्वाभाविक रूप से गृहस्थ ने अपने लिए तैयार किया हुआ औषध या पथ्य नही मिला, तो अति अल्प दोष वाला (तैयार करवाया हुआ) लेना पडे।

उपरोक्त प्रकार का सालंबसेवी अल्पसावद्य का सेवन करे तो भी वह निर्दोष है। क्योकि उसकी निर्दोषता के बारे मे यह शास्त्र वचन मिलता है कि 'गीयत्थो जयणाए कडजोगी कारणंमि निद्दोसो।' अर्थात् गीतार्थ याने शास्त्रज्ञ पुरुष रत्नत्रयी के पालन के लिए कारण उपस्थित होने पर यतनापूर्वक त्रिपर्यटनादि शास्त्र विधि का ध्यान रखकर दोष वाला पदार्थ सेवन करे तो भी वह निर्दोष है।

प्रश्न– जैन शास्त्र ऐसे दोष वाला सेवन करने का क्यो कहता है?

उत्तर— जिनागम उत्सर्ग तथा अपवाद दोनों सहित मार्ग बताता है। 'उत्सर्ग' याने मुख्य विधि या निषेध। 'अपवाद' याने दिखावे मे उसके विरुद्ध परन्तु अन्तिम परिणाम के रूप में उसके अनुकूल होने वाला आचरण। प्रसग आने पर यह जरूरी होता है। अन्यथा अकेले उत्सर्ग का आग्रह रखने पर, किसी ऐसी परिस्थिति मे वह सम्भव न हो तो उससे परलोकहित का साधन असम्भव बन जायगा। उदा० एकदम तीव्र बीमारी आ गई। निर्दोष दवा तथा पथ्य नही मिलते। अब यदि सदोष दवा पथ्य का सेवन करता है तो उसमे उत्सर्ग मार्ग जिसमे आरम्भ समारम्भ का न करवाना या अननुमोदन होता है, उससे विरुद्ध वर्ताव करना पडता है; अत: यदि वह वैसा नही ले, तो बीमारी के कारण अन्य साधनाएं कम या नष्ट

होती है, जिससे परिणामस्वरूप चारित्र के उत्सर्ग मार्ग का पालन न होकर उलटा परलोक बिगडता है। अत. ऐसे अवसर पर सदोष उपचार का सेवन भी कर ले वह अपवाद मार्ग हुआ। उसमे उद्देश्य शुद्ध होने से वह आर्त ध्यान नही है, पर धर्म ध्यान है। यह वेदना या पीडा मे उसके प्रतीकार की बात हुई।

(३) तप संयम से ससार के दुःखवियोग के चिंतन में आर्त्त ध्यान क्यों नहीं ?

प्रश्न अनिष्ट ससारदु.ख के वियोग का ध्यान आर्त्त ध्यान क्यो नही है ?

उत्तर-- अनिष्ट संसारदु.ख के वियोग के ध्यान मे आर्त्त ध्यान इसलिए नही है कि इसमे तो वह दैवी सुखो को भी दु.खरूप समझ कर उसके भी वियोग की इच्छा रखता है, परन्तु नरक या तिर्यंच के दु ख मिट कर मनुष्य तथा देव के सुख प्राप्ति की इच्छा नही है। उधर अनिष्ट वियोग के आर्त्त ध्यान वाले को तो इष्ट विषय सुखो का योग चाहिये। उदा० 'यह गरीबी या यह अपमान कैसे जाय ?' इस चिंतन मे पैसे तथा सम्मान की इच्छा है। तप सयम का सेवन करने वाले मुनि तो संसार के सब सुख दु.खो के वियोग की इच्छा करके उसके प्रतीकार स्वरूप तप सयम का सेवन करते है।

प्रश्न— तप और संयम सासारिक दुःख के प्रतिकार किस तरह हैं ?

उत्तर— तप और संयम दो तरह से सांसारिक दुःख हटाते हैं। एक वर्तमान मे तथा दूसरे भविष्य में। (१) वर्तमान दुःख ये हैं—बार बार भूख लगना, इष्ट रस की इच्छा का उठना, अनुकूल प्राप्ति की झंखना (सतत इच्छा) होना, प्रतिकूल का भय लगते रहना, इन्द्रियो के विषय विकारो का जागना, द्वेष, ईर्ष्या आदि मन के

दोषों का जाग्रत होना आदि। तप संयम का अभ्यास होने से ये सब शान्त हो जाते है। (२) तप संयम से दुःखदायी असाता, अन्तराय, मोहनीय आदि कर्मों का नाश होता है, यावत् सर्व कर्मों का क्षय होना है। अतः भविष्य मे इससे आने वाले दुःख अटकते है, रुकते हैं।

'नियाणा रहित' क्यों कहा ?

परंतु यदि 'तप संयम से मुझे इन्द्रादि की ऋद्धि मिले', आदि नियाणा करे तो उसमे वर्तमान मे लोभकषाय का दोष उठा, वह भी दुःख ही खड़ा हुआ तथा भविष्य मे भी वह समृद्धि प्राप्त होने पर उसमे बुद्धि के बिगड़ने से नरकादि के दुःख उत्पन्न करने वाले कर्मों का बंध होगा। इन वर्तमान तथा भावी दोनों दुःखद स्थितियों की ओर से आंखें मूंद लेना मात्र अज्ञान है, मोह है। इससे वहा आर्त ध्यान आकर खड़ा हो जाता है। पुनः रागरक्त बनकर इष्ट समृद्धि का नियाणा किया, वह तो स्पष्ट चौथे प्रकार का आर्त्त ध्यान ही है। इसीलिए कहा कि तप संयम नियाणा रहित हो तो ही धर्म ध्यान रूप है। (अन्यथा नही।)

प्रश्न--यह ठीक है। परन्तु 'तप संयम से मुझे सब कर्मों का क्षय होकर मोक्ष प्राप्त हो' यह आशंसा भी एक प्रकार का नियाणा ही है न ? तो वह हो तो 'नियाणा रहित' कहा आया ?

उत्तर-- बात सच है। निश्चयनय मे वह भी नियाणा ही है, अतः परमार्थ से वैसी आशंसा रखने का भी निषेध है। इसीलिए यह शास्त्र वचन मिलता है कि:-

> मोक्षे भवे च सर्वत्र निस्पृहो मुनिसत्तमः।
> प्रकृत्याभ्यासयोगेन यत उक्तो जिनागमे ॥

अर्थ--जिनागम मे कहा है कि स्वस्वभाव के अभ्यास के

कारण उत्तम मुनि मोक्ष तथा संसार दोनो की ओर निःस्पृहता वाला होता है। मुनि 'अहिंसादि महाव्रत, समिति, गुप्ति और क्षमादि यतिधर्म तो मेरा आत्मस्वभाव ही है' ऐसा संपूर्णतः लक्ष्य मे रखकर उसका स्वाभाविक वृत्ति रूप सतत और एकसा सेवन करता रहता है। तो दृष्टि उस पर ही होने से तथा भावना याने सतत अभ्यास से आत्मा उससे भावित हो चुका होने से आत्मा मे उसी की रमणता रहती है। अतः उस स्थिति मे उस महामुनि को कोई भी स्पृहा नही रहती। यावत् ससार की भी नही और मोक्ष की भी नही। पर यह तो निश्चयनय की बात हुई।

मोक्ष की इच्छा से चित्त शुद्धि-मार्ग प्रवृत्तिः

परन्तु व्यवहार नय से बात बिलकुल जुदी है। ऐसे आत्माओ के लिए जिन्हे अभी तक ऐसी भावना नही हुई अर्थात् सतत अभ्यास से होने वाली अहिंसा क्षमा आदि तथा समिति गुप्ति की आत्म-सातसा या भावितता प्राप्त नही हुई, वे मोक्ष की कांक्षा रखें, इसमें उन्हे 'निदान' का दोष नही है। क्योंकि उनका उसी तरह से (१) चित्त शुद्ध बनता जाता है तथा (२) मोक्षोपयोगी क्रिया में जोरदार प्रवृत्ति होती है। कर्मक्षय-मोक्ष की ही उत्कट इच्छा रहने से ही अन्य सासारिक भौतिक इच्छाएं कि जो चित्त को बिगाड़ने वाली है, वे मरने लगती है और इससे चित्त शुद्ध बनता जाता है यह स्वाभाविक है। मोक्षेच्छा मोक्षोपयोगी क्रिया मे जोरदार प्रवृत्ति होती रहने से मन उसमें तन्मय बनता जाता है अतः अहिंसा, क्षमा आदि से भावित होता जाता है। इसके फलस्वरूप उत्कृष्ट चित्तशुद्धि और पूर्ण अहिंसादि भावितता खडी होने से पूर्वोक्त सर्वथा निस्पृह भाव प्रकट होता है, जिसमे मोक्ष की भी स्पृहा (इच्छा) नही रहती।

प्रश्न— तब भी मोक्ष की इच्छा क्यो जरूरी है?

उत्तर— यहां यह समझने लायक है कि प्रारम्भिक जीव को अभी बिल्कुल निस्पृह भाव की दशा प्राप्त नही हुई अत इच्छाएं तो रहेगी। इसमे यदि मोक्ष की अर्थात् सर्व संगरहितता की इच्छा नही हो, तो भौतिक सुख के संग की इच्छा रहा करेगी। इससे वह कभी भी ऊंचा नही उठ सकता। वह तो मोक्ष की इच्छा रखे तभी उसके मन मे यह भाव उठेगा कि मोक्ष मुझे इसलिए चाहिए कि संसार में जो जन्म मरणादि की बार-बार की पीडा तथा जीव को इसमे कर्म की तरफ से होने वाली दुर्दशा है वह मोक्ष मे नही है। परन्तु यह संसार जगत के जड चेतन का संग होगा वहा तक नही छूट सकता और मोक्ष नही मिल सकता। अत. मुझे ये समस्त संयोग व संग नही चाहिये। इस तरह मोक्ष की इच्छा के पीछे सर्व संग रहितता की इच्छा खडी होती है। इससे सभी भौतिक सुखो के संग से बचने की इच्छा हो जाती है। यह इच्छा जितनी बलवान होगी, उतना ही अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह आदि का पालन जोरदार बनेगा, जिसके उत्कृष्ट होने से आत्मा मे उसके 'स्वाभाविक' हो जाने से बाद में मनको यह इच्छा नही रहती कि मैं यह साधना करूं जिससे मुझे मोक्ष मिले। फिर वह साधना स्वाभाविक हो जाती है जिससे वहां मोक्ष की इच्छा भी नही रहती।

दूसरे 'न प्रयोजनं विना मन्दोपि प्रवर्तते' न्याय के अनुसार अज्ञान मनुष्य भी प्रयोजन बिना, किसी उद्देश्य की इच्छा के बिना कोई प्रवृत्ति नही करता; तो सज्ञान अभ्यासी आराधक मोक्ष के प्रयोजन से, मोक्ष की इच्छा से ही प्रवृत्ति करे यह स्वाभाविक है। यह भी एक हकीकत है कि प्रवृत्ति मे चिकीर्षा याने करने की इच्छा कारणभूत होती है। अत मोक्षार्थ प्रवृत्ति मे मोक्ष की इच्छा जरूरी है।

पुनः मोक्ष की इच्छा का अर्थ असंग या नि.संगता की इच्छा

होने से वह चित्त मे से सग को—सासारिक संग को—दूर करता रहता है। इससे चित्त निर्मल बनता जाता है। भौतिक सुख के संग के कारण ही चित्त रागादि से मलिन रहता है। नि.संगता की बलवान इच्छा से स्वत: ही ये रागादि मल दूर होते जाते हैं। सारांश मोक्ष की तीव्र इच्छा से ही चित्त शुद्धि और मार्ग प्रवृत्ति प्रवल होती जाती है। अत वैसी इच्छा वह पापरूप नियाणा या निदान नही है।

इस ११वी और १२वी गाथा मे मुनि को आर्त्त ध्यान क्यो नही होता, कैसे नही होता, दवा उपचार करे तब भी उन्हे आर्त्त ध्यान का तीसरा प्रकार क्यो नही गिना जाता, इसका विचार हुआ।

यहा टीकाकार महर्षि कहते है, 'दूसरे इन दो गाथाओ की व्याख्या मुनि को चारो प्रकार के आर्त्त ध्यान का निषेध करने के लिए करते है।' अर्थात् उनके अभिप्राय से इन दो गाथाओ मे यह बताया गया है कि मुनि को चारो प्रकार का आर्त्त ध्यान क्यों नही होता। पर यह व्याख्या, यह अभिप्राय अत्यन्त सुन्दर नही है। क्यो कि मुनि को आर्त्त ध्यान का पहला प्रकार 'इष्ट संयोग अवियोग आर्त्त ध्यान' तथा तीसरा प्रकार 'अनिष्ट वियोग असंयोग का आर्त्त ध्यान' होने का अवकाश ही नही है। इससे यह शंका होती है कि तो फिर 'मुनि को कैसे इष्ट संयोग, अनिष्ट वियोग की प्रवृत्ति करने पर भी आर्त्त ध्यान क्यो नही ?' इस शका के निवारण के लिए हेतुदर्शक ये दो गाथाएं कहनी पडती है। मुनि को असल मे ही सांसारिक इष्ट अनिष्ट कुछ रहा ही नही, तो उसके आर्त्त ध्यान की शका ही किस बात पर होती है कि जिसके समाधान के लिए इस गाथा से हेतु बताना पड़े। अत: शका बराबर संगत न होने से इन गाथाओं को उनके निवारण के लिए नही लगाया जा सकता।

हां, दूसरे प्रकार की वेदना के आर्त्तध्यान की शंका उठने का

रागो दोसो मोहो य जेण संसार हेयवो भणिया।
अट्टंमि य ते तिण्णि वि, तो तं संसार तरुबीयं ॥१३॥

अर्थ.— राग द्वेष तथा मोह को संसार का कारण कहा है और आर्त्तध्यान मे ये तीनो है, इसलिए (उस कारण से) आर्त्तध्यान ससार वृक्ष का बीज है।

अवकाश जरूर है। क्योंकि मुनि को रोग होता है और उस रोग को मिटाने के लिए औषधोपचार भी किया जाता है। तो वहा शंका स्वाभाविक रूप से ही होती है कि मुनि को तब दूसरे प्रकार का वेदना संबधी आर्त्तध्यान क्यो नही ? अतः इस 'शका के निवारण के लिए अर्थात् मुनि को रोग मे वेदना सम्बंधी दूसरे प्रकार का आर्त्त-ध्यान क्यो नही होता, यह बताने के लिए ये दो गाथाएं कही है' यह व्याख्या सुसंगत है।

अब प्रश्न यह है कि आपने आर्त्तध्यान से संसार बढ़ने का कहा तो वह किस तरह से ? उसकी स्पष्टता यह है कि आर्त्तध्यान संसार का बीज होने से उसमे से स्वत. संसार उत्पन्न होता है, संसार बढता है। अब आर्त्तध्यान संसार का बीज है, इस बात को स्पष्ट तथा दृढ करने के लिए कहते हैं.—

आर्त्तध्यान संसार-वृक्ष का बीजः—

विवेचन :

भगवान श्री तीर्थंकर देव कहते है:-रागद्वेष तथा मोह ये संसार के कारण है और आर्त्तध्यान मे ये तीनों ही काम करते हैं; अतः प्रविष्ट (अन्दर समाये हुए) है, तो फिर आर्त्तध्यान भी संसार का कारण क्यो नही ?

प्रश्न— संसार के कारण तो मिथ्यात्वादि पांच है, रागादि किस तरह ?

उत्तर— मिथ्यात्वादि भी रागादि की नीव पर ही निभते हैं, अतः असल मे रागादि ही कारण कहे जाते है। रागादि नीव इस तरह है:— (१) अनतानुवंधी कषाय याने रागद्वेष हो, वहा तक मिथ्यात्व नही हटता। यदि मिथ्यात्व हट भी गया हो, और रागादि का उदय हो जाय तो मिथ्यात्व पुन. जाग्रत हो जाता है। तव (२) अविरति भी, अप्रत्याख्यानीय कक्षा के कषाय याने रागद्वेष उदय मे हो, वहा तक खडी रहती है। इससे यहां भी मूल मे राग द्वेष ही हुए। (३) कषाय तो राग द्वेष रूप ही है। अथवा यो कहा जा सकता है कि क्रोध मानादि कषाय भी कही तो राग या कही द्वेष के कारण प्रकट होते है। (४) योग याने मन वचन काया की अशुभ प्रवृत्ति भी मूल मे राग द्वेष होने पर ही निभती है। असत् विचार, पापवाणी या अशुभ वर्ताव भी किसी न किसी पर राग या द्वेष के कारण ही उत्पन्न होता है। (५) प्रमाद मे भी राग द्वेष काम करते होते है, यह समझ मे आ सकने जैसा है। ऐसे जिस तरह मिथ्यात्वादि पाचो ससार हेतु है वैसे ही उसके नीव रूप राग द्वेष तो जरूर ही संसारहेतु कहलाते है।

प्रश्न— तो फिर संसारहेतु राग द्वेप को ही कहो, उसमे होते समाविष्ट होने वाले मिथ्यात्वादि को क्यो कहते हो ?

उत्तर— राग द्वेष पर मिथ्यात्व आदि भिन्न भिन्न असद् भाव है, यह वताने के लिए ही उसे अलग अलग कहा।

प्रश्न— ठीक है, तो मोह को अलग क्यो वताया ?

उत्तर— मोह यह मिथ्या ज्ञान रूप, भ्रम रूप है अथवा अज्ञान विस्मरण या संशय रूप है। कही राग का जोर न हो तव भी

मिथ्याज्ञान हो तो भी असत् प्रवृत्ति होती है। उदा० भर्तृहरि जैसे को संसार का राग तो मंद पड़ गया, पर सर्वज्ञ शासन मिला हुआ नहीं होने से सूक्ष्म अहिंसामय पांच महाव्रत आदि का चारित्र हाथ नहीं लगने से सूक्ष्म जीवो की हिंसामय प्रवृत्ति चालू थी। यह मोह-अज्ञान था। सर्वज्ञोक्त यथार्थ तत्त्व जानने समझने को नहीं मिले, इससे मिथ्यातत्त्व की मान्यतारूप मोह रूप मे फसे रहे। पर मुनियों को वैसा राग द्वेष या मोह न होने पर भी शास्त्र बोध इतना विस्तृत न हो या विस्मरण हो जाय अथवा सदेह उत्पन्न हो, तो इससे भी भूल वगैरह के कारण से असत् प्रवृत्ति आना सभव है, यह भी एक प्रकार का मोह हुआ।

सारांश यह कि रागद्वेष और मोह ये संसार के कारण हैं। आर्त ध्यान के मूल मे ये काम करते है और आर्तध्यान के साथ रहकर उसे मदद करते रहते है। इससे यदि रागादि संसार के कारण है, तो उनसे समर्थित आर्त ध्यान ससार-वृक्ष का बीज हो, इसमे आश्चर्य क्या ? आर्त्त ध्यान बीज का काम करता है, उस पर संसार वृक्ष बढता है, विस्तृत होता है।

प्रश्न— ठीक है, परन्तु यदि वह सामान्यत: संसार वृक्ष का बीज हो तो उसे तिर्यग्गति का मूल-कारण क्यो कहा जाता है ?

उत्तर— असल मे आर्त्त ध्यान मोक्षगति का कारण न होकर तिर्यंचगति का कारण होने से ही ससार का कारण है, संसार वृक्ष का बीज है। तिर्यंचगति ससार ही है। दूसरे इसकी व्याख्या इस तरह करते हैं कि तिर्यंचगति मे बहुत ज्यादा जीव हैं। संसारी जीवो का अधिकांश हिस्सा अर्थात् अनन्तानन्त जीव तिर्यंचगति के एकेन्द्रिय साधारण वनस्पतिकाय में हैं। उसकी स्वकाय स्थिति भी बहुत लम्बी है। अर्थात् इन जीवो का ऐसी ही एकेन्द्रिय काया मे सतत् जन्म मरण करने का उत्कृष्ट काल बहुत लम्बा है, अनन्त उत्सर्पिणी

कावोय नील काल लेस्साओ नाइसंकिलिट्ठाओ ।
अट्टज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणियाओ ।।१४।।

अर्थ. - आर्त्त ध्यान करने वाले को अति सक्लिष्ट नही वैसी कापोत, नील या कृष्ण लेश्याएं होती हैं । ये लेश्याएं कर्म परिणाम से उत्पन्न होती है ।

अवसर्पिणी है । अत. यहा सिर्फ तिर्यंचगति में 'संसार' शब्द का उपचार किया । वैसे तो ससार चार गति का है; पर यहां उपचार से कहा कि आर्त्त ध्यान तिर्यंचगति का कारण है इसीलिए संसार का कारण है ।

आर्त्त ध्यान में लेश्या

अब आर्त्त ध्यान करने वाले की लेश्या कौन-सी है सो कहते हैं–

विवेचन :

लेश्या मन वचन काया के योगो के समय वैसे वैसे कृष्ण नील आदि द्रव्य के सहारे होने वाले आत्मपरिणाम है । सराग जीव को वह प्रशस्त अप्रशस्त कषाय मे बल देती है । धन्ना शालिभद्र मुनि को तप संयम के राग में उच्च तेजो, पद्म, शुक्ल लेश्या का बल रहता था, जिससे उच्च भावोल्लास का वे अनुभव करते थे ।

यह लेश्या दो प्रकार की है १. द्रव्य लेश्या व २. भाव लेश्या । जीव की लेश्या कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म, शुक्ल, वर्ण स्वरूप है । शास्त्र उसे कर्मान्तर्गत द्रव्यस्वरूप या स्वतन्त्र पुद्गल स्वरूप कहते है । जीव उसे ग्रहण करता है अत: कृष्णादि द्रव्य के सहयोग से आत्मा मे उस प्रकार का एक परिणाम खडा होता है, उसे भाव लेश्या कहते हैं । कहा है कि.—

कृष्णादि द्रव्य साचिव्यात् परिणामो य आत्मनः ।
स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्या शब्द प्रयुज्यते ॥

अर्थात् कृष्णादि द्रव्यो के सहयोग मे स्फटिक की तरह आत्मा का जो परिणाम होता है उसमे लेश्या शब्द का प्रयोग होता है। स्फटिक उज्जवल होता है, परन्तु उसके पीछे काला, नीला आदि जैसे वर्ण का कागज कपडा रखा जाय, वैसे रंग मे रगा हुआ वह स्फटिक दिखता है। वैसे ही यहा कृष्णादि द्रव्य के सम्बन्ध से आत्मा वैसे परिणाम वाला याने तीव्र मन्द शुभाशुभ अध्यवसाय वाला होता है। इस परिणाम को 'लेश्या' कहते है। श्रेणिक राजा अन्तिम समय आराधना मग्न होने से शुभ अध्यवसाय वाले थे, परन्तु अन्त मे कृष्ण लेश्या मे चढ गये। अलबत्त, वे क्षायिक समकिती थे, इससे उन्हे अति उग्र अनन्तानुबन्धी कषाय नही थे, तब भी उनसे कुछ हल्के अप्रत्यख्यानीय कषाय को कृष्ण लेश्या का बल मिला। इससे उनके दिल के अध्यवसाय भयकर रूप मे बिगड़ गये और वे मर कर नरक मे गये।

लेश्या दो तरह की है—शुभ तथा अशुभ। उसमे अशुभ तीन प्रकार से—कृष्ण, नील तथा कापोत। शुभ भी तीन प्रकार की है—तेजो लेश्या, पद्म लेश्या तथा शुक्ल लेश्या। इसमे आर्त ध्यान रौद्र-ध्यान का सेवन करने वाले को अशुभ लेश्या होती है। परन्तु रौद्र ध्यानी को यह कृष्णादि लेश्या अतिशय सक्लेश वाली अर्थात् क्रूर भाव वाली होती है। तो आर्तध्यानी को वे लेश्या उतनी सक्लेश वाली नही पर उससे मन्द कृष्णादि तीनो लेश्या होती है।

ये लेश्या कौन करवाता है ?

वैसे वैसे कर्म का उदय वह लेश्या करवाते है। अलबत्ता मन वचन काया के योग सहयोगी कारण जरूर है. इसीलिए लेश्या

१३वें गुणस्थानक तक ही होती है। १४वें मे अयोगी अवस्था होने से वहा कोई लेश्या नही होती, वह अलेश्य अवस्था है। तब भी लेश्या मुख्यत: कर्मपरिणाम से उत्पन्न होती है, कर्म के आधीन है। फिर इसमे मन वचन काया के योग याने आत्मा का पुरुषार्थ जिस प्रमाण मे मिलता है, वैसी ही शुभ अशुभ मन्द या तीव्र लेश्या होती है।

शुभ योगों का महत्त्व:—इसीलिए जिन भक्ति आदि शुभ योगो मे रहने से शुभ लेश्या का लाभ मिलता है। परन्तु विषय, आरम्भ, परिग्रह आदि के पुरुषार्थ से लेश्या बिगड जाती है। लेश्या के जरा भी बिगडने पर आर्त्त ध्यान आता है और उसका फल पहले कहा जा चुका है। इसीलिए जैन शास्त्र मानव जीवन मे अनेक प्रकार के शुभयोगमय कर्तव्य बताते है। यदि कोई उनमे रक्त रहे, तो वह अशुभ लेश्या से बचता है, आर्त्त ध्यान से तथा संसार-वृद्धि से बचता है; पर इसका अर्थ यह नही है कि इन्द्रिय विषय सपर्क, परिग्रह आदि अशुभ योगो मे अशुभ लेश्या और आर्त्त ध्यान ही होगे। नही ऐसा नही है। यदि कोई उस समय भी अपनी विचारधारा अच्छी रखे, अच्छी वाणी बोले तो शुभ लेश्या भी आ सकती है। इसमे एक अन्य विशिष्टता यह भी है कि काययोग अशुभ होने पर भी मनोयोग तथा वचनयोग शुभ रहने से लेश्या शुभ बनती है, ध्यान भी शुभ आता है। त्याग वैराग्य के ऐसे उत्कट शुभ मनोयोग के पुरुषार्थ मे चढे हुए गुणसागर श्रेष्ठी पुत्र आठ कन्याओं के साथ पाणिग्रहण के अशुभ काययोग के समय भी शुक्ल भावनारूप मनोयोग, शुक्ल लेश्या, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान मे चढकर वीतराग सर्वज्ञ बन गये। तात्पर्य कि पहले तो काययोग ही शुभ रखना चाहिये और दूसरे वह न हो सके तो भी वचनयोग, मनोयोग याने वाणी विचार तो शुभ रखना जरूरी ही है।

तस्सक्कंदण सोयण परिदेवण ताडणाइं लिङ्गाइं ।
इट्ठानिट्ठ - विओगाविओग - वियणा-निमित्ताइं ॥१५॥
निन्दइ य नियकयाइं पससइ सविम्हओ विभूईओ ।
पत्थेइ तासु रज्जइ तयज्जण - परायणो होइ ॥१६॥
सद्दाइविसयगिद्धो मद्धम्म - परम्मुहो पमायपरो ।
जिणमयमणवेक्खंतो वट्टइ अट्टंमि झाणंमि ॥१७॥

अर्थ:—आर्त्त ध्यान के लिंग (चिह्न) है आक्रन्द, शोक, क्रोध, पीटना आदि। ये इष्टवियोग, अनिष्ट अवियोग तथा वेदना के कारण से होते हैं। (पुन:) अपने किये हुए कार्य की (अल्पफल आने से या निष्फल जाने मे) निन्दा करता है तथा दूसरे की सम्पत्ति की विस्मित हृदय से प्रशंसा करता है, अभिलाषा करता है, उसी मे रक्त बनता है और उसका उपार्जन करने मे लग जाता है। शब्दादि विषयो मे गृद्ध व मूर्छित बनता है, क्षमादि चारित्र धर्म से पराङ्-मुख बनता है और मद्यादि प्रमाद मे आसक्त होता है। आर्त्त ध्यान मे रहा हुआ जीव जिनागम से निरपेक्ष बनता है।

आर्त ध्यान के बाह्य चिन्ह

आर्त्त ध्यान दिल मे स्थित है, वह बाह्य कौन से चिह्नो से पहचाना जा सकता है, यह अब बताते है:—

विवेचन :

कभी कभी मनुष्य अपने आपको चतुर समझ कर यह मान लेता है कि मुझे आर्त्तध्यान नही होता; परन्तु दिल मे वह स्थित है, यह बाह्य लक्षण पर से साबित होता है। कारण कि ये लक्षण अन्तर से आर्त्तध्यान हुए बिना नही हो सकते। तो रात दिन ऐसे

एक या दूसरे लक्षण चलते हो तो उस पर से हम नाप सकते हैं कि जीव को रात दिन का कितना ज्यादा हिस्सा आर्त्तध्यान मे बीतता है।

आर्त्तध्यान के लक्षण

ये लक्षण इस प्रकार है —

किसी इष्ट वस्तु के चली जाने से, बिगड़ने से या नष्ट हो जाने के कारण अथवा किसी अनिष्ट के आने से उसके न जाने या न सुधरने के कारण या किसी वेदना के कारण जीव —

(१) आक्रन्द करता है, जोर से चिल्लाकर रोता है, या

(२) बिना चिल्लाये भी आसू भरी आखो से दीन हीन जैसा बन जाता है, अथवा

(३) वाणी से दिल का गुस्सा या रोप क्रोध प्रकट करे, कुछ बकवास करे, अरुचि सूचक शब्द बोले, या उससे आगे बढ कर

(४) सिर या छाती पीटे या बाल नोच डाले।

ये आन्तरिक रूप से मन मे खटकते हुए—रहे हुए आर्त्त ध्यान के कारण ही होते है। ये आर्त्त ध्यान के बाह्य लिंग या चिह्न हैं।

अनिष्ट होने से आर्त्त ध्यान

(१) ऐसा बहुत होता है। पुत्र मर गया तो इष्ट का वियोग हुआ। वह वापस तो नही आने वाला, तब भी उस पर चिल्लाकर रोते है। कई दिन, अरे कई महीने बीते, तब भी कोई याद करवाये या स्वय याद आवे तो रोना आ जाता है। यह सूचित करता है कि अन्तर मे आर्त्त ध्यान है। इसी तरह कुछ भी मन के विपरीत बन गया, उदा० खरीदते मे ठगे गये, चीज हलकी मिली, तो उसके बारे मे हृदय की व्यथा १०-२० व्यक्तियों के आगे शब्द से बाहर व्यक्त

की जाती है । व्यर्थ बकवास करते हैं, कैसा समय आया है ? व्यापारी लुच्चे है, मिलावट ज्यादा होती है, सरकारी तन्त्र रिश्वतखोर है आदि । यह मन मे स्थित आर्त्त ध्यान के कारण ही है । वैसे ही घर मे स्वय को अनिच्छनीय लगे वैसा कुछ हो गया या दूसरे को इष्ट मिला और स्वय को न मिला तो वहा आर्त्त ध्यान चढने पर स्वय सिर कूटता है, छाती पीटता है इत्यादि । अथवा (२) नापसद नौकर व० से पाला पड गया है अब वह हटता नही है या (३) किसी रोगादि कारण से वेदना हो रही है, वहां वह अपनी व्यथा प्रकट करता है, हाय हाय करता है । यह सब भीतर (हृदय) के आर्त्त ध्यान के कारण होता है ।

इतने बडे प्रमाण मे आक्रन्द, रुदन या ताडन न भी हो तो अन्य आर्त्त ध्यान के लक्षण भी उपस्थित होते हैं ।

(४) स्वकार्य की निन्दा के पीछे आर्त्त ध्यान
(गाथा १६)

स्वय ने यदि कोई बनावट की हो, शिल्प, कला या व्यापार मे इच्छित नही हुआ हो, अल्प फल मिला हो, निष्फल गया हो, तो उसकी घृणा प्रकट करता है । उदा० रसोई मे कोई वस्तु बिगड गई, कपडा बराबर नही धुला, शिल्पी या अन्य कारीगर की कारीगरी इच्छानुसार नही हुई, घर में ही किसी चतुराई के काम मे कुछ गलती रह गई, या नौकरी धन्धे मे कुछ झगड़ा टंटा हुआ, उस पर वह उन चीजो की निन्दा करे, दूसरे के आगे, या मन ही मन 'यह खराब हुआ, बिगड गया' कह कर घृणा व्यक्त करे, अरे ! यो तो स्वय अपनी चतुराई, सामग्री आदि के हिसाब से बराबर किया हो, तब भी दूसरे का वैसा कार्य अच्छा बना हुआ देखकर स्वयं अपने काम की निंदा करे, यह आतरिक आर्त्त ध्यान की स्थिति की सूचना करता है ।

(५-८) दूसरे के वैभव पर आश्चर्य करना, वैभव की इच्छा करना, मिले पर खुशी होना तथा सहर्ष वैभव उद्यम के पीछे आर्त्त ध्यान।

(५) खुद को नही मिला और दूसरे को अच्छी संपत्ति, वैभव, बगला, मोटर, फर्नीचिर आदि मिला देखकर उस पर आश्चर्य करें, प्रशसा करे, वैभव के गुणगान करे, यह भी आर्त्त ध्यान का लक्षण है। मन के अन्दर यह आश्चर्य लगे कि 'दूसरे को मिला वैसा हाय! मुझे इष्ट नही मिला? मुझे नही और दूसरे को कैसा अच्छा मिला।' अरे! बाजार से कही से कोई दूसरा व्यक्ति कोई अच्छी चीज लेकर आया हो तो वह देखकर भी यह होता है।

(६) स्वयं माल सम्पत्ति या वैभव की इच्छा करे, झंखना करे, प्रार्थना करे, वह वैसे उद्गार आदि बाहर के लक्षण से दिखता है। यह भी रहे हुए आर्त्त ध्यान का सूचक है। मनमे 'यह इष्ट कैसे मिले?' इसके तन्मय चिंतन बिना बाहर प्रार्थना, इच्छा या प्रशंसा कैसे व्यक्त हो?

(७) प्राप्त हुई चीज वस्तु, सम्पत्ति, सन्मान आदि मे ममता, राग, खुशी आनन्द रहे, वह भी मुख मुद्रा, रहन सहन, और शब्दो मे व्यक्त होता है। यह भी आन्तरिक आर्त्त ध्यान का सूचक है।

(८) सम्पत्ति, सन्मान आदि प्राप्त करने के लिए उत्साह सहित तैयार हो, उद्यम परिश्रम करे, वहां भी अन्तर मे आर्त्त ध्यान उपस्थित है।

उपरोक्त लक्षण कदाचित मात्र धनराशि के बारे में हीन हो, पर एकाध वस्तु के बारे मे और वह भी साधारण वस्तु के बारे मे हो, तब भी वह आर्त्त ध्यान की सूचक है। यहां विचारणीय यह है

कि दिन भर किसी एक या दूसरे पदार्थ के बारे में, किसी बात के बारे मे घृणा, प्रशंसा, अभिलाषा, राग-रक्तता और प्राप्ति या निवारण के लिए कितनी ज्यादा मेहनत चालू रहता है, इस पर से भी प्रत्येक दिन भर में भी कितना ढेरों आर्त ध्यान होता रहता है ?

इसके अलावा भी आर्त्त ध्यान के अन्य लक्षण इस प्रकार उपस्थित रहते है।

९. इन्द्रियों के इष्ट विषयों पर गृद्धि— अर्थात् शब्द रूप रस गन्ध या स्पर्श के बारे में जो गृद्ध हो आसक्त हो, मूर्छित हो, जिसे उसकी कांक्षा (इच्छा) अपेक्षा रहती हो, वह भी आर्त्त ध्यान में ही रक्त है। ऐसी एक भी वस्तु मन में घुमी उतनी ही देर, आर्त्त ध्यान शुरू ही है। फिर अनिष्ट होगा तो वह मन को कुदेरता रहेगा। जीव को विषयासक्ति कहां कम है ? फिर आसक्ति के कारण मन मे विषयो के विकल्प, विचार, कल्पनाएं इतने ज्यादा चलते है कि उसमे क्षण भर भी कही मन स्थिर या तन्मय होने से आर्त्त ध्यान का रूप पकड़ता है। इसमे कुछ भी मिलने या भोगने का न होने पर भी दिन मे ऐसे आर्त्त ध्यान भी कितने ?

विषयगृद्धि रखना है और आर्त्त ध्यान नही करना ऐसा कैसे हो सकता है ?

१०. सद्धर्म याने शुद्ध धर्म से पराङ् मुख होता है उसे भी आर्त्त ध्यान ही है। जीवन मे यदि धर्म की स्थापना नही है, अथवा वह गौण है, बहुत मामूली तथा वह भी रिवाज के अनुसार अमुक क्रिया ही कर देने के रूप मे हो, तो उसके मनमे दूसरा क्या चलेगा ? इधर उधर के फालतू विचार, इसमें किसी इष्ट अनिष्ट के बारे में मन ज़रा भी स्थिर हुआ कि आर्त्त ध्यान आ कर खड़ा ही है। शुद्ध धर्म क्षमा मृदुता आदि १० प्रकार के चारित्रधर्म

से पराङ्मुखता याने क्रोध, मानादि में ओतप्रोतता होना, वह भी आर्त्त ध्यान ही हुआ। इसमे विशेषता यह है जीवन मे धर्म तो हो, पर वह अशुद्ध, असर्वज्ञ-कथित या हिंसा रागादि पाप से मिश्रित हो तो वहा भी उसके कार्य आत्महितकारी न होकर मनमाने इष्ट के लिए हो जाते है और इसीलिए उन पर का ध्यान आर्त्त ध्यान रूप हो जाता है। कैसी दु खद स्थिति ! धर्म के नाम की प्रवृत्ति मे भी आर्त्त ध्यान ? इसीलिए कहा है कि 'धर्म वही है जो दुर्गति मे गिरने वाले आत्मा को बचा ले' 'धारयतीति धर्म.'—धारण करे, बचावे वह धर्म।

११. प्रमाद में तत्पर:—'मज्ज विसय कसाया, निद्दा विगहा य पच पमाया' इस वचन से शराब आदि व्यसन, शब्दादि विषयो का आकर्षण, क्रोधादि कषाय, निद्रा तथा राजकथा भोजन कथा आदि विकथा ये पाच प्रमाद है। इनमे लीन रहने वाले को आर्त्त ध्यान होता ही रहता है। उदा० ऊपर ऊपर से देखने से ऐसा लगता है कि 'हमने यदि भोजन सम्बन्धी कोई बात की तो इसमे आर्त्त ध्यान कैसे ?' परन्तु यह अज्ञानता है। इसके पीछे भोजन के इष्ट अनिष्ट की कल्पना लगी हुई ही है, अतः स्वाभाविक ही वह आर्त्त ध्यान करवाता है।

१२. जिन वचन की लापरवाही रखने वाले को भी आर्त्त ध्यान होता रहता है।

प्रश्न— सद्धर्म पराङ्मुख कहने के बाद यह कहने की क्या जरूरत है ?

उत्तर— इसकी अलग से कहने की जरूरत इसलिए है कि 'सद्धर्म-पराङ्मुख' तो न हो, कम से कम जीवन मे सद्धर्म के जिन वचन की श्रद्धा करता हो, इतनी सन्मुखता हो, परन्तु दूसरी ओर अर्थ काम मे इतना अधिक फसा रहता है कि सद्धर्म की साधना

दूर रह जाती है। इसमें भी वह आर्त्त ध्यान में डूब जाता है। जिनमूर्ति भरवाने वाला तथा जिन वचन से आकर्षित होने वाला सागरचन्द्र सेठ व्यापार धन्धे में इतना डूबा रहा कि उसे आर्त्त ध्यान होता रहा और उसमें तिर्यच-गति का आयुष्य उपार्जन करके मर कर जितशत्रु राजा के घोड़े के रूप में उत्पन्न हुआ, जिसे त्रिलोकनाथ श्री मुनिसुव्रत स्वामी भगवान ने आकर प्रतिबोध किया। क्षण भर का भी ऐसा आर्त्तध्यान जीव को भुलावे में डाल देता है, उदा० भगवान श्री पार्श्वनाथ का जीव मरुभूति के प्रथम भव में जिनवचन का आदर करने वाला और सुन्दर श्रावकधर्म पालन करने वाला था और अन्त में कसूरवार अपने भाई से भी क्षमायाचना करने गया; तब भी उसने उसके मस्तक पर शिला का प्रहार किया इससे वेदना के आर्त्तध्यान में मर कर वह मरुभूति श्रावक जगल में जगली हाथी के रूप में उत्पन्न हुआ। तो यहा विचारने लायक यही है कि जिन-धर्म मिलने पर भी (१) खान पान, पैसा, परिवार, धन्धा रोजगार में ओतप्रोत रहने से आर्त्त ध्यान का कितना अधिक ढेर लगेगा? तथा (२) धर्म प्रवृत्ति भी करे तो भी कभी कभी यदि आर्त्त ध्यान में फसा और यदि उसी समय आयुष्य बाधे तो वह कैसी दुर्गति में जावेगा? यह तो सद्धर्म की श्रद्धा होने पर भी कम या ज्यादा समय भी सद्धर्म सेवन से पराङ्मुख रहने वाले की बात हुई।

अब जो पहले से ही जिनवचन की अपेक्षा से रहित हो, उसकी बेपरवाही वाला अर्थात् श्रद्धा रहित हो उसका विचार करें तो देखेंगे कि वह तो ठीक ठीक आर्त्त ध्यान में डूबा रहता है। जिन-वचन की परवाह जिसे नही है, इससे वह जिनेश्वर-कथित हेय उपादेय त्याज्य आदरणीय तत्त्व को कुछ गिनता नही, मानता नही। फिर त्याज्य का सेवन करता है, उपरान्त उसे उसका कोई अफसोस भी नही रहता। उलटे वह उसी में शाबाशी मानेगा। 'इसका सेवन

तदविरय देसविरय पमायपरसंजयाणुगं झाणं।
सव्वप्पमायमूलं वज्जेयव्वं जइजणेणं ॥१८॥

अर्थः—यह आर्त ध्यान अविरति वाले को, देश विरतिधर को और प्रमादनिष्ठ सयमधर को होता है। उसे सर्व प्रमाद का मूल समझ कर साधुजनो के द्वारा उसका त्याग कराना चाहिये।

क्यो न करें ? इसके सेवन में कुछ भी हर्ज नहीं।' ऐसा ऐसा मानेगा तथा बोलेगा। इस तरह वह आदरणीय तत्त्व के बारे मे विरुद्ध मानेगा, बोलेगा। इन दोनो के कारण आगे व पीछे ढेरो आर्त्त ध्यान चलता है उसमे आश्चर्य नही।

आर्त्त ध्यान किसे ?

अब 'आर्त ध्यान के स्वामी कौन' इसका विचार करते हुए कहते है— 'तदविरय ..'

विवेचन :

आर्त ध्यान अविरतिधर मिथ्यादृष्टि आत्मा को, सम्यग्दृष्टि आत्मा को तथा देशविरतिधर श्रावक को भी होता है और सर्व विरतिधर प्रमत्त मुनि को भी होता है।

अविरति याने प्रतिज्ञापूर्वक हिसादि पाप से विराम का न होना, या पाप का प्रतिज्ञावद्ध त्याग न होना। प्रतिज्ञा न हो तथा हिसादि नही करता हो, वह तो केवल पाप की अप्रवृत्ति है, पर विरति नही है, पाप विराम नही है; क्योंकि दिल मे पाप की अपेक्षा बैठी हुई है कि 'मौका आने पर पाप करने की छूट', इसीलिए तो वह प्रतिज्ञा नही करता। ऐसी अपेक्षा ही अविरति है। वह अपेक्षा जब तक है, तब तक पाप का आचरण न हो ऐसे वक्त भी इष्टसंयोग अनिष्ट वियोग आदि का आर्त्त ध्यान होता रहे यह स्वाभाविक है।

ऐसे अविरति वाले आत्मा मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि दोनों हो सकते है। सभी मिथ्यादृष्टि जीव अविरति मे ही है, क्योंकि विरति तो सम्यक्त्व के बाद की भूमिका है। पहले जिनोक्त सर्व तत्त्व की श्रद्धा चाहिये, उसके बाद ही सच्चा विरति भाव आ सकता है। इसीलिए तो अभवी जैसे जीव जैन चारित्रदीक्षा लेने पर भी अविरति में ही है, प्रथम मिथ्यात्व गुण स्थानक वाले है।

अब सम्यक्त्व प्राप्त अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव दो प्रकार के है विरतिधारी तथा विरतिरहित। इसमे जिन्हे थोड़े से पाप त्याग की भी उदा० मैं त्रस जीव की हिंसा नही करूंगा', इत्यादि प्रतिज्ञा नही है, वह अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाता है। 'पाप का त्याग करना चाहिये' ऐसी उन्हे श्रद्धा है, तब भी वह करने की हिम्मत नही हैं, वे अविरति वाले है। यह सूचित करता है कि हिंसा, परिग्रह आदि पापो की ओर आकर्षण अभी भी खडा है। ऐसी अविरति भी आर्त्त-ध्यान की प्रेरणा दे इसमे क्या आश्चर्य ?

इसी तरह देशविरति अर्थात् जिसने देश से याने अंश से विरति का स्वीकार किया है, उसे भी शेष अविरति बाकी है, इससे आर्त्त ध्यान होता रहता है।

प्रश्न— तो इसका अर्थ यह हुआ कि सर्वांग मे (सर्व से याने संपूर्ण) विरति कर ले तो फिर आर्त्त ध्यान नही रहे न ?

उत्तर— नही। उसमे भी प्रमाद हो तो आर्त्त ध्यान सुलभ है। सर्वविरतिधर भी दो प्रकार की स्थिति मे होते है।

१. प्रमाद वाले और २. प्रमाद रहित। इसमे राग, द्वेष, निद्रा विकथा, धर्म मे उत्साह-रहितता व अज्ञानादि प्रमाद अवस्था मे आर्त ध्यान होता है, जरा सा भी प्रमाद, आर्त ध्यान को सुलभ (सरलता से होने वाला) बना देता है। क्योंकि यह प्रमाद किसी न किसी

इष्टसंयोग के आकर्षण या अनिष्ट वियोग की चिन्ता या वेदना के साथ संकलित होता है, तो फिर आर्त ध्यान क्यो नहीं आवेगा ?

बस, इस हिसाब से प्रमाद रहित याने अप्रमत्त अवस्था हो, तभी आर्त्त ध्यान से छूटकारा मिलता है। अतः कहा है कि 'अप्रमत्त मुनि जो सातवें और उससे ऊपर के गुणस्थानक पर होता है, उन्हे आर्त्त ध्यान नही होता।' यह देखने से पता चलता है कि आर्त्तध्यान की कितनी ज्यादा सूक्ष्मता है कि मिथ्यात्व तथा अविरति वाले को तो क्या किन्तु जरा भी प्रमाद वाले को भी यह आर्त्त ध्यान हो जाते देर नही लगती। पूरा ससार छोड़, सर्वविरतिधर मुनि हुए तो भी यह निश्चित नियम नही कि आर्त्त ध्यान नहीं ही आवेगा। अतः इस गाथा मे कहा है कि 'आर्त्तध्यान यह सर्व प्रमाद की जड होने से उन्हे उसका त्याग करना चाहिये।' यदि आर्त्तध्यान रहता है, तो प्रमाद आते देर नही। स्वरूप से आर्त्तध्यान समस्त प्रमाद का कारण है। अतः साधु तथा श्रावक दोनों ने उसमे से दूर रहना आवश्यक है।

प्रश्न – पहले जो यह कहा कि प्रमाद वाले को आर्त्तध्यान होता है, उसका अर्थ तो यह है कि प्रमाद कारण है और आर्त्तध्यान उसका का कार्य्य है। तो फिर यहा आर्त्तध्यान को सर्व प्रमाद की जड़ याने कारण कहा, यह कैसे घटित होगा ?

उत्तर— बात बिलकुल सच है कि अन्तर मे (मन के अन्दर) रागादि हो, उससे आर्त्तध्यान उठता है। परन्तु जीव को मन मिला है, इससे उसे कुछ न कुछ उथल पुथल करने को, सोचने को चाहिये ही। इससे 'किसी इष्ट का संयोग हो', या 'वियोग न हो', या 'हाय वेदना बहुत सता रही है, शान्त हो जाय' ऐसा कुछ न कुछ आर्त्त-ध्यान चलता ही रहता है। फिर उसकी चिन्ता या व्याकुलता मन में उठने पर जीव शान्त कैसे रह सकता है ?' इस आर्त्त ध्यान के जोश व प्रवाह के कारण विषय-कषाय की त्रिविध प्रवृत्ति, वाणी,

विचार वर्ताव के रूप में चलती रहे बिना नहीं रह सकती। इस तरह मद्य आदि व्यसन, निद्रा, निन्दा, विकथा, बेकार बातें आदि भी सुलभ (सरल) होते है। पुनः क्रिया के खेद उद्वेग आदि दोषो का भी सेवन होता रहता है। यह सब प्रमाद ही है। उसकी जड़ है आर्त्त ध्यान। आर्त्तध्यान से हृदय बिगड़ता है उससे प्रमाद सेवन चलता है।

इस तरह से आर्त्तध्यान चाहे राग द्वेष या मोह मे से उठता है याने वहा रागादि प्रमाद कारण और आर्त्तध्यान उसका कारण हुआ। परन्तु जब आर्त्तध्यान बार-बार चलता है तब स्वाभाविक ही है कि इससे वह सब प्रमाद प्रवृत्तियें रहेंगी ही। इस तरह यहा आर्त्तध्यान को सर्व प्रमाद की जड कह कर उसे छोड़ने का कहा। आर्त्तध्यान बन्द करके धर्म-ध्यान चलाने से हृदय पवित्र रहने से प्रमाद सेवन रुक जाता है। इतना आर्त्त ध्यान के बारे में विचार हुआ।

रौद्र ध्यान

रौद्र ध्यान भी ४ प्रकार का है:— १. हिंसानुबन्धी, २ मृषानुबन्धी, ३ स्तेयानुबन्धी और ४. संरक्षणानुबन्धी। श्री उमास्वाति वाचकवर्य ने तत्त्वार्थ महाशास्त्र मे (अ० ९ सू० ३६) कहा है 'हिंसाऽनृतस्तेय विषय सरक्षणेभ्यो रौद्रम्' अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी और इन्द्रिय विषयो के संरक्षण के लिए रौद्र ध्यान होता है। रौद्र याने भयानक अर्थात् आर्त से ज्यादा उग्र अति क्रूर। इन हिंसादि चार मे से किसी भी एक पर चित्त क्रूर चिंतन में उतर जाय तो वहां रौद्र-ध्यान का प्रारम्भ कहा जायगा।

कर्म बन्ध का जजमेंट ध्यान पर

यहां ध्यान मे रहे कि इसमे हिंसादि क्रिया का आचरण करने

सत्तवह वेह बंधणडहणङ्कण मारणाइ पणिहाणं ।
अइ कोहग्गहघत्थं निग्घिण मणसोऽहमविवागं ॥१६॥

अर्थः—अति क्रोध ग्रह से जकड़े हुए मन का लक्ष्य जीवो को पीटने, विंधने, बाथने, जलाने, चिह्न करने, मार डालने इत्यादि पर जाता है, चिपकता है। (यह रौद्रध्यान है।) यह निर्दय हृदय वाले को होता है और अधम (नरकादि प्राप्ति के) फल वाला होता है।

की बात नही है। हिंसा कुछ भी नही करता हो, मुख से झूठ कुछ भी नही बोलता हो, तब भी मन से करने व बोलने के क्रूर उग्र अभिप्राय, चिन्तन या दिल का लगाव रौद्रध्यान है। जैसे आर्त्त मे वैसे ही रौद्र में काया से करने का या वाणी से बोलने का कुछ नही होता, पर मात्र मन से उसका दृढ़ चिन्तन करता है, वह आर्त्त रौद्र ध्यान है। मन तो चौबीसों घण्टे कुछ न कुछ चितन करता ही है, फिर वह चितन आर्त्तध्यान या रौद्रध्यान न बन जाय,इसके लिए कितना ज्यादा ख्याल रखना पड़े? ध्यान को कर्म बन्ध के साथ सीधा सम्बन्ध है। कर्म कैसे बाधे जावेंगे, उसका जजमेन्ट मन मे तात्कालिक चलने वाले भाव या ध्यान के प्रकार पर पडता है। आर्त्तध्यान से तिर्यचगति के कर्मों का बन्ध होता है और रौद्रध्यान से नरकगति के कर्मो का बन्ध होता है। वे भी तुरन्त ही बाधे जाते है, इसमे उधार नही। जिस समय जैसा ध्यान, उसी समय वैसे कर्मो का बन्ध हो जावेगा। इसीलिए जीवन का सबसे बड़ा काम यह, कि मन में होने वाले खराब ध्यान को रोक कर शुभ ध्यान को चालू रखने को बडी सावधानी रखना आवश्यक है।

१. हिंसानुबन्धी रौद्र ध्यान

यहां अब पहला हिंसानुबन्धी रौद्र ध्यान समझाते हुए कहते है—

विवेचन :

अति क्रोध मे आकर निर्दय हृदय से हिंसा का एकाग्र चिंतन किया जाय, वह हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान है। हिंसा अनेक प्रकार से सोची जाती है। उदा० एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक के किसी भी जीव के प्रति क्रोधान्ध बन कर यह सोचे कि, 'मैं इस हरामी को थप्पड़ घूंसे लगाकर सीधा कर दूं।' चाबुक लगा दूं।' 'लातें मार कर सीधा कर डालूं।' अथवा नाक कान बीन्ध दू।' 'रस्सी या बेडी से जकड लूं।' 'अग्नि से जला दूं, लाल जलती हुई सलाइयों से दाग लगा दूं।' 'कुत्ते या सियार क पैरो के नाखून से चिरवा दूं, नोंच डालू, तलवार के झटके से या भाला चुभाकर या खजर भौककर जान से मार डालूं अथवा खूब पीड़ा दू। चीर डालूं, कुचल डालू, चटनी कर दू' आदि आदि जीव को पीड़ा देने वाली वस्तु पर मन को केन्द्रित करे। यह पहले प्रकार का रौद्रध्यान है।

भारी क्रोध किसी ग्रह या भूत की तरह लगा हुआ हो, और दिल मे दया तो बिलकुल ही खतम हो गई हो, अपना स्वार्थ बिगड़ता हो, स्वमान को हानि हुई हो, अथवा शत्रुता हो, वहा ऐसा होता है। सेठ को नौकर पर, माता पिता को पुत्र पर, पड़ोसी को पड़ोसी के प्रति इत्यादि में ऐसा होता है। देश परदेश के कुछ समाचार जान कर, कोर्ट के गुनहगार को छोड़ देने का सुनने पर इत्यादि कई प्रसगो पर चिन्ता वाले का मन रौद्रध्यान तक पहुंच जाता है। जैसा क्रोध के आवेश मे वैसा ही अभिमान मे चढकर भी वैसा ही होता है। उदा० रावण ने अभिमान से चक्र छोडकर लक्ष्मण का गला काटने का सोचा। माया या लोभ के आवेश में भी वैसा हो सकता है। कोणिक ने राज्य के लोभ मे सगे बाप श्रेणिक को कैद मे डलवाकर चाबुक लगवाने पर मन को केन्द्रित किया।

पिसुणासब्भासब्भूयभूयघायाइ वयणपणिहाणं ।
मायाविणोऽइसंघणपरस्स पच्छन्नपावस्स ॥२०॥

अर्थ.—चुगली खाना, अनिष्ट सूचक वचन, गाली इत्यादि असभ्य वचन, असत्य वचन, जीव घात का आदेश आदि का प्रणिधान (एकाग्र मानसिक चितन) रौद्रध्यान है। यह कपटी, ठगाई करने वाले या गुप्त पापी को होता है ॥२०॥

ध्यान मे खूबी तो यह है कि स्वयं हिसा आदि कर भी न सके, तब भी हिसा आदि करने (की इच्छा) मे चित्त दृढ़तापूर्वक लग गया, तो वह रौद्र ध्यान हुआ। तो जीवन मे ऐसा दृढ़ चित्त होने मे कितनी देर लगती है ?

रौद्रध्यान से नरक

इस रौद्रध्यान का परिणाम बहुत हलका (खराब) आता है। नरक आदि दुर्गति के दुःखो से पीडित होना पडता है। जीवन अच्छा धर्ममय चलता हो, पर कभी रौद्र ध्यान आया और कदाचित् उसी समय आयुष्य का बन्ध हुआ तो वह नरक का ही बंधेगा और एक बार तो नरक मे जाना ही पड़ेगा। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि महा सयमी तपस्वी होते हुए भी मन ही मन लड़ाई तथा हिसा के ध्यान मे चढे और उसी समय श्रेणिक ने महावीर भगवान को उनकी गति पूछी तो प्रभु ने कहा. 'अभी मरे तो सातवी नरक मे जाय।' जीवन मे बहुत हाय हो, लोभ लालच भरा हो या अहंकार मे खिचा जाता हो, तो रौद्र ध्यान सुलभ होता है। इतनी रौद्रध्यान के पहले प्रकार की बात हुई।

२. दूसरा प्रकार : मृषानुबन्धी रौद्रध्यान

अब दूसरे प्रकार के मृषानुबन्धी रौद्रध्यान का वर्णन करते है:—

विवेचन :

मृषानुबन्धी रौद्रध्यान उस प्रकार के दुष्ट वचन बोलने के उग्र चिंतन से होता है। दूसरे की चुगली खाने का सोचे, अपने आपको दूसरे नापसद बात किसी के सामने नमक मिर्च लगा कर कह देने की निश्चित उग्र व क्रूर इच्छा (धारणा) करे तो वह रौद्रध्यान होता है। वैसे ही तिरस्कार वचन, गाली, अपशब्द या अधम असभ्य शब्द सुना देने का सोचे अथवा असत्य बोलने का सोचे तो यह भी रौद्रध्यान है।

असत्य वचन के तीन प्रकार—१ अभूतोद्भावन, २. भूत निन्हव और (३) अर्थान्तर कथन। (१) अभूतोद्भावन याने न हो वैसी वस्तु कहना। उदा० आत्मा विश्वव्यापी नही हैं तब भी कहना कि 'वह विश्व व्यापी है।' स्वयं श्रीमन्त या विद्वान हो तो भी कहे, 'मैं श्रीमन्त हूं वि०ान हूं।' (२) 'भूत निन्हव' याने जो वस्तु हो उसका निषेध करे या उसे गलत बतावे। उदा० यह कहे कि 'आत्मा जैसी वस्तु ही नही है।' पैसेदार हो तब भी कहें 'मेरे पास पैसे नही है।' (३) 'अर्थान्तर कथन' याने एक पदार्थ को दूसरा ही पदार्थ कहना। उदा० बैल को घोड़ा कहे, असाधु को साधु कहे... इत्यादि।

इसी तरह 'भूतोपघाती' वचन याने ऐसा बोले कि जिसके पीछे पीडा, वेदना या हिंसा हो। उदा० कहे 'काट दे, चीर डाल, सेक कर गरम कर दे, मार....' इत्यादि। अलबत्ता इन वचनों में कोई प्रत्येक्ष असत्य नही दिखता, पर उसमे परिणाम जीव घात का है, अतः यह वस्तुगत्या मृषा ही है।

उपरोक्त वचनों में प्रकारातर से अनेक वचन आते हैं। उदा० 'पिशुन' के रूप में कई प्रकार के अनिष्ट सूचक वचन होते हैं; जैसे

कि कोई व्यक्ति अपने उत्तम या अच्छे कार्य के लिए बाहर जा रहा हो उसे अपशकुन करने वाला वचन कहे जैसे 'कुछ होने का नही है। इससे तो उल्टा हो जावेगा....' इत्यादि।

असत् तरंग से रौद्रध्यान

अब रौद्रध्यान की बात ऐसी है कि ऐसे शब्द चाहे बोलता न हो, पर उस समय भी वैसा बोलने का निष्ठुरता से दृढतापूर्वक चिंतन करता हो तो वह रौद्रध्यान होता है। मनुष्य हलके ढंग से सोचते हुए या मन तरंगो मे झूठ के किसी एक या दूसरे प्रकार के वचनो का चिंतन करता रहता है। वहां वह रौद्रध्यान में क्यो नही चढ़ जावेगा ? कोर्ट मे गवाही देना हो तब सचमुच में तो पता नहीं क्या पूछा जायेगा, परन्तु मूढ मनुष्य पहले से विचारों मे चढ़ता है कि, 'कोर्ट मे यह पूछा जायगा, वह पूछा जायगा.... तो मुझे जो आता है ऐसे असत्य उत्तर दे दूंगा।' चाहे फिर वैसा बोलने का उसे कोई मौका ही न मिले। तब भी ऐसे निष्ठुर चिंतन में रौद्रध्यान आते क्या देर लगेगी ? वैसे पुत्र या नौकर आदि सचमुच मे कसूर मे न हो, तब भी पिता या सेठ उसका कसूर समझ कर भयंकर गुस्से में सोचे, 'हरामखोर को आने तो दो, ऐसे भारी तिरस्कार के वचन सुनाकर उसे सीधा कर दूंगा।' परन्तु बाद में जब वह आकर स्पष्टता करे तो क्रोध उतर जाता है। तब भी पहले जो चिंतन किया वह तो रौद्रध्यान की कक्षा का भी हो चुका हो।

यह रौद्रध्यान किस किस तरह आता है ?

कपटी जीव उदा० व्यापारी आदि, जिसे दूसरों के पास से येनकेन प्रकार से स्वार्थ साधन करना हो तो उसे किसी तरह फंसाने के लिए संकल्प करता (सोचता) है। मैं उसे यह कहूंगा, असत्य को सत्य के रूप मे उसके गले उतार दूंगा।...' ऐसे असत्य भाषण,

हिंसा प्रेरक वचन या पापोपदेश पर मन केन्द्रित होने पर उस कपटी को रौद्रध्यान सरल हो जाता है।

ऐसे ही दूसरे को ठगने में तत्पर हो, जैसे एक भाई दूसरे भाई को हिस्सा बांटने मे ठगना चाहता हो, व्यापार में दुकानदार अपने दूसरे भागीदार (हिस्से वाले) को ठगना चाहता हो, या दलाल या नौकर किसी सौदे मे कमीशन खाकर सेठ को ठगने की इच्छा रखता हो अथवा कोई कवाड़ेबाज किसी भोले व्यक्ति को किसी भी प्रवृत्ति मे स्वार्थ से या विरोध या शत्रुता के कारण ठगना चाहता हो, वहां वह उसके लिए उस प्रकार के (कपटपूर्ण) मायामृषा के वचन मन में घड़ता रहे। इस प्रकार की मनगढन्त से रौद्रध्यान होता है।

वैसे ही, प्रच्छन्न पापी याने गुप्त रूप से पाप करने वाला या छिपे छिपे प्रपच करने वाला भी बाहर अपने आपको अच्छा, निर्दोष तथा निष्पाप बताने के लिए मन मे घड़ता रहे कि 'जरूरत पड़ने पर मेरी निर्दोषता या अच्छापन बताने के लिए इस इस तरह बात करूंगा।...' इस प्रकार की चिकनी मनगढंत से रौद्रध्यान होता है अथवा प्रच्छन्न पापी याने मिथ्याधर्मी ब्राह्मण आदि स्वय गुण हीन होने पर भी स्वय को गुणवान के रूप में बताये, इसके लिए गप्प लगाने का उसका मानसिक दृढ प्रणिधान भी रौद्रध्यान रूप बनता है। गुणहीन अपने आपको गुणवान के रूप मे पहचान करवाये, उससे ज्यादा फिर गुप्त पापी कौन होगा? खुले रूप से पाप करने वाला तो स्वयं दोषी होने को छिपाता नहीं है। पर यह तो अन्दर खाली या पोला होने पर भी बाहर ढोल बजाता है। इसीलिए वह प्रच्छन्न पापी है। पुन. पाप छिपकर करता है। इसका परिणाम यह होगा कि स्वय गुणहीन होते हुए भी दूसरे के आगे गुणवान दिखने तथा अपना कृत्रिम बड़प्पन टिकाने के लिए वह बाहर अमुक प्रकार

तह तिव्वकोहलोहाउलस्स भूओवधायणमणज्जं ।
परदव्वहरणचित्तं परलोयावायनिरवेक्खं ॥२१॥

अर्थः—जैसा दृढ चिन्तन दूसरे प्रकार मे, वैसा तीसरे प्रकार मे होता है और जीव हिंसा करने तक का पर द्रव्य चुराने का अनार्य दृढ चिंतन रौद्रध्यान है। वह तीव्र क्रोध तथा लोभ से व्याकुल और परलोक के अनर्थ की परवाह बिना के जीव को होता हैं।

की बात कहेगा। उसके मन मे चलते हुए निष्ठुरता भरे दृढ़ विचार रौद्रध्यान के कहे जा सकते हैं। यह दूसरा प्रकार हुआ।

३. तीसरा प्रकार : स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान

अब तीसरे प्रकार के स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान का वर्णन करते हैं:—

विवेचन :

तीसरे प्रकार का रौद्रध्यान चोरी के क्रूर चिंतन में से उत्पन्न होता है। 'दूसरे के पैसे, दूसरे का माल, दूसरे की पत्नी पुत्रादि, दूसरे की जायदाद, सावना, सम्पत्ति आदि कैसे उठालू, किस तरह मे हड़प कर लूं ....' ऐसे क्रूर चिंतन मे तन्मय हो, वहां यह रौद्रध्यान हुआ। उसके उपायो का विचार, दांव पेच लगाने का विचार करना, सामने वाले की नजर बचाने, आखों में धूल डालने आदि की तन्मय विचारधारा मे चढता है। जगल के डाकू और शहर के चोर तो यह रौद्रध्यान करें ही, पर साहूकार गिने जाने वाले भी जब कौटुम्बिक सगे सम्बन्धी का या दुकान के भागीदार या ग्राहक, व्यापारी या सेठ का कुछ उठा लेने के क्रूर चिंतन में चढ जायं तो वे भी रौद्रध्यान वाले बनते है।

रौद्रध्यान क्रोध या लोभ से.—यह रौद्रध्यान आने का कारण तीव्र क्रोध या लोभ है। जीव जब किसी पर भी उग्र क्रोध से व्याकुल हो जाता है और उससे तीव्र शत्रुता या विरोध खड़ा होता है, तब उसकी खुजली उतारने, उसे बता देने के लिए उसका कुछ चुराने (उठा लेने) के क्रूर चितन मे चढ़ता है। तीव्र लोभ से ग्रस्त जीव अपने इच्छित किसी पदार्थ को प्राप्त करने के लिए चोरी, लूट या उठाइगिरि करने के क्रूर चितन में चढता है। इस तीव्र लोभी या क्रोधी का इच्छित सफल होगा या नही, यह निश्चित नही है। अरे! वह चोरी का प्रयत्न भा कर सकेगा या नही, यह भी अनिश्चित है। तब भी अन्धा बनकर अभी जो क्रूर चितन करता है वह तो रौद्रध्यान के रूप मे उसकी ललाट पर चिपक ही जाता है। तीव्र क्रोध या लोभ की व्याकुलता ही ऐसी है कि उसे ऐसा अन्धा बना दे

जिसे ऐसे अन्वेषन के योग से जीवन मे आते हुए भयंकर फल का विचार ही नही, यहाँ चोरी करते पकड़े जाने पर कैसी सजा होगी, बेइज्जती होगी आदि का जिसे डर न हो या विचार नहीं, उसे वह न हो तो भी परलोक मे इस घोर पाप से उत्पन्न भयकर अशुभ कर्म के अति कटु विपाक से नरकागमनादि के कैसे भयंकर दु.ख भोगने पडेंगे, उसकी तो परवाह ही कैसे हो? परलोक के अनर्थो से तो वह लापरवाह है ही।

इसीलिए चोरी के उग्र चितन मे कदाचित उसे लगे कि उसे कोई रोकने या पकडने आवेगा तो उसे मारने तक का निर्णय करता है। दृढ प्रहारी ऐसे ही क्रूर ध्यान मे चोरी करने घुसा, तो बीच मे आये हुए गाय आदि को उसने मार डाला। इसीलिए ऐसा क्रूर चितन अनार्य कोटि का है। आर्य अर्थात् सर्व त्याज्य धर्म (बात या पदार्थ) जैसे शिकार, जुआ चोरी आदि से बाहर निकला

सद्दाइविसयसाहण धण सारक्खण परायणमणिट्ठं ।
सव्वाभिसंकण परोवघायकलुसाउलं चित्तं ॥२२॥

अर्थ :– शब्दादि विषयो के साधन समान पैसे के संरक्षण मे तत्पर और सर्व को शंका तथा अन्य (उसको ताकने वाले) के घात की कलुषित बुद्धि से व्याकुल चित्त चितन चौथा सरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान है ।

हुआ । तो उसमे पडा हुआ अनार्य । उसके ये खराब कृत्य भी अनार्य कहे जावेंगे और उनका क्रूर चितन भी वैसा ही कहा जावेगा । अतः यहा इस रौद्रध्यान को अनार्य कहा । यह तीसरा प्रकार हुआ ।

४. चौथा प्रकार : संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान

अब रौद्रध्यान के चौथे प्रकार का वर्णन करते हैं.—

विवेचन :

सरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान उसका चौथा भेद है । इसमें धन सरक्षण मे मशगूल होकर उसका उग्र चितन होता है । जीव को अच्छे अच्छे शब्द रूप रस आदि विषयो की प्राप्ति तथा भोग बहुत पसंद हैं। इससे उसके साधन रूप धन की प्राप्ति व रक्षा मे वह तत्पर रहता है। इसके लिए वह 'कैसे मिले, कैसे रक्षा हो' उसके खूब चितन मे वह चढता है । इसमे विशिष्टता यह है कि उसकी प्राप्ति का चितन आर्त्तध्यान है और रक्षा का चितन रौद्रध्यान होता है । कारण यह है कि प्राप्त करने से रक्षा करने की बुद्धि मे ज्यादा क्रूरता आती है । अलबत्ता प्राप्त करने की लेश्या मे भी कोई झूठ, चोरी तथा जीव घात की क्रूर विचारधारा हो, तो वह भी रौद्र-ध्यान बन जाता है। परन्तु उसके संरक्षण के चितन मे 'मिला हुआ कैसे टिके', उसका सामान्य हो तो वह भी आर्त्तध्यान हो जाता है।

तब भी रक्षण की लेश्या जोरदार हो, तब उसका चिंतन उग्र व क्रूर हो जाने से रौद्रध्यान रूप बन जाता है।

धन की रक्षा के चिंतन में उग्रता इसलिए आती है कि उस धन को किसी भी तरह करके रक्षा करने की तीव्र इच्छा है इससे वह दूसरों के बारे में यह शंका करता है कि 'वह ले तो नहीं जावेगा ?' पुन. इस भय के बढने पर इस धन के निमित्त से आवश्यकता होने पर जीवहिंसा तक की क्रूर लेश्या होती है कि 'सब को मार डालना अच्छा है।' भिखारी को उसके फूटे बर्तन में मिले हुए झूठे-एंठे माल पर भी अति ममतावश उसके संरक्षण की चिंता म उसे ऐसा होता है कि 'यह मैं किसी भी भिखारी को नही बताऊंगा, कही अकेले कोने मे जाकर थोड़ा थोड़ा खाऊं जिससे जल्दी खतम न हो। इसमे यह भी सम्भव है कि वहां ही दूसरे भिखारी भी मागने आवें ! तो उन्हें जरा भी नही दूं। कदाचित् कोई इसे खींच लेना चाहे, तो मैं इसे क्यो देने लगा ? उनके बाप का माल है ? लेने तो आवें ? उनका सिर ही तोड डालूं।'- यह संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान है। तो बड़े लोभी राजा की भी क्या दशा है ? वह भी अपना राज्य टिकाने के लिए मौके बे मौके ऐसे विकल्प करने लगता है। कल्पना से किसी अन्य राजा के आक्रमण का, उसकी सेना के साथ के मुकाबले का तथा उसका निकन्दन निकालने का सोचकर-अपने राज्य के संरक्षण करने के रौद्रध्यान में चढता है।

यह रौद्रध्यान सज्जनो के लिए इष्ट नही है, क्योंकि इसमें एक तो नाशवान परिग्रह की अति ममता से परमात्मा आदि का शुभ ध्यान चूकते हैं। दूसरे अच्छे मनुष्यो के लिए भी यह शंका रहती है कि 'वह ले तो नही जावेगा ? किसे पता वह क्या करेगा ?' आदि फिर इनमे आगे बढने पर उग्र क्रोध हिंसा आदि के पाप

इयकरणकारणाणु मइविसय मणुचिंतणं चउब्भेयं ।
अविरय- देसासंजय जणमणसंसेवियमहण्णं ॥२३॥

अर्थ — इस प्रकार स्वयं करने, दूसरे के पास से करवाने तथा करने वाले का अनुमोदन करने सम्बन्धी पर्यालोचन चारो प्रकार के रौद्रध्यान मे होता है। (उसके स्वामी कौन है?) अविरति मिथ्या-दृष्टि, सम्यग्दृष्टि और देशविरति श्रावको तक के जीवो के मन से इसका सेवन हो सकता है और वह अहितकर निन्द्य पाप है।

विचार सरल-सुलभ बन जाते है, चित्त पापिष्ठ अध्यात्मायो से व्याकुल रहता है।

यहा प्रारम्भ मे 'शब्दादि विषयो के साधन रूप' ऐसा धन का विशेषण रखा है। यह सूचित करता है कि केवल ऐसे विषयो की प्राप्ति तथा भोग के उद्देश्य से धन का संरक्षण करने का ध्यान रौद्र-ध्यान तक पहुँच जाता है। परन्तु देवद्रव्य की संपत्ति या जायदाद की रक्षा का चिंतन दुर्ध्यान नही होगा। देवद्रव्य की रक्षा की बुद्धि तो धर्म बुद्धि है।

रौद्रध्यान किसे होता है तथा ध्यान की कौन सी कक्षा में आता है

अब चारो प्रकार के रौद्रध्यान की विशेषता बताते हुए उप-संहार करते हैं —

विवेचन :

हिंसा, मृषा, चोरी तथा संरक्षण सम्बन्धी क्रूर चिंतन हिंसादि स्वयं करने से ही होगा, ऐसा नही है, किन्तु हिंसादि दूसरो के पास करवाने सम्बन्धी भी उग्र चिंतन हो सकता है, तथा दूसरे ये हिंसादि

करते ही उसकी अनुमोदना का भी क्रूर चितन हो सकता है। इस तरह हरेक प्रकार मे ३-३ तरह से रौद्रध्यान होता है। उदा०

हिंसादि कराने सम्बन्धी रौद्रध्यान

दूसरे के पास किसी को पिटवाने, बंधवाने, विंधवाने, जलवाने, दाग लगवाने तथा मार डालने आदि का क्रूर चितन होता है। अथवा असभ्य चुगली झूठ बोलने या हिंसा का उपदेश करवाने का भी चितन हो सकता है, अथवा किसी के पास चोरी, लूट आदि करवाने का भी क्रूर चितन हो सकता है, अथवा दूसरे के पास विषय सुख के साधन स्वरूप धन माल का सरक्षण करवाने के बारे मे वैसा चितन हो सकता है, जैसे कि 'मैं अमुक के पास हिंसा आदि करवाऊ ....'

अनुमोदन से कैसे रौद्रध्यान

इस तरह स्वय करने या दूसरे के पास करवाने का ही नही, किन्तु कोई ऐसी हिंसा झूठ आदि का आचरण करता हो उसकी अनुमोदना करने का भी क्रूर चितन हो सकता है। जैसे मन मे ऐसा क्रूर भाव उत्पन्न हो कि 'उसने उसको मारा या पीटा यह अच्छा हुआ! वह उसके लायक था।' लड़ाई (युद्ध) के जमाने मे लोगों ने ऐसा चितन बहुत किया। जापान या जर्मनी वालों ने अंग्रेजो का निकन्दन निकाला। यह जानकर खुश होकर उसकी अनुमोदना के क्रूर चितन किये। ऐसा ही हुल्लड़ (साम्प्रदायिक दंगे) मे होता है। इसमे किसी की कतल हुई जानकर खुशी का चितन होता है। अथवा हिंसामय नील आदि की अच्छी कमाई के धन्धे पर ऐसा चितन होता है। अरे! स्वयं को जिस पर अरुचि है वह किसी से लूटा जाय या पीटा जाय या किसी दुर्घटना द्वारा उसे हानि या मृत्यु हो तो उस पर खुश होने का क्रूर चितन होता है। यह सब रौद्रध्यान है।

इसी तरह कोई झूठ बोला, किसी ने गाली दी, चुगली खाई, भयकर गवाही दी, वह पसंद आने पर अनुमोदना का क्रूर चिंतन होता है। ऐसे किसी के किये हुए चोरी, लूट, उठाइगिरी के बारे मे खुशी का चिंतन हो, अथवा चतुराई से, चालाकी से दूसरे को मार डालने तक की तैयारी से धन के सरक्षण करने की अनुमोदना का चिंतन हो। उदा० सेफ डिपोजिट वोल्ट मे चालू बिजली के पॉवर सहित धन रक्षा होती है कि जिसमें कोई लेने घुसे तो बिजली के करेन्ट से चिपक कर मर जाय, तो ऐसी धन रक्षा पर खुशी का चिंतन हो जैसे 'वाह ! यह अच्छा सरक्षण है ! चोरी करने आने वाला हरामी खतम ही हो जाय ! इत्यादि चिंतन क्रूर होने से रौद्र-ध्यान होता रहता है।

आज के भौतिकता, धनप्रीति, विजयासक्ति, मशीनरी, अखबार आदि के युग मे अपने जीवन को चारों ओर से जाचें तो पता चलेगा कि कभी कभी हिंसा, झूठ, चोरी, सरक्षण स्वयं करने के बारे मे क्रूर चिंतन चाहे नही किया हो, पर करवाने या अनुमोदना करने के बारे मे क्रूर चिंतन आ जाता है या नही ? यदि ऐसा चिंतन हो तो वह रौद्रध्यान के घर का चिंतन होगा।

रौद्रध्यान के स्वामी कौन ? अर्थात् कौन से गुण स्थानक तक के जीवों को रौद्रध्यान आ सकता है ? वह कहते हैं:—

मिथ्यादृष्टि जीवो को तो विचारों को सच्चे तत्त्व का पता ही नही, श्रद्धा ही नही अतः वे रौद्रध्यान में फंस जाय, परन्तु अविरति याने व्रत रहित सम्यग्दृष्टि तथा व्रतधारी देवविरति श्रावक भी मौके पर फंस जाते है। सर्व विरतिधर मुनि को रौद्र-ध्यान नही होता; क्योंकि वह हिंसादि पापो से मन वचन काया से प्रतिज्ञाबद्ध होकर सर्वथा विरमित है; अतः वह कदाचित् प्रमाद के कारण आर्त्तध्यान मे चढ जाय पर रौद्र में नही। अन्यथा तो रौद्र-

ध्यान चिंतन के चिंतन मे उग्र कषाय होने मे मंद कषाय का यह सर्वविरति गुणस्थानक ही गुमा देगा। साधु वेश पड़ा रहे, वह इस गुणस्थानक से नीचे उतर जायेगा। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि रौद्रध्यान के अति क्रूर चिंतन मात्र मे चढे तो उतरे मिथ्यात्व गुणस्थानक तक और वहां सातवीं नरक तक को पाप एकत्रित किये। अतः मुनि को रौद्रध्यान नहीं होता। बाकी देशविरति श्रावक तक वह कभी कभी आ सकता है।

प्रश्न— श्रावक को त्रस की दया अहिंसा का तो व्रत है, फिर वह उन जीवों के घात का चिंतन क्यों करे? कैसे करे?

उत्तर— उसे निरपराधी त्रस जीवों का निरपेक्ष हिंसा नहीं करने का व्रत है; किन्तु अपराधी त्रस जीव की अहिंसा का व्रत कहा है? वहां सम्भव है कि ऐसी हिंसा के क्रूर चिंतन में चढ जाय तब रौद्रध्यान होता है।

प्रश्न— तो उस समय सम्यक्त्व रहेगा? यदि न रहे तो वह तुरन्त उस गुणस्थानक से नीचे गिरता है। फिर उस गुणस्थानक पर रौद्रध्यान कहां रहा?

उत्तर— ऐसा नहीं है। सम्यक्त्व रह सकता है क्योंकि सम्यक्त्व मे सर्वज्ञोक्त हेय उपादेय पदार्थों की मात्र यथार्थ श्रद्धा ही है, पर हेय का त्याग नहीं है। अतः कर्मवश हेय का सेवन करता है। तब भी हेय गलत है, ऐसी श्रद्धा परिणति मन के भीतर हो सकती है। 'मारने मे दोष नहीं', यह बुद्धि मिथ्यात्वमोहनीय कर्म करवाता है। 'उसे मारुं'; ऐसी बुद्धि चारित्र मोहनीय करवाता है। इससे मिथ्यात्व जाकर समकित आया हो तब भी चारित्र मोहनीय कर्म मारने की बुद्धि करवाये ऐसा होता है। इसलिए कहा कि 'देशविरति तक के जीवो का मन रौद्रध्यान भी अपना सकता है।' यहां 'मन' शब्द

एयं चउव्विहं राग-दोस मोहाउलस्स जीवस्स ।
रोद्दज्झाणं ससारवद्धणं नरयगइमूले ॥२४॥

अर्थः—यह चार प्रकार का रौद्रध्यान राग द्वेष और मोह से व्याकुल जीव को होता है। यह संसार की वृद्धि करवाने वाला और नरकगति की जड है।

रखा, वह ध्यान की विचारधारा मे मन प्रधान अंग है यह सूचित करने के लिए ही रखा है।

यो चाहे देशविरति तक के जीवों को चाहे रौद्रध्यान आता हो परन्तु इससे उनका यह ध्यान प्रशसनीय नही हो जाता। वह तो निन्द्य है, अकल्याण करने वाला है। वह जरा ज्यादा टिका या ज्यादा उग्र बना तो सम्भव है कि हृदय मे अनन्तानुबन्धी कषाय उठे और जीव को नीचे मिथ्यात्व तक घसीट जाय।

रौद्रध्यान का फल और लेश्या

अब यह आर्त्तध्यान किस बल पर होता है और उससे भी ज्यादा क्या है तथा कौन सी गति होती है यह बताते हैं:—

विवेचन :

जो जीव राग से या द्वेष से या मोह मूढता या मिथ्याज्ञान से विशेष आकुल व्याकुल हो, उसे इन चारों मे से किसी भी प्रकार का रौद्रध्यान हो जाता है। जगे ही ऐसा नियम नही, परन्तु बहुत राग द्वेष मोह की पीड़ा खड़ी हुई तो रौद्रध्यान को जगाने की सुविधा हो जाती है। मम्मण को धन के अति राग की पीड़ा थी। अग्निशर्मा को बाद को भवो में समरादित्य के जीव के प्रति बहुत द्वेष की पीड़ा थी और सुभूम चक्रवर्ती बहुत मूढ बना, तो इन सब

को रौद्रध्यान हुआ। अतः चित्त यदि बहुत राग द्वेष या मोह में वासित हो जाय, घिर जाय तो फिर उस विषय के हिंसा, झूठ, चोरी, संरक्षण के क्रूर चिंतन में ही मन के तन्मय होने की सम्भावना है और इससे रौद्रध्यान आ खड़ा होता है। अतः उससे बचना हो तो इस तीव्र राग, द्वेष, मोह को रोके रखना चाहिये।

सानुबन्ध कर्म से संसार वृद्धि

यह अच्छी तरह सोच समझ लेना चाहिये कि रौद्रध्यान सामान्यतः संसार की वृद्धि करने वाला है और खास तौर से नरक-गति के पापों का सर्जन करने वाला है। संसार वृद्धि अर्थात् भवों की परम्परा। यह सानुबन्ध पाप कर्म के योग से होती है। 'सानुबन्ध कर्म' याने क्या? यहां खुशी से जो दुष्कृत्य किये जाते हैं, उससे जो अशुभ कर्म खड़े होते हैं वे ऐसे होते हैं कि आगे के भव में उनका उदय होने पर नई पाप बुद्धि उत्पन्न होकर नये दुष्कृत्य किये जायं, नये अशुभ कर्म बांधे जायं, तो वे पूर्व के कर्म अनुबन्ध (परम्परा) वाले याने सानुबन्ध कर्म कहे जाते हैं। ऐसे कर्म दुःख तो देते ही हैं, पर साथ में पापबुद्धि, नये पाप और उससे भवों की परम्परा का सर्जन करे वे सानुबन्ध कर्म। ऐसे सानुबन्ध कर्म चित्त के तीव्र संक्लेश वाले भावों से बांधे जाते हैं। रौद्रध्यान में तीव्र संक्लेश ही होता है, इससे उनसे बांधे जाने वाले सानुबन्ध कर्म द्वारा भव परम्परा का सर्जन होना, संसार की वृद्धि होना यह स्वाभाविक है।

विशेष रूप से रौद्रध्यान नरकगति की जड़ है। जड़ है तो वृक्ष सलामत है। रौद्रध्यान पर नरकगति में वेदना देने वाले कर्मों का पेड़ उगता है। व्यक्त उत्कृष्ट दुःखों वाली गति नरकगति है तथा व्यक्त उत्कृष्ट अशुभ ध्यान रौद्रध्यान। इन दोनों का कार्य कारण भाव है। उत्कृष्ट अशुभ ध्यान से उत्कृष्ट अशुभ गति, अतः रौद्रध्यान से नरकगति।

काबोय-नील-काला लेस्साओ तिव्वसंकिलिट्ठाओ ।
रोद्दज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणियाओ ॥२५॥

अर्थः—रौद्रध्यान मे चढे हुए को तीव्र संक्लेशवाली कापोत, नील व कृष्ण लेश्याएं होती है और वे कर्म परिणाम से उत्पन्न होने वाली है ।

प्रश्न— यो तो अविरत सम्यक्त्व में तथा देशविरति मे भी कभी कभी रौद्रध्यान आ जाने का कहा, तो उन्हे नरकगति का बन्ध क्यो नही ?

उत्तर— इसका कारण है, साथ में रहे हुए सम्यक्त्व का प्रतिबंधक होना । वह नरकगति का रोकने वाला है । परन्तु ऐसा रौद्रध्यान उठे तब हम अपने आप मे सम्यक्त्व के टिकने का विश्वास कैसे रख सकते है ? अतः ससार वृद्धि तथा नरकगति से बचने के लिए सदा रौद्रध्यान से बचना चाहिये ।

रौद्रध्यान में लेश्या

अब रौद्रध्यान वाले को कौन सी लेश्या होती है, वह कहते हैः—

विवेचन :

रौद्रध्यान के समय जीव को कापोत लेश्या, नील लेश्या और कृष्ण लेश्या होती है । यो तो आर्त्तध्यान के वक्त भी ये लेश्याएं होती हैं, परन्तु इसमें वे उससे ज्यादा तीव्र संक्लेश वाली होती हैं । लेश्या कर्मजन्य पुद्गल परिणाम है, वैसे वर्ण के पुद्गल हे और उनके सम्बन्ध से जीव को वैसा भाव जागता है। रौद्रध्यान मे रागादि तीव्र संक्लेश के कारण लेश्या के भाव भी अति संक्लेश वाले होते हैं । श्रेणिक कृष्ण मे क्षायिक सम्यक्त्व था, तब भी अन्त

लिंगाइं तस्स उस्सण्ण-बहुल नाणाविहाऽऽमरणदोसा ।
तेसिं-चिय हिंसाइसु बाहिरकरणोवउत्तस्स ॥२६॥

अर्थ – रौद्रध्यानी के लिंग, चिह्न ये हैं:—
उन्मन्न दोष, बहुल दोष, नानाविध दोष और आमरण दोष। (रौद्र-ध्यान के एक प्रकार में सतत प्रवृत्ति, चारों प्रकार में बहुत प्रवृत्ति, हिंसादि के उपायों में अनेक बार प्रवृत्ति और स्व या पर के मृत्यु तक भी असताप।) ये लिंग हिंसा मृषा आदि में बाह्य साधन वाणी काया द्वारा भी लगे हुए को होते हैं —

समय में कौणिक द्वैपायन पर तीव्र द्वेष उठने से हिंसानुबन्धी रौद्र-ध्यान आया तो वहा तीव्र सक्लेश वाली कृष्ण लेश्या आ गई।

रौद्रध्यानी के बाह्य लिंग-लक्षण

अब रौद्रध्यान वाला किन लिंग या लक्षणों से पहचाना जाता है वह बताते हैं.—

विवेचन :

हृदय मे, मन में, रौद्रध्यान की प्रवृत्ति चलती है, उसका पता नीचे के चिह्नों से चलता है.

पहले तो अन्तर के रौद्रध्यान के अनुरूप वचन और कायारूपी बाह्य साधन से हिंसा मृषा आदि मे जीव लगा हुआ रहता है। उदा० हिंसा के बारे में कहता हो, 'मार डालूंगा, मुंह तोड़ दूंगा .. इन लुच्चों को तो मार ही डालना चाहिये....' इत्यादि। यह हिंसानुबंधी ध्यान के बारे में हुआ। वैसे ही मृषानुबन्धी ध्यान के बारे में कहे, 'आज सच बोलने वाले की दुनिया नहीं है। इनके आगे तो झूठ ही चलाना चाहिये। उसकी पोल तो खोलना ही चाहिये' आदि। स्तेयानुबन्धी मे वह बोलता है, 'आज के श्रीमन्तों को तो लूटना ही

चाहिये। सरकार टैक्स क्या ले जाय? उसे तो ऐसे सफाई बन्द तैयार किये हुए बनावटी चोपडे ही दिखाने चाहिये कि वह हवा खाय। तब भी यदि अफसर चू चा करे तो उसे किसी गुण्डे द्वारा उडा देना चाहिये।' आदि। सरक्षणानुबन्धी ध्यान मे बोले; 'आज तो बिजली आदि के साधन प्राप्त हैं। उन्हे काम मे लगा कर पैसे तिजोरी मे इस तरह रखना चाहिये कि जिससे उन्हे चुराने वाला मरे'... इत्यादि।

जैसे वचनो से हिंसादि मे उपयोग वाला हो, वैसे ही काया-शरीर से हिंसादि मे इसी तरह लगा हुआ हो। उदा० आखो मे खुन्नस रहता हो, हाथ मे छुरा आदि रखकर किसी पर उठाता हो, खोपडी तोडने के लिए मुक्का उठाया हो, गुण्डाओ की सहायता लेकर आ खडा हो....आदि।

इस तरह वचन व काया के प्रयोग से हिंसा मृषादि में लगा रहता हो और हिंसानुबन्धो आदि मे प्रवृत्ति उत्सन्न, बहुल, नाना-विध और आमरण ऐसे चार दोष वाली हो, तो वे रौद्रध्यान के लिंग, लक्षण है, ज्ञापक (बताने वाले) चिह्न हैं। इससे समझ में आवेगा कि उसके अन्तर मे रौद्रध्यान की प्रवृत्ति है।

(१) **उत्सन्न दोष**-अर्थात् हिंसादि चारों मे से किसी भी एक मे सतत, अधिकाश बहुत प्रवृत्ति करता हो अर्थात् बार बार हिंसा करे, हिंसा का बोले या झूठ का समर्थन करे इत्यादि। अथवा

(२) **बहुल दोष**-याने मात्र एक मे ही नहीं, पर हिंसादि चारो मे वाणी तथा बर्ताव से बार-बार प्रवृत्ति करता हो। या

(३) **नानाविध दोष**-अर्थात् हिंसादि के अनेक उपायो मे प्रवृत्ति करता हो। उदा० चमड़ी उखाड़ना, आँखें फोड़ना आदि

परवसणं अहिनंदइ निरवेक्खो निद्दओ निरणुतावो ।
हरिसिज्जइ कयपावो रोद्दज्झाणोवगयचित्तो ॥२७॥

अर्थः—दूसरे के कष्ट पर खुश होना, इहलोक परलोक भय में बेपरवाह, निर्दय होना, पश्चात्ताप रहित होना और पाप करके खुश होना ये सब रौद्रध्यान प्राप्त चित्त के लक्षण हैं।

हिंसा के उपाय कहलाते हैं। उसमें तथा झूठ चोरी संरक्षण के विविध उपायों में प्रवृत्ति करता हो। और

(४) आमरण दोष-याने चाहे अपना या सामने वाले का मृत्यु हो जाय वहां तक उसे अपने हिंसादि दुष्कृत्य का कोई पश्चात्ताप ही न हो। उदा० काल्सौकरिक कसाई को श्रेणिक राजा ने कुए में उलटा लटका दिया, जिससे वह हिंसा बन्द करे, परन्तु उसने तो वहां भी मिट्टी से ही कुंए की दीवार पर भैंस बना बनाकर उन्हें काटता रहा। यह तो केवल उलटा ही लटकाया गया था, पर मरता तो भी क्या ? हिंसा का रोष, खुन्नस पूरा ही नहीं होता।

यों वचन से या काया से झूठ, चोरी तथा संरक्षण में प्रवृत्ति करे ये सब रौद्रध्यान के चिह्न हैं।

अब दूसरे चिह्न कहते हैं.—

विवेचन :

जिसका चित्त रौद्रध्यान में चढ़ा हुआ होता है उसके अन्य भी कुछ चिह्न होते हैं। वे ये हैः—

(५) दूसरे पर आफत कष्ट या संकट आवे तो उस पर खुश होता है। चित्त बहुत संक्लेश वाला होने से उस पर खुश होकर कहे, 'यह अच्छा हुआ कि उस पर आफत आई। वह इसी के लायक था।

(६) वह जिस किसी दुष्कृत्य का सेवन करता हो, वह निरपेक्ष हृदय से अर्थात् इस लोक या परलोक में उसके कैसे उपाय या अनर्थ होंगे उसका कुछ भय नही, परवाह नही है। उदा० वह कहे, आज साहूकारों मे तो मृत्यु है, झूठ चोरी से ही जिया जा सकता है। इसमे कुछ हर्ज नहीं, पाप वाप क्या लगते थे ?

(७) जीवन जीते हुए जीवो पर दया न हो, उसके वचन तथा वर्ताव ही ऐसे निर्दय निष्ठुर दिल के दिखाई देते हो। उदा० वह कहे, 'भगवान ने ये दूसरे जीव अपने जीने के लिए ही बनाये हैं।' 'जीवो जीवस्य जीवनम्'....'अपने को हैरान करे उसे खतम करो' आदि। चलने मे भी कीडे मकोडो के मरने की परवाह न करे। खाने पीने मे अभक्ष्य पदार्थो का खुशी से खुलकर उपयोग करे। इत्यादि आन्तरिक रौद्रध्यान का सूचक है।

(८) पुन: किसी को दु:ख दिया, कोई पाप किया, अनुचित वर्ताव किया... इत्यादि का सताप पछतावा ही नही होता। मुख व मुद्रा ऐसे ही ढीठ दिखते है। या बोलेगा; 'इसमे क्या हो गया ? क्या बुरा कर दिया ?' कोई शिक्षा दे तो सामने उल्टा बोलेगा 'ऐसा मैंने क्या किया है ? ये तुम ही मुझे हलका बताते हो....' यह क्या है ? आन्तरिक रौद्रध्यान का बाह्य स्वरूप-वचन में।

(९) पाप करके खुश होता है फिर बाहर अपना बड़प्पन गाता है। 'कैसा पीटा ?' उदा० त्रिपृष्ठवासुदेव ने सिंह को चीर डाला और शय्यापालक के कान मे गरम किया हुआ सीसा डलवाकर आनन्द का अनुभव किया। पाप का भारी आनन्द दिखाई दे तो समझना चाहिये कि अन्तर मे रौद्रध्यान प्रवर्तित है।

दूसरे का तो बाद मे, पर अपने स्वयं के बारे मे खास देखने का है कि ऐसा कोई लिंग तो नही है न ? मूढ मन रौद्रध्यान करता हो तब भी उसे नही लगता कि मैं रौद्रध्यान करता हूं। वहां उप-

झाणस्स भावणाओ देसं कालं तहासणविसेसं ।
आलंबणं कमं झाइयव्वयं जे य झायारो ॥२८॥
तत्तोऽणुप्पेहाओ लेस्सा लिंगं फलं य नाऊणं ।
धम्मं झाइज्ज मुणी तग्गयजोगो तओ सुक्कं ॥२९॥

अर्थ:—ध्यान की भावना[1], देश[2], काल[3], आसन[4], आलंबन[5], क्रम[6], उद्देश्य[7] (ध्येय) या ध्यान का विषय, ध्याता[8], अनुप्रेक्षा[9], लेश्या[10], लिंग[11] तथा फल[12] को जानकर मुनि उसमें चित्त लगाकर धर्मध्यान करे। उसके बाद शुक्ल ध्यान करना चाहिये।

रौद्र कोई लिंग दिखाई दे तो अन्दर में रौद्रध्यान होने का समझकर उसे रोक देना चाहिये और उसके लिए बाहर के इन लिंगों लक्षणों से उलटा मार्ग लेना चाहिये। उदा० दूसरे की आफत देखकर अपने मन में दुःख लगाना, हमदर्दी दिखाना, प्रार्थना करना 'बिचारे की आपत्ति मिटो।' आदि।

यह रौद्रध्यान के बारे में विचार हुआ।

धर्म ध्यान

अब यहां धर्मध्यान का वर्णन करने की बारी आने से, ग्रन्थकार उसका निरूपण करने की इच्छा से उसका व्यवस्थित प्रतिपादन करने के लिए धर्मध्यान के सम्बन्ध में १२ द्वार, १२ मुद्दे (Points) बताते हैं। फिर प्रत्येक के विषय की स्पष्टता करते हुए धर्म ध्यान विस्तार सहित तथा व्यवस्थित रूप से समझाई जायेगी। आगे शुक्ल ध्यान के विचार के लिए भी ये ही १२ द्वार रहेंगे।

धर्म ध्यान के १२ द्वार

अब १२ द्वारों के नाम बताते हैं:—

पुव्वकयब्भासो भावणाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ ।
ताओ य नाणदंसण चरित्त वरेग्गनियताओ ॥३०॥

अर्थः—ध्यान से पहले भावनाओं से अथवा भावनाओ का अभ्यास करने से ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। ये भावनाएँ ज्ञान दर्शन चारित्र तथा वैराग्य के साथ सबद्ध हे।

विवेचन :

धर्म ध्यान क्या है उसका वर्णन करने के लिए इस प्रकार १२ द्वार हैं—

(१) ध्यान की भावनाएँ उदा० ज्ञान भावना, दर्शन भावना आदि (२) ध्यान के लिए उचित देश या स्थान (३) उचित काल (४) उचित आसन (५) धर्म ध्यान के लिए आलम्बन जैसे वाचना आदि (६) ध्यान का क्रम मनोनिरोध आदि (७) ध्यान का विषय ध्येय जैसे जिनाज्ञा, विपाक आदि। (८) ध्याता कौन ? अप्रमाद आदि वाले (९) अनुप्रेक्षा याने ध्यान रुकने पर चिंतन करने योग्य अनित्यता, अशरणता आदि का आलोचन (१०) धर्मध्यानी की शुद्ध लेश्या (११) धर्मध्यान का लिंग, सम्यग् श्रद्धा आदि और (१२) ध्यान का फल।

इन १२ द्वारों से धर्म ध्यान का अच्छा परिचय प्राप्त करके उसकी भावना, कारण, आलम्बन आदि का अच्छा अभ्यास प्राप्त करके धमध्यान करना और उसके वाद पराकाष्ठा पर पहुंचकर शुक्ल ध्यान करें।

ये १२ द्वारो के नाम वताने के वाद अब प्रत्येक द्वार के वारे मे ग्रन्थकार विस्तार से कहेगे।

ध्यान भूमि का रूप ४ भावनाएं

अव प्रथम द्वार 'भावना' का अर्थ समझाते हुए कहते है:—

विवेचन :

भावना याने अभ्यास का साधन या अभ्यास का विषय। वह चार प्रकार से है। ज्ञान भावना, दर्शन भावना, चारित्र भावना तथा वैराग्य भावना। ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा वैराग्य से अभ्यास या ज्ञानादि चार का अभ्यास किया जाय वह भावना। प्रत्येक का इन का अभ्यास कैसे किया जाय वह आगे वताते हैं। अभ्याम मे मन भावित होता है अत. वह भावना हुई।

भावना से ध्यान में क्या विशिष्टता ?

परन्तु इतना समझ लेना चाहिये कि इन भावनाओं का पहले अभ्यास करने से फिर धर्मध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। शुभ ध्यान मे रहने के लिए मन की निश्चलता चाहिये और इसके लिए मन से इन ज्ञानादि भावनाओ का अभ्यास करे, तभी वह ध्यान के लिए शान्त और सशक्त वनकर निश्चल होता है। मन का रोष या गरमी मे चंचलता आती है और मनकी अशक्तता उसे तत्त्व पर स्थिर होने नही देती। उसे दूर करके मन मे शान्ति और शक्ति लाने के लिए पहले ज्ञानादि भावनाओ का अभ्यास करना पड़ता है। इस अभ्यास से मन ज्ञान दर्शन चारित्र वैराग्य से भावित होता है, वासित होता है, रग जाता है। अतः फिर मन को चंचल करने वाले; निसत्त्व करने वाले अज्ञान, मिथ्या ज्ञान, आहार, परिग्रह, इन्द्रिय विषयो, कषायो तथा संसारासक्ति से मन जो अनन्त काल से रगा हुआ था, भावित हो चुका था, उसमे मन्दता आती है। उसका इन संसारादि के विषयो से भावित होना कुछ हलका या मन्द हो तभी, इस भावितता के कारण मन जो चंचल, अशान्त तथा निसत्त्व

झाणेणिच्चब्भासो कुणइ मणोधारणं विसुद्धिं च ।
णाणगुण मुणियासारो सोझाइ सुनिच्चलमई ओ ॥३१॥

अर्थः—श्रुतज्ञान मे हमेशा प्रवृत्ति रखना, (उसके द्वारा) मन को (अशुभ व्यापार रोककर) धारण कर रखे, (सूत्र व अर्थ की) विशुद्धि करे। 'च' शब्द से भवनिर्वेद का अभ्यास करे और ज्ञान से जीव अजीव के गुणपर्याय के सार परमार्थ को जाने। (अथवा ज्ञान गुण से विश्व के सार को समझे।) उसके बाद अतिशय निश्चल बुद्धि वाला बनकर ध्यान करे।

(मुर्दे सा) रहता था वह अब स्थिर, शान्त तथा सशक्त बन जाता है।

यह परिस्थिति खडी करने के लिए ज्ञानादि भावना का अभ्यास करना चाहिये। इससे यह स्पष्ट है कि आगे कही जाने वाली ज्ञानादि भावनाओं की प्रक्रिया का आचरण करने से आत्मा ज्ञानादि से भावित होता जाना चाहिये, मन रंगता जाना चाहिये। भावित करे इसलिए भावना। ऐसे ज्ञानादि से भावितता आती जाती है। ज्ञानादि का ऐसा रंग चढता जाता है इसका प्रमाण यह है कि जीव को मिथ्या ज्ञान, आहार, विषय, परिग्रह और कषायो का रग हलका होता जाय, उतर जाय। फिर ये चीजें मन को ध्यान में से खीच नही सकें, हटा नही सकें। जिसका रग नही, मन को उसका आकर्षण भी नही।

ज्ञान भावना : पांच

अब पहले ज्ञान भावना का स्वरूप और उसका गुण बताते हुए कहते हैं.—

विवेचन :

पहली ज्ञान भावना मे पाच कार्य करने के हैं.—

१. श्रुत ज्ञान मे नित्य प्रवृत्ति।

२ मन को अशुभ भाव से रोकना।

३ सूत्र अर्थ की विशुद्धि।

४. भवनिर्वेद तथा

५. परमार्थ की समझ।

१. ज्ञान का नित्य अभ्यास:—श्रुतज्ञान अर्थात् सर्वज्ञ के शास्त्रो के ज्ञान मे हमेशा लगा रहे। इसमे भी इन शास्त्रो का पाच प्रकार से स्वाध्याय करता रहे: (१) शास्त्र पढने के लिए गुरु से उसकी वाचना ले, सूत्र अर्थ के व्याख्यान ले। पढकर उसमे चतुर बनकर फिर दूसरे को वाचना दे, अन्यथा मन खाली होते ही उसमे गलत विचारो के भूत घुस जावेंगे। (२) स्वयं वाचना लेने के बाद उसमे शंका पडने पर गुरु को पूछे; अन्यथा शंका से समकित जाय' जैसा हो जाय। (३) पढ़े हुए सूत्र अर्थ का परावर्तन पुनरावर्तन करता रहे। अन्यथा भुला देने पर उसका पारायण-स्वाध्याय नही हो सकेगा। (४) अनुप्रेक्षा याने सूत्र अर्थ का चिंतन मनन करे। इससे उसमे से विशेष रहस्य खुलें, श्रद्धा दृढ हो, तात्त्विक तर्क सिद्ध श्रद्धा हो, जिससे सामने से आकर्षक तथा चाहे जैसी विपरीत बात आवे, तब भी मन नहीं डिगे। (५) धर्मकथा याने पढ़े हुए श्रुत पर धर्मविचारणा व धर्मोपदेश करे। इस तरह श्रुतज्ञान मे नित्य प्रवृत्तिचालू रखे।

२. मनो धारण:—उपरोक्त नित्य ज्ञानाभ्यास तो करे, पर मन को बीच बीच मे अशुभ या मुफ्त के विचारो या मलिन वृत्तियों में जाने दे तो मन इस श्रुतज्ञान से भावित नही होगा। अत: उन अशुभ व्यापारों मे से मन को बचाले, धारण करे। श्रुत शास्त्र पर अब हद प्रीति बहुमान धारण करने से यह सम्भव होगा।

क्योकि तब मन को समझा लिया जाय कि 'इस श्रुताभ्यास के समय तू किससे बात कर रहा है ? शास्त्र रचयिता महान गणधर या आचार्य महाराज के साथ। तो बडे के साथ बातें चालू हो उस समय दूसरे के साथ बातें नही हो सकती।' इस तरह समझाकर दूसरे तीसरे विचारो मे जाते हुए मन को रोका जा सकता है। इसका नाम मनोधारणा।

३. विशुद्धि:—नित्य ज्ञानाभ्यास तथा मनोधारणा करने पर भी यदि जिस सूत्र को पढ रहे हैं उसे अर्थ शुद्ध न पढें, तो शुद्ध ज्ञान भावना नही होगी। अतः उसके ज्ञान को विशेष विशेष शुद्धि करना आवश्यक है; वह ऐसा कि सूत्र स्वनामवत् परिचित हो जाय और अर्थ का हूबहू चित्र नजर समक्ष खडा हो जाय। फिर उसका आनन्द ही और हो जावेगा। मन उससे ऐसा ज्यादा भावित होकर उसमे जकड़ा हुआ रहेगा कि ध्यान के एकाग्र चिंतन के लिए सुन्दर अवस्था खडी हो जाय।

४. भवनिर्वेद:—ज्ञान भावना के लिए ससार पर चमकता हुआ वैराग्य (भवनिर्वेद) भी अत्यन्त जरूरी है। वह यदि नही होगा तो ससार पर राग रहेगा। इससे ससार का कोई वैभव सत्ता, सन्मान, मुलायमियत आदि मनको पकड लेगा। ज्ञान पढेगा तो कदाचित ऐसे ससार हेतु के लिए, तो उसमे पवित्र शुद्ध ज्ञान-भावना कहा से होगी ? अत तीव्र भवनिर्वेद का अभ्यास जरूरी है। दूसरे यह भी कि जिन सम्यक् शास्त्रो का ज्ञान लेने व रटने मे आता है, उसमे तो मुख्यत: आत्म-तत्त्व की बातें होती है, रागादि दोषो को नष्ट करने का उपदेश होता है, तो वह हृदय मे कब उतरे ? उससे दिल पिघल कर उन बातो से कब रग जाय ? हृदय मे भवनिर्वेद चमकता हो, जगमगाहट करता हो तभी। इसलिए भी भवनिर्वेद का अभ्यास आवश्यक है।

जीवाजीव के गुण पर्याय का सार

५. ज्ञानगुण ज्ञान सार:—इसके दो अर्थ हैं:-(१) ज्ञान से जीव अजीव के गुणपर्याय के परमार्थ को जाना हो अथवा (२) ज्ञान के प्रभाव से विश्व के सार को परमार्थ को जाना हो। यह जानने का तरीका यह है:—

(1)नाणगुण सुणियसारो का अर्थ.—जीव के गुण दो प्रकार के हैं। १. ज्ञान, दर्शन, सद्वीर्य, चारित्र, त्यागतप, उपशम उदासीनता आदि तथा २ राग, द्वेष, कषाय, असद्वीर्य, आहारादि संज्ञा, सुख दुःख, मान अपमान, आदि। इसमें ज्ञानादि ये अपने स्वाभाविक गुण हैं और रागादि औपाधिक (उधार) गुण हैं। इसी तरह जीव के पर्याय भी दो प्रकार के हैं.-(१) मोक्ष अवस्था में होने वाले भिन्न भिन्न शुद्ध ज्ञानादि परिवर्तन के कारण उपस्थित होने वाली उस उस समय की स्थिति-वर्तना; ये स्वाभाविक पर्याय है और २ भिन्न भिन्न गति शरीर वय, आपत्ति संपत्ति की भिन्न भिन्न अवस्थाएं आदि। ये औपाधिक पर्याय हैं।

अब इन दोनों प्रकार के गुण व पर्यायों को जान कर उनमें से सार खींचना या परमार्थ पकड़ना। उसमें—

स्वात्मा के गुणपर्याय का सार:-यह इस तरह है कि 'इन दोनों में स्वाभाविक गुण पर्याय ही मेरी सच्ची वस्तु है। औपाधिक गुण व पर्याय तो अज्ञान और कर्म की उपाधि से उत्पन्न होने से आये गये जैसे हैं। उन पर क्या आधार रखा जाय? रागादि होते हैं आत्मा के अज्ञान के कारण। सुख दुःखादि होते हैं, वह कर्म की विडम्बना है। अज्ञान तथा कर्म की विडम्बना से किस लिए पीटा जाना? इस तरह औपाधिक पर्याय भिन्न भिन्न भवादि भी कर्म की विडम्बना ही है। काल कर्म भवितव्यता का तो नाटक है।

इसमे क्या परेशान होना ? ये गुण तो आत्मा के गिने जाते है और उल्टे उसे ही विडम्बना करते है। अतः ये तो अपकारी हैं। हां, आराधना मे ये मानव-शरीर आदि उपयोगी होते है सही, परन्तु उनकी जाति तो औपाधिक की ही है। अतः अन्त मे छोड़ने पड़ेंगे, छूटे तभी तो मोक्ष होगा। अतः उनका ममत्व तथा लालन-पालन नही करना चाहिये। ममता तो ज्ञानादि स्वाभाविक गुणो की ही करनी चाहिये, प्रयत्न भी उसी के लिए हो। वैसे ही पर्यायो के लिए ख्वाब-इच्छा तो मोक्ष-पर्यायो की ही रखना चाहिये, 'कब वे प्रकट हो ?' इसका नाम जीव के गुण पर्याय का सार परमार्थ जानना। यह अपने जीव के बारे मे गुणपर्याय का सार हुआ।

दूसरे जीव के गुणपर्याय का सार-परमार्थ: अब इस भी ध्यान मे लेना चाहिये। इससे जीवों के साथ सम्बन्ध होने पर निमित्त वश या कल्पना मात्र से मन अशुभ भाव मे जाता हुआ रुक जाय और ध्यान का भग न हो। इसमे सार क्या ग्रहण करने का है ? यही कि, '(१)यदि ये जीव राग, मोह आदि करते है तो ये उनके औपाधिक गुण है। इससे न उनको लाभ है न मुझे लाभ है। अत. मुझे रागमूढ नही होना चाहिये। (२) तब यदि ये जीव ईर्षा द्वेष आदि करते हुए आते है तो ये बिचारे अपने असली गुण उपशम को ठेस पहुँचाते है। इससे मुझे उनकी करुणा का चितन करना चाहिये, जिससे मेरे असली गुणो को समर्थन मिले। फिर ये जीव ज्यादा सुखी सपत्तिवान यशस्वी दिखते है तो वह उनके पुण्य की लीला है, औपाधिक है, अतः मेरे लिए ईर्ष्या करने योग्य नही है। दुःखी दिखें तो करुणा पात्र है। जीवो मे दोष दिखें वे उपेक्षा योग्य है। इत्यादि रूप मे अन्य जीवो के गुणपर्याय का परमार्थ पकडना चाहिये।

यह जीव के गुणपर्याय का सार परमार्थ जानने की बात हुई।

अजीव के गुणपर्याय के परमार्थ का विचार :

अजीव मे मुख्य द्रव्य पुद्गल है। जीव के सम्बन्ध में इस जड पुद्गल की बहुत सी वस्तुएं आती है और जीव उसके अच्छे, बुरे रूप रस आदि गुणो तथा उसके अमुक भाव व पर्याय देख कर उनमे मोहित हो जाता है और राग मे या द्वेष में पडता है। वहा यदि उसके गुणपर्याय का मर्म सार जाना सोचा हो तो उससे मोहित होने का न हो।

अनुकूल प्रतिकूल में ध्यान कैसे नही बिगड़े ?

उदा० मूल्यवान हीरे की कीमत, चमक आदि देख कर जीव मोहित हो जाता है। परन्तु यदि उसका सार पकडे कि, 'यह बहुत ही राग, मोह, ममता कराने वाला होने से चिकने कर्म तथा दुर्गति का सर्जन करने वाला है।' तो राग मोह आदि उतर जाय और इसीसे फिर कोई शुभ ध्यान के बीच मे उसका हस्तक्षेप नही रहे :

वैसे ही प्रतिकूल वस्तुओ के अनिष्ट गुणो से घबरा कर द्वेष न कर के उसका सार रूप यह देखे कि 'ये अनिष्ट पदार्थ वैसे वैसे अशातावेदनीय आदि कर्म खपाने मे सहायक है', तो भी चित्त की स्वस्थता रहे और ध्यान न बिगडे। महात्माओ ने घोर उपसर्ग मे यह सार पकडा कि 'यह शस्त्र-प्रयोग तो काया को काटेगा, छेदन करेगा या जलायेगा, पर आत्मा तथा उसके ज्ञानादि गुणो का जरा भी छेदन भेदन या दहन नही कर सकता। उल्टे उसकी वेदना से तो आत्मा पर बद्ध कर्म क्रमश उदय प्राप्त करते करते अवश्य क्षय होते जाते है। बाह्य शस्त्र वास्तव मे तो आतरिक कर्म की गांठ को काटता है। इसमे बुरा क्या है ?' इस तरह यदि सार पकडा तो ध्यानधारा शुक्ल ध्यान तक चढ गई। अन्यथा वह खण्डित हो जाती है।

'नाणगुण मुणियसारो' का एक अर्थ यह हुआ कि 'ज्ञान से जीव अजीव के गुणपर्याय का सार पकड़ो।'

(ii) 'नाणगुणमुणियसारो' का दूसरा अर्थ :

'ज्ञान के प्रभाव से विश्व का सार पकडा हो' इसका भाव यह है कि विशेष श्रुतज्ञान से विश्व के धर्मास्तिकायादि छ द्रव्य जाने, उनके परस्पर सम्बन्ध जाने, उन पर काल, स्वभाव, भवितव्यता, कर्म व पुरुपार्थ नामक पाच कारणो का प्रभाव जाने, उनमे परिवर्तन होने वाले पर्याय जाने। यह सव जान कर उसका यह सार पकड़े कि 'सव द्रव्य द्रव्यरूप मे नित्य है, किन्तु पर्याय रूप से अनित्य है।' इसमे अकेला नित्य अश ही पकड कर मोहित होने जैसा नही है, क्योकि पर्याय पलटने वाला है, वदलने वाला है। अकेले अनित्य अश को ही पकडकर घवराने जैसा भी नही है, क्योकि उसका मुख्य स्वरूप नित्य होने से वह कायम रहेगा। उदा० 'आत्मा को शुभ कर्मो के योग से स्वर्गीय सुख सन्मानादि मिले। पर ये सुख-पर्याय अनित्य है। इनमे मोहित होने जैसा नही है। वैसे ही आत्मा को अशुभ कर्मो के सयोग से दुख आवे, तो भी घवराने का नहीं, क्योकि उसके सब के बीच मे आत्मा का असल ज्ञानादि स्वरूप नित्य है, कायम है, आने वाला दुख तो चला जावेगा, पर ज्ञानादि गुण स्थिर रहेगे। फिर चिन्ता क्या ? इस तरह ज्ञान के प्रभाव से विश्व का सार पकडने से हर्ष उद्वेग न होकर उदासीन भाव खड़ा होगा। इससे कर्म वन्धन नही होगा, साथ ही ध्यान भग भी न होगा। इससे कर्म-निर्जरा होगी।

तात्पर्य यह है कि दोनो अर्थ मे जीव अजीव के गुण पर्याय का सार या विश्व का सार पकड़ने से अन्यथा प्रवृत्ति याने रागादि भरी

संकाइदोमरहिओ पसम-थेज्जाइगुणगणोवेओ ।
होइ असंमूढमणो दंसणसुद्धीए झाणंमि ॥३२॥

अर्थः—(सर्वज्ञ वचन मे) शका आदि दोष रहित तथा सर्वज्ञ शास्त्र परिचय, प्रशम, सम्यक्त्व मे स्थिरता, गिरते हुए का स्थिरीकरण आदि गुण समूह से सम्पन्न (पुरुष) सम्यग्दर्शन की शुद्धि से समोहरहित (स्थिर) चित्त वाला हो जाता है—बनता है ।

गलत प्रवृत्ति नही होगी । साथ ही सन्मति मे से चलविचलता (चलित होना) नही होगा । इससे बुद्धि निर्मल और निश्चल रहेगी । इस तरह से ज्ञान भावना का यह पाचवा प्रकार 'नाणगुण मुणियसार' भी ध्यान की अच्छी भूमिका का सर्जन करता है । इसका यह ऐसा अभ्यास आत्मा को शुद्ध ज्ञान से भावित करता है, अतः उसका नाम ज्ञान भावना ।

२. दर्शन भावना

अब दर्शन भावना का स्वरूप तथा उसकी महिमा बताते हुए कहते है:—

विवेचन :

ध्यान के लिए दूसरी दर्शन भावना करना जरूरी है । इसमे आत्मा सम्यग्दर्शन से ऐसा भावित हो जाता है कि यदि वैसा न हो तो उससे विपरीत दोषो के कारण ध्यान अशक्य (असभव) हो जाता, वह अब इन गुणो के कारण स्थिर ध्यान कर सकता है ।

इस दर्शन भावना के लिए इस प्रकार शकादि ५ दोषो का निवारण तथा प्रश्रम, प्रशम आदि ५ गुणो का पालन जरूरी है.

पांच दोष	पांच भूषण	पांच गुण
१ शंका	१ प्रथम	१. प्रशम
२ कांक्षा	२ स्थैर्य	२. संवेग
३. विचिकित्सा	३. प्रभावना	३ निर्वेद
४ प्रशंसा	४ आयतन सेवा	४ अनुकम्पा
५ संस्तव	५ भक्ति	५ आस्तिक्य

सम्यक्त्व में त्याज्य पांच दोष

शंका. याने जिन वचन पर शंका, देश से या सर्व से आंशिक या सर्वथा । उदा० 'आत्म असंख्य प्रदेशी होगा या निष्प्रदेश ?' यह देशशंका 'धर्मास्तिकादि द्रव्य कथनानुसार होंगे या नहीं ?' यह सर्व शंका । शंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि इसमें मिथ्यात्व लगता है । शास्त्र मे मिथ्यात्व के प्रकार कहे है, जैसे कि आभिग्रहिक, अनभिग्रहिक, सांशयिक " आदि, वहां संशय शंका को भी मिथ्यात्व मे गिना । कहा है कि:—

'एकस्मिन्नप्यर्थे सन्दिग्धे, प्रत्ययोऽर्हति हि नष्टः ।
मिथ्यात्वदर्शनं तत् स चादिहेतुर्भवगतिनाम् ॥
सूत्रस्यैकस्यारोचनादक्षरस्य भवति नरः ।
मिथ्यादृष्टिः सूत्रं हि नः प्रमाणं जिनाभिहितम् ॥'

अर्थ —'सर्वज्ञ के कहे हुए एक भी पदार्थ पर शंका हो तो सर्वज्ञ अरिहंत प्रभु परका विश्वास नष्ट हो गया गिना जावेगा । यह मिथ्यात्व दर्शन है और वह संसार की गतियों का प्रथम कारण है ।

'सूत्र के एक भी अक्षर की अरुचि से मनुष्य मिथ्यादृष्टि बनता है। अतः हमारे लिए तो जिनोक्त सूत्र (शास्त्र) प्रमाण है।' इस तरह शंका रहित होना। क्वचित् कहीं शंकास्पद लगे तो भी सोचना चाहिये कि 'जैसे दूसरे सर्वज्ञ-वचन वैसे ही यह वचन भी सर्वज्ञ-कथित होने से सत्य ही है। मात्र हमारी मति दुर्बल है, अतः वह हमारी समझ में नहीं आता।' यह सोचकर शंका दूर करना चाहिये। शंका विनाश का सर्जन करती है। एक माता ने दूध में भुने हुए उड़द डालकर उसका पेय बनाया। उसके दो पुत्र स्कूल से आये। अंधेरा था और वे पीने लगे। एक को शंका हुई 'इस में मक्खियां तो नहीं गिरी?' ऐसी शंका सहित पीता रहा, इससे उसे भी (उलटा) का दर्द लागू हो गया और आखिर वह मर गया। दूसरे ने सोचा, मेरी मां मुझे मक्खीवाला पेय देगी ही नहीं। ऐसे निःशंक दिल से पी कर वह हृष्ट पुष्ट हुआ।

२. कांक्षा—याने बौद्ध आदि अन्यान्य मतों की आकांक्षा, अभिलाषा, वह भी अंश से तथा सर्वथा। 'अंशतः कांक्षा' याने उदा० बौद्ध दर्शन की ऐसी आकांक्षा होती है कि 'इस दर्शन में चित्त-जय का प्रतिपादन है और वह मोक्ष का मुख्य कारण है। अतः यह दर्शन भी कार्य कर सकता है, सर्वथा नगण्य नहीं है।' सर्व-कांक्षा याने सभी दर्शनों की अभिलाषा होती रहे कि 'सब में अहिंसादि तो कहे ही है, तथा लोक में वे कुछ अत्यन्त क्लेश की बात तो कहने वाले नहीं है। अतः सभी दर्शन अच्छे हैं।' ऐसी दोनों कांक्षा गलत है; क्योंकि ये सभी दर्शन एकांतवादी हैं। इससे वे वस्तुतत्त्व को न्याय देने वाले नहीं हैं, उल्टे जो धर्म पदार्थ में सचमुच रहे हुए हैं, वे धर्म उनको असत् लगने से उनका वे खण्डन करते हैं। पुनः मार्ग के बारे में अन्य दर्शन जो अहिंसा या चित्तजय आदि कहते हैं वह स्थूल है। बाकी सूक्ष्म अहिंसा या हिंसा का उन्हें कुछ पता

नही चलना। अतः वे नदी स्नान आदि हिंसा का प्रतिपादन करने वाले होते है। ऐसे दर्शनो की कांक्षा नही रखना चाहिये; अन्यथा सम्यक्त्व को ठेस पहुंचती है। मरीचि ने परिव्राजक वेश मे धर्म है ऐसा कहा तो एक कोड़ाकोडी सागरोपम संसार बढाया।

कांक्षा का दूसरा अर्थ है -इस लोक परलोक के फल की इच्छा। 'धर्म से मुझे पैसा मिले, प्रतिष्ठा मिले, देवलोक के सुख मिलें।' यह निदान या नियाणा कांक्षा है। यह कांक्षा भी गलत है। क्योंकि इससे सम्यक्त्व मे अतिचार लगता है। सम्यक्त्व का लक्षण तो 'सुरनर सुख जे दुख करी लेखवे, वछे शिवसुख एक' (मनुष्यो तथा देवो के सुख को भी दुख के समान समझे और एक मात्र शिव सुख की इच्छा करे।) मोक्ष मे ही एकांत, शाश्वत तथा स्वाधीन सुख है। अत. उसे छोडकर हल्के ठगने वाले ससारसुख की कांक्षा से सम्यक्त्व को हानि होती है, भव भ्रमण बढता है। वीर प्रभु का जीव विश्वभूति मुनि यो ही भटक मरा।

३. विचिकित्सा का एक अर्थ—युक्ति और आगम से सगत क्रिया मे भी, रोग की चिकित्सा की तरह, फल की शंका करे। 'फल मिलेगा या नही ? या रेत के निवाले की तरह उपवासादि निष्फल जावेगा ?' यह शका भी सम्यक्त्व मे अतिचार है। यह तीसरा विचिकित्सा अतिचार।

प्रश्न— 'शका' नामक प्रथम अतिचार मे इसका समावेश नही हो जाता ?

उत्तर— पहला 'शका' अतिचार द्रव्यगुण के बारे मे है, यह क्रिया के फल के बारे मे है। यो तो सभी अतिचार मिथ्यात्वोदय वश होने वाले जीव-परिणाम है, परन्तु जीवो को समझाने और समय पर हटाने या बचाने के लिए भिन्न भिन्न रूप से अतिचार

बताये हैं। अतः पहला अतिचार तत्त्व में मजबूत श्रद्धा रखवाने के लिए कहा, तो मार्गसाधना में मजबूत श्रद्धा रखवाने के लिए इस अतिचार को अलग बताया। इससे बचने के लिए यह सोचना चाहिये कि 'सर्वज्ञ कथित और आचरित कल्याण अनुष्ठान निष्फल होते ही नहीं। अतः विचिकित्सा नहीं करना चाहिये।' पुनः धर्म-साधना के फल के तौर पर सांसारिक सुख सन्मान पर दृष्टि जाती है, इससे फल का यह शंका उत्पन्न होती है। सचमुच तो साधना का आत्मिक फल ही इच्छनीय है। आत्मा के रागादि विकार दबें, जड के बारे में अस्वस्थता कम हो, यह महान फल है। दानादि धर्म साधना से वह सिद्ध होती ही है। तब भी लौकिक फल के बारे में भी शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि वह भी सर्वज्ञोक्त है। सर्वज्ञ ने लौकिक फल भी बताये हैं। वस्तुस्थिति जैसी हो वैसी तो वे कहें ही न?

एक श्रावक को उसके किसी मित्रदेव ने कोई एक विद्या दी। उसने कहा: 'श्मशान में चार पैरों वाला छीका खडा करके नीचे अग्नि रखकर छींके पर बैठ कर १०८-१०८ बार यह विद्या जपते जपते छींके का १-१ पैर काटना। इस तरह चारों पैरों के काट देने पर आकाश में उडा जायेगा।' इतने में द्रव्य सहित एक चोर जिसके पीछे सिपाही लगे हुए थे भागता हुवा आया। सिपाही तो 'अब इसे सुबह ढूंढ लेंगे।' कह कर जंगल को घेर रहे थे। यहां चोर ने पूछा 'क्या करता है? उसने कहा, 'विद्या साध रहा हूं।' चोर ने कहा. 'यह सब द्रव्य ले ले और विद्या मुझे दे।' श्रावक को फल की शंका (विचिकित्सा) हुई इससे धन ले कर विद्या दी। चोर ने सोचा, श्रावक तो चींटी मारने का भी पाप करना नहीं चाहता। अतः यह विद्या गलत नहीं होगी।' उसने श्रद्धा से उसे साधा और आकाश में उडा। सुबह सिपाही ढूंढते हुए आये तो श्रावक को माल के साथ पकड कर मारने लगे। चोर ने आकाश में से सिपाहियों को भय

प्राप्त करवा कर श्रावक को छुड़वा दिया। दोनो को श्रद्धा हुई। इस तरह धर्म के फल सम्बन्धी विचिकित्सा नही करना चाहिये।

विचिकित्सा का दूसरा अर्थ 'साधु के मलिन गात्र व वस्त्र की दुगछा' है। 'साधु उत्तम है, पर जरा अचित्त पानी से सफाई रखें तो क्या हर्ज है ?' यह दुगछा नही करना चाहिये। क्योकि साधु तो सुबुद्ध है, ससार के स्वभाव को जानने वाले है, और इसीलिए सर्व सग के त्यागी हैं। वे बालिश स्नानादि सफाई मे नही पडते। यह 'बालिश' इसलिए है कि शरीर असल मे अशुचिभरा ही है, उसमे से अशुचि वह रही है, उसे स्नान से स्वच्छ हुआ मानना एक भ्रम है। फिर स्नान तो काम का अग है। इसलिए भी स्नान नही करे तो उनकी दुगछा नही करना चाहिये।

एक श्रावक की पुत्री के लग्न के समय साधु उनके घर आये। पिता ने कहा 'पुत्री ! महाराज साहब को वहोराओ।' उसे साधु के मलिन गात्र देख कर मन में दुगछा उत्पन्न हुई। 'कैसे मैले है ? भगवन्त ने धर्म तो निरवद्य कहा है, पर उसमे जरा स्नान करने का कहा होता तो क्या दोष लग जाता ?' इस दुगंछा से घोर कर्म बांध कर मरकर गणिका के पेट मे उत्पन्न हुई। गणिका को भारी उद्वेग उत्पन्न होने से गर्भपात की दवाएं ली। तब भी वह मरी नही। जन्म से ही उसके शरीर से भारी दुर्गंध निकलने लगी। इससे उसे जगल मे छोडा। राजा श्रेणिक ने प्रभु से पूछा. भगवन्त ! इस जगल मे से आते हुए बहुत खराब बदबू वाली कन्या देखी, बदबू क्यो ?' प्रभु ने सब अधिकार कहा। 'यह दुःख कब मिटेगा ?' प्रभु ने कहा 'पाप भुगता जा चुका है। 'अब बडी होकर ८ वर्ष तेरी पट्टरानी बन कर रहेगी।'

४ प्रशसा:— सर्वज्ञ कथित व्रत, मार्ग, तत्त्व के अलावा

अन्य मिथ्यादृष्टि के देव-गुरु-धर्म मत आदि की स्तुति, गुणगान या वाहवाही पुकारे। उदा० पाखण्डी के मत की प्रशंसा करे।

३६३ पाखण्डी

व्रत को या मत को संस्कृत में 'पाखण्ड' कहते हैं। मिथ्यादृष्टि के ३६३ पाखण्ड याने मत होते हैं।

असीइसयं किरियाणं अकिरियवाईण होइ चुलसीती।
अण्णाणिय सत्तट्ठी वेणइयाण च बत्तीसं॥

अर्थः—क्रियावादी के १८०, अक्रियावादी ८४, अज्ञानी के ६७ तथा वैनयिक के ३२ मिल कर कुल (१८०+८४+६७+३२=३६३) ३६३ हुए। वे इस तरह हैं -क्रियावादी याने अस्तित्ववादी। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा, मोक्ष इन नव तत्त्वों में से प्रत्येक को स्वतः या परतः अस्ति (है वैसा) माने। वह भी नित्य या अनित्य तथा काल से, ईश्वर से, आत्मा से, नियति से, या स्वभाव से अस्ति माने। उदा० जीव काल से स्वतः नित्य है, जीव ईश्वर से स्वतः नित्य है।. इस तरह प्रत्येक तत्त्व को लेकर गिनने से ९×२×२×५ = १८० भेद क्रियावादी के हुए।

अक्रियावादी याने नास्तिवादी, 'पुण्य पापसिवाय के सात तत्त्व लेकर, वे स्वतः या परतः नहीं है, वे भी काल, ईश्वर, आत्मा, नियति, स्वभाव, यदृच्छा में से एकेक से नहीं है' ऐसा मानना है। वह कहता है किसी भी अवस्थित पदार्थ में उत्पत्ति आदि क्रिया नहीं होती-घटित नहीं होती। यदि उत्पत्ति है तो वह पहले अवस्थित हो ही नहीं सकती।

"क्षणिकाः सर्व संस्काराः, अस्थितानां कुतः क्रिया।
भूतिर्येषां क्रिया सैव, कारकः सैव चोच्यते॥"

सभी संस्कार क्षणिक याने क्षण स्थायी है। वस्तु (स्थित या) अस्थित हो तो उसमे उत्पत्ति कैसी ?

जो अस्तित्व है वही उत्पत्ति हैं, और वही कारण है। अतः (१) जीव काल से स्वत नही है (२) .. परतः नही है। वैसे ही (३) ईश्वर से जीव स्वत नही है (४) .. परत. नही है। .. आदि ८४ भेद होते है।

अज्ञानिक के ६७ भेद है। वे जीवादि ९ तत्त्वो मे से प्रत्येक के साथ सप्तभगी के [१]स्याद् अस्ति, ०[२]नास्ति, ०[३]अस्ति नास्ति, ०[४]अवक्तव्य, ०[५]अस्ति अवक्तव्य, ०[६]नास्ति अवक्तव्य, ०[७] अस्ति-नास्ति अवक्तव्य मे से १-१ जोडने से ९×७=६३ भेद हुए। तदुपरात उत्पत्ति के साथ 'स्याद् अस्ति', 'स्याद नास्ति' आदि ४ भग के १-१ भग जोडने से ६३+४=६७ भेद होते हैं। वह कहता है (१) कौन जाने जीव है ? (२) कौन जानता है कि जीव नही है ? (३) ... जीव है या नही है (४) कौन जानता है कि जीव अवक्तव्य है ?... इस तरह से ७ भग। इसी तरह अजीवादि तत्त्व के साथ। इसी तरह किसे पता वस्तु की उत्पत्ति है ? - नही है ? है और नही है ? या अवक्तव्य है ? तात्पर्य यह कि 'यह कोई भी नही जानता।' ऐसा अज्ञानिक मानता है। 'अज्ञानिक' याने •(i) मिथ्याज्ञान वाला अथवा (ii) अज्ञान से चलने वाला (iii) अज्ञान के प्रयोजन वाला याने कुछ भी विचार न करके योही मान लेने वाला कि 'यदि उपरोक्त कुछ भी सत् या असत् आदि देखने जायें तो कृतनाश आदि आपत्ति आती है, इसलिए अज्ञान ही श्रेयस्कर है।'

वैनयिक मानता है कि वेश आचार शास्त्र को देखे बिना सभी का विनय करना। इसके ३२ भेद है। सुर, नृपति, यति, ज्ञाति, स्थविर, अधम, माता, पिता इन आठ का मन, वचन, काया तथा

दान चार प्रकार से विनय याने ८×४=३२ प्रकार से विनय करना चाहिये।

इस तरह से १८०+८४+६७+३२=३६३ वाद से मिथ्या-दृष्टि होता है। उनकी तथा उनके मत की प्रशंसा नहीं करना चाहिये। जैसे 'अरे यह भाग्यशाली है! यह भी तत्त्व-चिन्तक है...' आदि।

(५) संस्तव याने मिथ्यादृष्टि का परिचय, सहवास, समागम। यह भी त्याज्य है। कारण कि इसमें उनकी मिथ्या प्रक्रिया का श्रवण, उनकी अज्ञान क्रिया का दर्शन आदि होते रहने से उसकी रुचि होने का भय है।

इन शंकादि पाचों अतिचारों (दोषों) का त्याग और 'प्रशम' आदि ५-५ गुणों का अभ्यास करते रहने से दर्शन भावना होती है।

प्रशमादि ५ गुण :

१.'प्रश्रम'=परिश्रम, स्वपर शास्त्र में परिश्रम से तत्त्व-बोध में कुशल होना। कहा है कि –

'सपरसमयकोसल्लं थिरया जिणसासणे पभावणया।
आययणसेव भत्ती दंसणदीवा गुणा पंच॥

अर्थ:—स्वपर शास्त्र कुशलता, जिन शासन में स्थिरता, प्रभावना, आयतन सेवा और भक्ति ये दर्शन को उज्ज्वल करने वाले ५ गुण हैं।

२. स्थिरता-अर्थात् जैन शासन पर अविचल श्रद्धा; वह भी ऐसी कि बड़ा देवता, बड़ा वादी या मायाजाल करने वाला भी डिगा न सके।

३. प्रभावना याने इतरो मे जैन शासन की प्रभावना हो, वाह वाह हो, आकर्षण हो ऐसे सुकृत, सुकृत्य करे।

४. आयतन सेवा.—सम्यग्दर्शन के आयतन याने रक्षक स्थानो की सेवा करे तथा अनायतन का त्याग करे।

५. भक्ति—देव गुरु सघ तीर्थ शास्त्र की भक्ति आदर वहुमान करे।

५ प्रशमादि लक्षणों का अभ्यास करें

१. प्रशम 'अपराधी शु पण नवि चित्तथकी चिंतवीए प्रतिकूल' याने 'अपराधी के प्रति भी चित्त से प्रतिकूल (याने बुरा) नही सोचना', ऐसा उपशम भाव रखे। कारण वह आस्तिक्यादि गुणो से यह देखता है कि 'चाहे सामने वाले ने हमारा बिगाडा ऐसा दिखता हो, परन्तु सचमुच तो अपने कर्म ही बिगाडने वाले हैं, अत सामने वाले पर क्रोध करना गैर वाजिब है। सामने वाला तो करुणापात्र है कि बिचारा पाप करके कर्म बाध कर भविष्य मे दु.ख मे गिरेगा। वैसे ही अपना जीव भी करुणा पात्र है कि कर्मों मे तो दड पा ही रहा है, उसमे फिर नये कषाय कर के दुष्कर्म क्यो खडे करु ?' इस तरह सोच कर अपराधी पर उपशम रखे।

२. संवेग अर्थात् मोक्षसुख का और उसके लिए देव, गुरु, धर्म का ऐसा रग हो कि देव तथा मनुष्य भव के सुख भी दु ख रूप लगें, तथा सुख का रग याने आकर्षण उतर जाय। वह यह समझे कि 'ये जड सुख निस्सार, नाशवत तथा हानिकारक है तथा जीव उनमे परतन्त्र है, उनसे ठगा जा रहा है। अत 'सुर नर सुखजे करी दुख लेखवे, वछे शिव सुख एक' अर्थात् देव तथा मनुष्य के सुखो को दु.ख समझे और मात्र अकेले शिव सुख की ही इच्छा करे।

३. निर्वेद—'नारक चारक सम भव उभग्यो, तारक जाणीने धर्म, चाहे नीकलवु, अर्थात् ससार को नरक तथा जेल के वैसा जान कर धर्म को उससे तारने वाला समझ कर निकलना चाहे। ससार वास याने घर मे रहने को पुण्य वेचकर केवल पाप खरीदने का धन्धा समझे और दीघ दुर्गति का भ्रमण समझ कर उस पर मे नरकागार था जेल वास की तरह उससे वेचैन रहे। उसके प्रति अभाव, ग्लानि, अनास्था रहे और इसलिए ऐसे घर समार से हमेशा निकल जाने की तीव्र इच्छा रहा करती है।

४. अनुकंपा—'द्रव्यथकी दुखियानी जे दया, धर्म-हीणानी रे भाव' याने द्रव्य से दु खी जीव के प्रति दया द्रव्यदया है तथा धर्म हीन के प्रति दया भावदया है।' जीव के द्रव्य दु ख भूख प्यास, रोग, मारपीट आदि को दूर करने की इच्छा द्रव्य अनुकम्पा है, और भावदु.ख जो पाप, भूल, कपाय, अज्ञान आदि, वे भाव दु.ख हटाने की इच्छा भाव अनुकम्पा है। दूसरे के दु.खो के प्रति समवेदना हो तो ऐसी इच्छा हो कि दूसरे मेरा दुःख हटायें, ऐसा सोचता हू, पर मुझे ऐसी इच्छा करने का अधिकार तभी होगा जब कि मै दुसरो के दु खो को यथाशक्ति मिटाने की इच्छा रखता होऊँ।' पुन पापी के प्रति द्वेप नही, दया करने जैसी है, क्योकि वह विचारा कर्म वश वैसा करता है और भव वृद्धि करके चौदह राजलोक मे भटकता है। सव्वे जीवा कम्मवस चउदह राज भमत'-सभी जीव कर्मवश चौदह राजलोक मे भटक रहे है। विचारे कर्म से परवश व्यक्ति पर द्वेप क्या करना? उसे तो दु ख मे सहायक बन-कर उसे ऊचा लाऊँ।'

५. आस्तिक्य याने 'जे जिन भाख्यु ते नवि अन्यथा, एवो जे दृढ रग।' जिनेश्वर देव ने जो कुछ कहा है वह अन्यथा नही हो सकता, ऐसा दृढ रंग होना चाहिये। श्री जिन वितराग देव झूठ

नवकम्माणायाणं पोराणविणिज्जरं सुभायाणं ।
चारित्त भावणाए झाणमयत्तेण य समेइ ॥३३॥

अर्थ.—चारित्र भावना से (१) नये कर्मों का अग्रहण (२) पुराने कर्मों की निर्जरा और (३) नये शुभ का ग्रहण तथा (४) ध्यान सरलता से मिलता है।

के कारणस्वरूप क्रोध, लोभ, भय, हास्य आदि रहित होने से झूठ बोल ही नहीं सकते। साथ ही सर्वज्ञ होने से अतीन्द्रिय सूक्ष्म कर्म आदि को साक्षात् देखकर उसके बारे मे कहने वाले है। अत. उनका वचन सम्पूर्ण रूप से मान्य करना चाहिये। 'जिनेश्वर ने कहा वही सच्चा है जिनेश्वर ने कहा वह सच्चा ही है।' इस तरह से वह सत्य ही है ऐसा माने (अस्ति) अत. वह आस्तिक्य ही कहलाता है।

इस तरह शंका आदि ५ दोष हटाकर प्रश्रम, स्थैर्यादि ५ भूषण और प्रशम संवेगादि ५ लक्षण प्राप्त करना चाहिये। असर्वज्ञ के तत्त्व मे जरा भी मूर्छित (मोहित) नही होना चाहिये, यह दर्शन भावना कहलाती है। इससे धर्मध्यान की योग्यता आती है, क्योंकि शंका, कांक्षा आदि तथा अप्रश्रम याने शास्त्र अपरिचय आदि तथा अ-प्रशम याने पर अहित चिंतन आदि धर्म ध्यान के विरोधी तत्त्व है। इन्हे इस तरह दूर हटाया जाता है, तब धर्म ध्यान को स्वाभाविक ही अवकाश प्राप्त हो जाता है।

३ चारित्र भावना

अब चारित्र भावना का स्वरूप तथा उसके गुण बताते हैं —

विवेचन :

चारित्र भावना यानी चारित्र का अभ्यास। जिसमे अनिन्दित रूप मे चरे-विचरे, उसका नाम चारित्र है। लोक तथा ज्ञानी की

दृष्टि से अनिंद्य वर्ताव जिस प्रकार के क्षयोपशम से होता है, उस क्षयोपशम को चरित्र या चारित्र कहते हैं प्रत्याख्यानावरण नामक तीसरे क्रोध, मान, माया, लोभ कषायो की चौकडी का जब क्षयोपशम किया जाय, तो इसमे क्रोध लोभादि कर्म के विपाक याने उदय रुक जाते है तभी आत्मा सचमुच मे सर्व विरति भाव मे आता है। इसके कारण बाद मे वे क्रोधादि कषाय तथा हिंसादि अविरति के योग से जो निंद्य वाणी विचार या वर्ताव चलता था, वह रुक जाता है और क्षमादि १० यति धर्म के तथा ज्ञानाचारादि पचाचार के प्रशस्त वाणी, विचार तथा वर्ताव चलते है। इस चारित्र का अभ्यास किया जाय, उसका नाम चारित्र भावना। इससे आत्मा ऐसा भावित हो जाता है, ऐसा रग जाता है कि फिर वह सुखपूर्वक ध्यान कर सकता है।

चारित्र जीवन मे तीन वस्तुएँ है।

(१) आश्रवो का रुकना।

(२) बारह प्रकार के तप का सेवन। और

(३) समिति गुप्ति आदि शुभ प्रवृत्ति।

इससे तीन प्रकार के फल उत्पन्न होते है (१) आश्रव निरोध से नये कर्मों का बंध रुक जाता है। (२) तप सेवन से पूर्व बद्ध ढेरो कर्मों की निर्जरा होती है, क्षय होता है और (३) शुभ प्रवृत्ति से नये शाता यश आदि शुभ कर्मों का उपार्जन होता है। इसका परिणाम यह होगा कि कर्मभार कम होगा, नया नही बढेगा और जो पुण्य बढेगा वह भविष्य के लिए आराधना की जोरदार सामग्री जैसे उत्तम भव सबल पवित्र मन, आदि प्राप्त करवाने वाला बनता है। इससे वहाँ उच्च आराधना द्वारा पुन. कई कर्मों के भार को हलका या कम किया जा सकेगा। इसी तरह सर्व कर्म नाश की ओर तीव्र गति से प्रयाण होता है।

सुविदियजगस्सभावो निस्संगो निब्भओ निरासो य ।
वेरग्गभावियमणो झाणंमि सुनिच्चलो होई ॥३४॥

अर्थ: -वैराग्य भावना से भावित मन वाला जगत के स्वभाव, को अच्छी तरह जानने वाला, निसंग, निर्भय और आशा रहित बन कर ध्यान मे सुनिश्चल होता है ।

ऐसी चारित्र भावना ध्यान की भूमिका किस तरह सर्जन करती है ? इसीलिए कि ध्यान मे से मन को चचल करने वाले इन्द्रिय विषय और कषाय तथा हिंसादि पापो के अविरति स्वरूप आश्रव है । परन्तु ये आश्रव यहा चारित्र से रुक जाते है । पुन चारित्र जीवन मे मन वचन काया के शुभ योग सतत चालू है । विशेषत. मनोयोग स्वाध्याय, समिति, गुप्ति आदि मे पकडा हुआ रहता है इससे ध्यान को धक्का लगाने वाले अशुभ योगो में मनोयोग को अवकाश नही रहता । इसी तरह ध्यान से चलित करने वाली तन मन की सुकोमलता १२ प्रकार के तप से नष्ट हो जाती है और दृढता व मजबूती आती है । मन का सत्त्व खूब खूब विकसित होता है । अब यह सत्त्व मन को ध्यान मे स्थिर रख सकता है । अत: चारित्र भावना से धर्मध्यान सुलभ बनता है, ध्यान मे सुखपूर्वक चढ सकते हैं ।

४. वैराग्य भावना

अब वैराग्य भावना का स्वरूप तथा उसकी महिमा बताते है-

विवेचन :

वैराग्य भावना मे ५ वस्तुएं है —

१, सुविदित जगत् स्वभाव ।

२. निस्सगता ।

३. निर्भमता।
४. निराशसता।
५. तथाविध क्रोधादि रहितता।

१. सुविदित जगत्स्वभाव

चराचर जगत के स्वभाव को अच्छी तरह पहचान लिया हो।

'जगन्ति जङ्गमान्याहुर्जगद् ज्ञेयं चराचरम्।'
'जन्म मरणाय नियतं, बन्धुर्दुःखाय धनमनिर्वृतये।'
तन्नास्ति यन्न विपदे। तथापि लोको निरालोकः ॥'

अर्थ:—जिसमें पदार्थ प्रति समय नये नये पर्यायो में जाते रहने से जंगम है, उसे जगत कहते है। यह चर तथा अचर दो प्रकार का है। मुक्त जीव आकाश, रत्न प्रभादि पृथ्वी मेरु आदि पर्वत, भवन विमान आदि अचर स्थिर है तथा अन्य संसारी जीव तन धन आदि अस्थिर हैं चर है।

ऐसे जगत का स्वभाव कैसा? जन्म के पीछे अवश्य मृत्यु है। सम्बन्ध व सगे दुख दायक होते है। धन अशांति करवाता है। जगत की ऐसी कोई चीज नही है जो आपत्ति के लिए न हो। तब भी खेद इस बात का है कि लोगो को इस बात का भान नही है, ध्यान नहीं है। यदि उन्हे भान होता तो जन्म, सगे सम्बन्धी तथा धन से अर्थात् काया कुटुम्ब व कंचन से उन्हे वैराग्य हो जाता।

काया का जन्म हुआ अत मृत्यु होना ही है और वह रग-राग से भयंकर परलोक का अर्जन करती है। तो फिर उसकी इतनी अधिक माया और सार-संभाल क्यो? मौत नही आती तब तक इसके पास से भारी त्याग, तप, साधना करवा लेना चाहिये। इसके बदले वह रग राग भोग तथा आलस व आराम मे खतम हो कर एक दिन यकायक ही नष्ट हो जाय तो वह कितना दु:खद है।

लगता है कि सगे सम्बन्धियो से सुख मिलता है; पर सचमुच मे तो उससे कष्ट क्लेश तथा आपत्ति ही आते हैं। सगों के लिये ही कितने ही कष्टमय धन्धे या व्यवहार आदि करना पड़ता है। उनके गुस्से होने पर, बीमार पड़ने पर, या आपत्ति मे आने पर अत्यन्त दु.ख होता है। तो ऐसे कुटुम्बियो से मोह करना किस बात का ? किस लिये ?

वैसे ही धन अशाति उत्पन्न करता है। धन कमाने के लिए, कमाये हुए को संभालने के लिए और मित-व्ययता से भगने के लिए मन को कितनी ही चिंता करनी पड़ती है। धन के कारण ही मन को अशाति रहती है। ऐसे धन पर क्या अन्ध-राग करने लायक है ? इसका भान हो तो उससे विरक्त होकर उसका सदुपयोग और सर्व त्याग भी हो जाय। दुनिया की सभी चीज वस्तुए माल मेवा हाट-हवेली आदि सभी धन है और वह सब अशांति के लिए होता है।

यों जगत का स्वभाव पहचान लिया जाय तो उस पर वैराग्य जगमगाहट करने लगे।

२. निस्संगता: जगत का स्वभाव जानने पर भी यह संभव है किसी कर्म के उदय से परवशता के कारण कहीं विषय-जन्य स्नेह आसक्ति हो जाय, तब यदि उसे दबाया नहीं जाय, तो आगे धर्मध्यान नही हो सकता। अथवा ध्यान का प्रारम्भ हुआ हो तो इस आसक्ति के जागने पर ध्यान रुक जाय। अतः जगत-स्वभाव को अच्छी तरह जानने के अलावा भी जगत के प्रति निस्संगभाव खड़ा करना चाहिये, जिससे बाद मे उसकी किसी चीज के प्रति आसक्ति उठने ही नही पावे।

निस्संगभाव खडा करने ... ाहिये कि-

(१) ससार मे जन्म जन्म मे ... एक

के उसी जन्म तक सीमित रहने वाले पदार्थ पर संग, आसक्ति या ममत्व करने का क्या अर्थ है ?

(२) 'चाहे एक जन्म के लिए, पर सुख तो देते है न ?' नहीं। चिंता, संताप, विह्वलता आदि दुःख और मद, माया, हिंसा आदि अनेकानेक दोष खड़े करते हैं, वहां सुख क्या ? वहां आसक्ति क्यों करनी चाहिये ?

(३) भविष्य का अनन्त काल उज्ज्वल कर सकने वाले परमात्मा, सद्गुरु सद्धर्म यावत् सर्वत्याग को कौन भुलाता है ? कहिये, ये प्रिय बनाए हुए जगत के पदार्थ। तो फिर उन पर आसक्ति क्या करना ?

(४) स्वात्मा के शुद्ध ज्ञान, क्षमादि कषायोपशम, उदासीनता आदि गुणों की ओर दृष्टि नहीं जाती, वह इन बाह्य पदार्थों के ऊपरी दिखावटी गुणों को देखते रहने के कारण ही तो। इसी मे आत्म समृद्धि प्रकट करने का इस उच्च जीवन का कर्तव्य भुलाया जाता है। तो उस पर संग क्या इस तरह सोच सोच कर संग या आसक्ति छोड़ कर निस्संगता का अभ्यास करना चाहिये।

३. निर्भयता: निस्संग बनने पर भी सम्भव है कि कभी स्वजाति, विजाति, 'द्रव्यहरण या मृत्यु आदि का भय खड़ा हो, तो वह मन को विचलित कर के, ध्यान नहीं करने दे या ध्यान-भंग करे। अतः भाग्य पर अटल विश्वास तथा सत्त्व को जागता हुआ रख कर निर्भयता का अभ्यास करना चाहिये। अथवा अपनी आत्मा की उन्नति के बारे मे यदि भय रहे कि (१) इस मे विघ्न तो नहीं आयेगा ? (२) आयुष्य बीच मे ही पूरा हो कर उन्नति का कार्य अधूरा तो नहीं रहेगा ? (३) साधना मे से पीछे हटना तो नहीं होगा ? यदि ऐसे ऐसे भय रहे तो इसमे भी चिन्ता के परिणाम

चचल बनते है, तो फिर ध्यान मे स्थिरता या एकाग्रता कहां से टिकेगी ? अत ऐसे भयों को छोडकर निर्भयता का अभ्यास करना भी जरूरी है।

निर्भयता के अभ्यास के लिए वाह्य वस्तुओ के वारे में इस तरह सोचना चाहिये (१) 'यह सव भाग्य के अनुसार होता है। भाग्यानुसार चलता है, भाग्य अनुसार टिकेगा या टूटेगा। इसमें कुछ भी फर्क नही पडेगा। तो फिर वेकार भय क्यो रखना। (२) पुनः भयभीत होने मे मेरा सत्त्व घटता है; सत्त्व का नाश एक भयकर हानि है। सत्त्व से ही अनेक गुणो का विकास और साधनाओ मे आगे वढ़ा जाता है। वेकार का भय रख कर ऐसे सत्त्व को क्यो घटने दिया जाय ?' इस तरह सोच कर निर्भयता का अभ्यास किया जाय। दूसरी तरफ आत्मा की उन्नति के भय के वारे में (१) विघ्न के भय को रोकने के लिए विघ्न के कारणो को रोकना चाहिये। उदा० प्रवासी को तीन प्रकार के विघ्न आते हैं; १. काटे लगे, २ बुखार आदि आवे, ३. दिशाभ्रम हो। तो (१) जूतो से कांटे नही लगें इससे काटो के लगने से मुसाफरी नही रुकेगी। वैसे ही (२) आहार-विहार पर अंकुश रखे, अत बुखार आदि रोग नही आवे। इसी तरह (३) रक्षक, मार्गदर्शक या स्पष्ट प्रकार के चिन्हो का पता हो तो दिशामोह नही होगा। वस धर्मसाधन मोक्षमार्ग के प्रवास मे भी इसी तरह (१) कांटो जैसे विघ्न याने भूख, तृषा, ठडी, गरमी, आक्रोश सत्कार आदि परिसह खडे होना सम्भव है, परन्तु पहले से ही परिसहो को समता से सहन न करने का अभ्यास किया हो, उस पर तात्त्विक विचारधारा निश्चित कर रखी हो-तथा अवसर पर उसका उपयोग किया जाता रहे, तो इन भूख आदि से साधना रुके नही। इसी तरह २ हितमित आहार विहार हो तो बुखार आदि रोगो के विघ्न नही आवें, और (३) साधना को तात्त्विक रूप मे समझ कर रखा हो

तथा सर्वज्ञ-वचन पर अटूट श्रद्धा खड़ी कर रखी हो तो तीसरा दिशामोह विघ्न जैसा मतिमोह विघ्न रुकावट नहीं कर सकता। मतिमोह उठने लगे तो तुरन्त यह तात्त्विक समझ और सर्वज्ञ-श्रद्धा उसे उड़ा दे। इस तरह तीनों प्रकार के विघ्नों के सामने अच्छा सा प्रतीकार खड़ा हो गया हो तो फिर विघ्न का भय रखने का क्या कारण है? इस तरह सोच कर निर्भयता खड़ी करनी चाहिये।

वैसे आयुष्य पूर्ण हो जाने से उन्नतिसाधक साधना अधूरी रह जाने का डर भी बेकार है, क्योंकि (१) ऐसे भय से कुछ सुधरता नहीं है, बल्कि भविष्य के भय से जकड़ा हुआ मन वर्तमान साधना में जोरदार रूप से पकड़ा नहीं जाता। (२) फिर कदाचित् आयुष्य जल्दी पूर्ण हो जाने से साधना अधूरी रह गई तो भी क्या बिगड़ा? यों तो थोड़ा ज्यादा जीने से भी यह साधना वीतरागता प्राप्त करवा कर थोड़े ही पूर्ण होने वाली थी? अधूरी तो रहती ही। हां, थोड़ी ज्यादा साधना हो जाती। परन्तु इसमें भी यह देखने का है कि जैन शासन में विशेष महत्व आभ्यन्तर साधना का और साधना के प्रमाण से भी साधना के जोश, वेग तथा तन्मयता का है। ऐसे ही महत्त्व अन्तिम काल की साधना का है। अतः थोड़े समय की भी साधना आभ्यन्तर परिणति से जोशीली जोरदार बन जाय, यह महत्त्व का है, और वह दूसरे तीसरे भय न रखने से होती है। इससे ही अन्तिम समय में भी साधना में मन तन्मय हो जाने पर उच्च फल मिलता है, जिससे आगे के भव में विशेष ऊंची साधना प्राप्त होती है। यह सोच कर साधना अधूरी रहने का भय भी नहीं रखना चाहिये।

तो कभी साधना में पीछे हटना पड़े तो? यह भय भी बेकार है। क्योंकि इस भय में आत्मविश्वास की तथा अपने सत्त्व की दुर्बलता साबित होती है। यदि मजबूत आत्मविश्वास हो तो मन को ऐसा

लगे कि मैंने समझ कर साधना पकड़ी है, अतः अस्थिमज्जा की तरह इसमे मैं रंग गया हूं। इसमें पीछे हटने की बात ही क्या? इस तरह सत्त्व अच्छी तरह विकसित हुआ हो तो कायरता के विचार ही नही आवे। इस तरह आत्मविश्वास और सत्त्व से भय को हटा कर निर्भयता को खडा करना चाहिये। भय से जो ध्यान भग होता हो, वह इससे रुकेगा।

८. निराशंसता—इस लोक व परलोक के विषयसुख सन्मान आदि की आशंसा आकांक्षा नहीं होनी चाहिये। साधना के फलस्वरूप ऐसी वस्तु की इच्छा नहीं की जानी चाहिये।

प्रश्न पूर्व कथित निस्संगभाव का अभ्यास किया हो फिर ऐसी आशंसा होने का अवकाश ही कहां है कि 'निराशसभाव' गुण का अलग से अभ्यास करना पड़े?

उत्तर— निस्संगभाव से जगत के पदार्थों के प्रति राग द्वेष आसक्ति न होने देने का अभ्यास तो किया, परन्तु अनादि से अभ्यस्त रागादि के संस्कार वश कभी कही नया देखने को मिलने पर आशंसा उठ खड़ी होने की सम्भावना है। जैसे ब्रह्मदत्त के जीव ने पूर्व भव में मुनि के रूप में अच्छा निस्संग भाव तो खड़ा किया था पर चक्रवर्ती के वन्दन करने आने पर, उसकी पटरानी स्त्रीरत्न की मुलायम केशराशि मुनि को वन्दन करते हुए नीचे गिरी और उसका मुनि के पैरो से स्पर्श हो गया। ध्यानस्थ मुनि की नीची नजर उस चमकती हुई केशराशि पर गिरने से तथा उसका पैरो से स्पर्श होते ही झनझनाहट पैदा हुई। मन लुब्ध बना, निदान किया। 'अरे, ऐसी मुलायम केशराशि वाली स्त्री कितनी रमणीय होगी! ऐसी स्त्री मिलने पर साथ मे वैभव भी कितना प्राप्त हो? बस, इस कठोर तप संयम का फल हो तो ऐसा वैभव विलास मिलो।' यह क्या

हुआ ? एक आशंसा जाग उठी और निस्संगभाव दब गया। यदि साथ ही यह सोचा होता, 'यदि सब साधना निराशंस भाव से ही करना है तो मुझे किसलिए इस तुच्छ फल की आशंसा करनी चाहिये ?' और ऐसा सोच कर निराशंसभाव खिला कर रखा होता तो ऐसा पतन नहीं होता।

ऐसा ही महावीर प्रभु के जीव विश्वभूति मुनि को हुआ। तीव्र वैराग्य से उन्होंने राजाशाही सुखों को छोड़ कर चारित्र लिया, और उसके पालन में निस्संगभाव भी अच्छा प्राप्त किया। परन्तु चचेरे भाई के मजाक करने से अनादि के संस्कार वश अपमान लगा, मान बढ़ा, एवं भवान्तर में बल के मालिक होने की आशंसा खड़ी की और पतन हुआ।

आशंसा रोकने के लिए इस प्रकार का निर्धार-निर्णय मन में खूब घोट रखना चाहिये कि 'धर्म के फलस्वरूप इस लोक या पर लोक के किसी पदार्थ की मुझे इच्छा ही नहीं करना चाहिये। अमूल्य धर्म को तुच्छ फल के खातिर तथा अविनाशी धर्म को नाशवन्त वस्तु के खातिर बेच डालना नहीं है। क्योंकि इस तरह धर्म को बेच डालने से दीर्घ भावी काल के लिए धर्म के संस्कार ही नहीं रहेंगे। फिर भवांतर में धर्म ही नहीं रहा, तो पापी जीवन ही बना रहेगा, क्योंकि सांसारिक आशंसा से वासना रोग दृढ़ होगा।'

इस तरह निस्संगभाव के साथ ही निराशंसभाव को अवश्य खड़ा करना चाहिये। इससे मन वैराग्य से अच्छी तरह भावित होगा और ध्यान-भंग नहीं होगा। साथ ही शुभ ध्यान दुर्लभ नहीं होगा। अन्यथा आशंसा दिमाग को पकड़ लेगी तो शुभ ध्यान कहां से प्राप्त होगा ? या टिकेगा ?

५. क्रोधादि रहितता—उपरोक्त गुणों का अभ्यास करने पर भी सम्भव है कि निमित्त मिलते ही या स्वभाव-दोष से

अनादि के सस्कार वश क्रोध अभिमान आदि उठ खड़ा हो। तो यह भी ध्यान के लिए विघ्नरूप होगा। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि सुन्दर ध्यान करने वाले होने पर भी दूत का वचन सुन कर गुस्से हो गये तो धर्म ध्यान टूट कर रौद्रध्यान में चढते हुए सातवी नरक तक के कर्म बांधने लगे। चडरुद्राचार्य को स्वभाव-दोष से क्रोध चढ आता था। अतः पहले से ही इन कषाय-चोरो को पहचान कर उनके निग्रह का अभ्यास करना चाहिये, उनका त्याग करते रहना चाहिये।

क्रोधादि से वैराग्य भावितता क्यों नहीं? यद्यपि प्रस्तुत गाथा में 'क्रोधादि-रहितता' का स्पष्ट पद नही है, परन्तु 'निरासो य' शब्द मे से 'य' याने 'च' का अर्थ उस प्रकार के क्रोधादि-रहितता समझने का टीकाकार महर्षि लिखते हैं। उस प्रकार के अप्रशस्त क्रोध लोभ, मान माया ईर्ष्या, हर्ष खेद आदि कषायो को रोकना चाहिये। क्योंकि ये स्थिर वैराग्य-भावितता नही आने देते। इसका कारण यह है कि ये क्रोधादि किसी सासारिक पदार्थ को महत्त्व देने से उठते है। और उसे महत्त्व दिया जाय तो उसके प्रति वैराग्य-भावितता दृढ़ कहां से रहेगी?

क्रोधादि दबाने के लिए क्या सोचना चाहिये? '(१) सासारिक पदार्थ नाशवन्त है, एक दिन जाने वाला है और ये क्रोध लोभ आदि किये तो उसके सस्कार सिर पर पड़े गे। तो नाशवन्त को महत्त्व देकर कायम के कुसस्कार क्यो खड़े करु? पुन. (२) ये क्रोधादि तो आत्मा के विकार है। यदि धर्म-साधना से मुझे आत्मा को शुद्ध ही करना है तो विकारो का पोषण किसलिये करु?'

यहा इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जगत की चीजो के लिए तो नही, परन्तु साधना मे अन्तराय करने वाली वस्तु या व्यक्ति की ओर भी गुस्सा उठता हो तो वह भी पसद करने लायक

निच्चं चिय जुवइ-पसु-नपुंसग कुसीलवज्जियं जइणो ।
ठाणं वियणं भणियं विसमओ झाणकालंमि ॥३५॥

अर्थः—यति के लिए हमेशा तथा विशेषकर के ध्यान के समय युवती, पशु, नपुंसक तथा कुशील मनुष्य से रहित एकान्त स्थान जरूरी कहा है।

नही है। क्योंकि उसमे भी महत्व काम करता है; साथ ही सावना मात्र वाह्य वस्तु है ऐसा ख्याल रहता है। इसी से गुस्सा उठता है। परन्तु यह कषाय आभ्यन्तर साधना को धक्का पहुंचाता है। ऐसे कषाय कुछ उठे, तो वहा सौम्यभाव या उपशम टिक नही सकता। मन वैराग्य से भावित नही होता। पीठ महापीठ मुनि अनुत्तर विमान वाले देवलोक में जाने वाले, और फिर ब्राह्मी सुन्दरी बनकर मोक्ष मे जाने वाले जीव थे। तब भी वे बाहु सुबाहु (भरत बाहुबली के जीव) मुनि की भक्ति व वैयावच्च की प्रशंसा सहन न कर सके। ईर्ष्या माया अभिमान दिल मे उठें, तो वैराग्य भाव को धक्का लगा, आर्त्तध्यान हुआ और नीचे के गुणस्थानक पर उतरे। अतः वैराग्य-भावित मन करने के लिए वैसे क्रोधादि भी होना नही चाहिये, उसे उठते ही दबा देना चाहिये।

इस तरह जगत् के स्वभाव का ख्याल, निस्संगता, निर्भयता, निराशंसता तथा तथाविध कषाय-रहितता, इन पांचो का अभ्यास करने वाले का मन वैराग्य से भावित बनता है और वह ध्यान मे सुनिश्चल बनता है। ध्यान से चलित करने वाले अज्ञानादि उपद्रव हैं, वस्तु स्वभाव का अज्ञान, आसक्ति, भय, फल-लालसा और छिपे हुए क्रोधादि कषाय। ये धर्मध्यान को जागने ही नहीं देते अथवा जागे हुए को तोड देते हैं। ये इन विदित-जगत्स्वभाव, निस्संगता आदि से दूर होने से ध्यान-निश्चलता का आना स्वाभाविक होता है।

इस तरह से धर्म और शुक्ल ध्यान पर विचार करने के लिए द्वार गाथा में कहे हुए प्रथम द्वार 'भावना' का विचार किया।

ध्यान के लिए देश (स्थान)

अव देश द्वार का विचार करते है:—

विवेचन :

ध्यान के लिए स्थान युवती आदि से रहित होना चाहिये। यों तो केवल ध्यान-काल मे ही नही, किन्तु हमेशा मुनि के रहने का स्थान स्त्री आदि के वास या सचार से रहित एकान्त होना चाहिये, ऐसा तीर्थङ्कर भगवान तथा गणधर देवों ने कहा है। अत. ध्यानकाल मे तो खास करके ऐसा एकान्त स्थान होना ही चाहिये, जरूरी है। कोई भी मानवी स्त्री या देवी, पशु स्त्री या नपुंसक या जुआरी आदि कुशील का संपर्क नही होना चाहिये। इन सबसे अलिप्त स्थान होना चाहिये। क्योंकि स्त्री आदि के सम्पर्क वाले स्थान मे जिनागम कथित दोषो की उत्पत्ति होती है।

सामान्य रूप से ब्रह्मचर्य पालन करने वाले के लिए भी नौ वाड़ मे से यह एक वाड़ (Fence) पालन करने की है कि स्त्री आदि के वास या सचार से रहित निवास स्थान होना चाहिये। तो साधु के लिए तो विशेषतः ऐसा एकान्त स्थान जरूरी है। स्त्री चाहे वह पशु स्त्री हो, विजातीय तत्त्व है, अत. उसका दर्शन कामवासना का उत्तेजक है। नपुंसक तीव्र वासना से पीड़ित होने से चाहे जैसी चेष्टा करे, इससे वह भी कामोद्दीपक वनता है। अनादि मोह के सस्कार सम्पूर्ण वीतराग होने के पहले सर्वथा नष्ट नही होते, इससे निमित्त मिलने पर वे उद्‌वुद्ध या जाग्रत् वन कर जीव को मोह-मूढ कर देने की पूर्ण सम्भावना है। इसीलिए ऐसे निमित्त से दूर रहना खास जरुरी है। विजातीय तत्व स्त्री एक ऐसा ही निमित्त है।

पास मे उसका वसना भी खराब है और उसका आना जाना या दृष्टि पथ मे पड़ना भी बुरा है। यह तो ब्रह्मचर्य की अपेक्षा से हुआ।

बाकी सयम-चारित्र की अपेक्षा से कुशीलाचारी का सपर्क भी हानिकर्ता है। उदा० जुआरी, शराबी, शराब वेचने वाला, पर-स्त्रीलपट आदि के सहवास मे साधु रहे तो उनकी खराब बातें साधु के कान पर भी पडे या उनकी यह कुशील प्रवृत्ति उसकी नजर मे चढे और इससे उसके सयम भाव को धक्का लगे।

मुनि को अपने रहने के लिए भी जब स्त्री आदि से अलिप्त ऐसा एकान्त स्थान चाहिये, तो फिर ध्यान के लिए तो खास करके ऐसा स्थान आवश्यक है; क्योकि ध्यान मे तो जिनाज्ञादि किसी एक शुभ विषय पर मन को एकाग्र रखना जरूरी है। पुरुष साधु के लिए जैसे स्त्री सम्पर्क का त्याग वैसे साध्वी के लिए पुरुष सम्पर्क का त्याग, एवं दोनो के लिए नपुसक सम्पर्क का त्याग, यह यथायोग्य समझ लेना चाहिये। न्याय है. 'एक जातीय ग्रहणे तज्जातीय ग्रहणम्' अर्थात् एक प्रकार की कोई बात की हो तो उसमे उसी जाति या प्रकार की और वस्तु आ जाती है। अत. यहा जब मुनि की बात की तो उस पर से साध्वी को पुरुष के वास या सचार से रहित स्थान चाहिये, यह बात समझ लेने की ही है। यह स्त्री आदि से रहित स्थान की बात अपरिणत योगी के लिए है। क्यो कि उसे अभी योग का अभ्यास चलता है। अत. योग उसे परिणत अर्थात् आत्मसात् नही हुआ। इसमे बाधक तत्त्व हटाने का प्रयत्न चालू हो वहां तक योग अवस्था टिके अन्यथा योगभ्रष्ट होने का सम्भव है। अत. स्त्री आदि के सम्पर्क वाले स्थान मे उनके लिए ध्यान की आराधना असम्भव है।

यह अपरिणत योगी के लिए ध्यान के स्थान की बात कही। अब परिणत योगी के बारे मे विशेष वस्तु कहते हैं:—

थिरकयजोगाणं पुण मुणीण झाणे सुनिच्चलमणाणं ।
गामंमि जणाइण्णे सुण्णे रण्णे व, न विसेसो ।।३६।।

अर्थ.—संघयण तथा धृतिबल वाले अभ्यस्त योगी, जीवादि पदार्थो का मनन करने वाले विद्वान, तथा धर्मध्यान मे अत्यन्त निष्प्रकम्प मन वाले मुनि को तो लोगों से व्याप्त गाव मे या शून्य स्थान मे या जंगल मे (चाहे जहा ध्यान करे उसमे) कोई फर्क नहीं पडता ।

विवेचन :

परिणत योगी आदि के लिए ऐसे स्त्री आदि से रहित स्थान का ही नियम नही है । परिणतयोगी याने जिसका शरीर सघयण मजबूत है और जिनका धृति-धैर्य भी स्थिर है तथा जो कृतयोगी है ।

कृतयोगी—अर्थात् कृत याने अच्छी तरह अभ्यस्त है योग जिन्हे वे ।

योग याने पूर्व कथित ज्ञान-भावना, दर्शन-भावना आदि भावित करने की प्रवृत्ति, अथवा जिनकल्पिकादि मुनिपन प्राप्त क ने के लिए पहले जो सत्त्व भावना, सूत्र भावना तथा तप भावना आदि का अभ्यास करना चाहिये वही ।

सत्त्वभावना से-स्मशान जैसे मे भी अकेले निर्भीकता से रात भर कायोत्सर्ग ध्यान मे रहने के सत्त्व का अभ्यास करना होता है । **सूत्र भावना** मे सूत्र को परावर्तन (पुनरावर्तन) करके इतना परिचित करना होता है कि कितने सूत्र स्वाध्याय मे कितना समय गया, इसका पता चल जाय । इतना स्पष्ट अक्षर से तथा व्यवस्थित समय से चलने वाले सूत्र अर्थ के परावर्तन का अभ्यास किया जाता है । **तपभावना** मे तप के ऐसे बल का

अभ्यास किया जाता है कि तप के समय मे आहार का विकल्प ही न उठे तथा पारणा करते समय निर्दोष तथा निश्चित अभिग्रह वाली भिक्षा न मिले तो तप समाधिपूर्वक आगे बढाने का सामर्थ्य हो।

स्थिर कृतयोगी की चतुर्भंगी:—इस ज्ञान-भावनादि व सत्त्वभावनादि के रूप में योग का जिन्हे अच्छा अभ्यास हो गया हो वे कृतयोगी कहलाते है। स्थिर तथा कृतयोगी की चतुर्भंगी इस प्रकार होती है:-(१) कुछ स्थिर याने सघयण तथा धृति बल वाले हो, पर कृतयोगी न हो। (२) कुछ स्थिर न हो, पर कृतयोगी हों। (३) कुछ स्थिर भी और कृतयोगी भी होते है, एव (४) अन्य कुछ स्थिर भी नही तथा कृतयोगी भी नही। इसमे तो तीसरा विकल्प यहां परिणत योगी के रूप मे लेने का है। इसका कारण यह है कि यदि वह कृतयोगी होने पर भी स्थिर न हो, तो सघयण बल या धृति धैर्य के अभाव मे किसी उपद्रव मे ध्यान से डिग जाने की संभावना है। अत: जो स्थिर होने पर भी कृतयोगी न हो तो अभ्यास दशा मे विपरीत सयोग आने पर विचलित होने की सभावना है, अत. दोनो गुण होने चाहिये।

यह तो स्थिर तथा कृतयोगी के दो गुणो की वात हुई। अथवा 'स्थिर किये हुए योग वाले' नामक एक ही गुण को भी लिया जा सकता है। इसका अर्थ है जिन्होने वारवार योगाचरण करके योग को खूब परिचित किया हो वे स्थिर कृतयोगी। जैसे भोगी को भोग का परिचय होता है अर्थात् भोग को खास याद किये विना ही जरा जरा में याद आ जाते हैं, इसी तरह इन्हे योग के खूब अभ्यास से प्राप्त अच्छे परिचय से योग स्वाभाविक वन जाता है। ऐसे गाढ परिचित तथा सुअभ्यस्त किये हुए योग वाले परिणत योगी कहे जाते है। ये पूर्वोक्त तीसरे विकल्प वाले ही होगे।

ऐसे अच्छी तरह अभ्यस्त योग वाले मुनि को स्थान का

जो (तो) जत्थ समाहाणं होज्ज मणो वय काय जोगाणं ।
भूओवरोहरहिओ सो देसो झायमाणस्स ॥३७॥

अर्थ·— ध्याने करने वाले को जहां मन वचन काया के योगो की स्वस्थता रहे, ऐसा जीवसघट्टा आदि की विराधन से रहित स्थान योग्य है ।

नियम नही है । मुनि याने जीव अजीव आदि तत्त्वो का मनन करने वाले, इन प्रत्येक तत्त्वो का भिन्न भिन्न स्वरूप, उनके गुण-दोष, अपाय-उपाय, हेय ज्ञेय-उपादेयता आदि पर गम्भीर चिंतन मनन परिणमन करके ऐसा आत्म-समन्वय करने वाले हुए हो कि चाहे जिस स्थान पर उनका ध्यान अखण्ड चल सकता है ।

अलवत्ता वे सुनिश्चल मन वाले होने चाहिये। मन धर्मध्यान मे अत्यन्त निष्कम्प होना चाहिये । तभी उनके लिए स्थान का नियम नही । ध्यान लोगो से भरे गाव मे करें, शून्य घर मे करें या जगल मे करें, पर ध्यान मे फर्क नही पड़ता। यहा 'गाव' शब्द से एक जातीयग्रहण मे तज्जातीय का ग्रहण हो इस न्याय से नगर, बन्दर, कस्बा, उद्यान आदि समझ लेना चाहिये । वे सभी जगह ध्यान कर सकते हैं। क्योकि उन्हे तो सभी स्थानो के प्रति समभाव है। उदा० भरा हुआ गांव उन्हे प्रतिकूल नही होता और शून्य घर ही उन्हें अनुकूल हो ऐसा नही । इसका कारण है कि वे अभ्यस्त योगी तत्त्व-परिणत हो चुके है । तत्त्व परिणति आई अर्थात् अन्तर मे (मन मे) तत्त्वपरिणत हो गया । फिर तो गाव या जंगल सभी उनके लक्ष या ध्यान से बाहर रहता है और किसी भी विशेषता से रहित से उनके

काय-वाग् मनोयोगमय ध्यान

विवेचन :

ऐसे परिणत अपरिणत योग वाले के स्थान का जो विचार किया, उसका सार यह है कि ध्यान करने वाला खास तौर से यह देखे कि 'कैसे गाव आदि स्थान में अपने मन वचन काया के योग स्वस्थ रहते हैं ?' बस वह स्थान उनके लिए ध्यान के योग्य देश (स्थान) बनता है।

प्रश्न – ध्यान के लिए मनोयोग की स्वस्थता तो जरूरी है क्यों कि ध्यान मनोयोगमय है। परन्तु वचन व काययोग की स्वस्थता किस तरह जरूरी है ?

उत्तर— बात सच है, परन्तु मनोयोग की स्वस्थता पर वचनयोग व काययोग की स्वस्थता उपकारक है। यदि वचनयोग अस्वस्थ हो उदा० अगर चाहे जैसे पाप शब्द, विकथा के शब्द आदि बोले जाते हैं, तो स्वाभाविक तौर से उसमें मनोयोग याने विचार व्यापार बिगड़ता जाता है। ऐसे ही काययोग में परस्त्री आदि का नरक आखें देखती रहे, तो भी मनोयोग बिगड़ता है। इसके उल्टे वाणी व्यापार धर्म का चलता हो, उदा० वैराग्य के काव्य बोले जाते हों, या काययोग परमात्मा को या हिर्द. तपस्वी नवमी या नम्न का उपासना में हों तो उनसे अच्छा मनोयोग चलता है। अत: चाहे ध्यान मनोयोगमय हो, तब भी इसके लिए प्रशस्त वाक्काययोग जरूरी है।

जैन शासन की दूसरी एक विशिष्ट बात यह है कि ध्यान स्थिर मनोयोगमय की तरह स्थिर स्वस्थ वचनयोगमय और काययोगमय भी होता है। कहा है:—

'एवंविहा गिरा मे वत्तव्वा, एरीस न वत्तव्वा।
इय वेयालियवक्कस्स भासओ वाइगं झाणं॥

सुसमाहियकर पायस्स अकज्जे कारणंमि जयणाए ।
किरियाकरणं जं ते काइयझाणं भवे जइणो ॥

इस प्रकार की भाषा बोलना, इस प्रकार की नही बोलना, ऐसे दशवैकालिक सूत्र के वचनानुसार बोलने वाले को वाचिक ध्यान होता है। तथा हाथ पैर को अच्छी तरह व्यवस्थित रखकर उसे अकार्य मे नही जोडने वाला और कारण हो तो जयणापूर्वक क्रिया करने वाले यति का यह क्रिया-करण ध्यान है।

इसस सूचित होता है कि स्वस्थ वचन योग काययोग भी ध्यान रूप है। इस ग्रंथ मे आगे जाकर कहा जायगा कि 'ध्यान' का अर्थ (१) 'ध्यै' चिन्तायाम् (२) 'ध्यै' कायनिरोधे (३) 'ध्यै' अयोगित्वे है। याने एकाग्रचितन, कायनिरोध और अयोगिता करण ऐसे अर्थ होते हैं। साथ ही ग्रंथ के अत मे यह भी लिखा है कि मुनिकी सब क्रिया ध्यान रूप ही है। इस तरह से वचनयोग व काययोग ध्यान रूप बनते है।

यहा एक खास बात समझने की यह है कि ध्यान के योग्य देश के रूप मे स्थान मात्र योग का समाधानकारी याने स्वस्थताकारी हो इतना ही काफी नही है। किन्तु वह 'जीवोपरोध रहित' भी होना चाहिये। जीवोपरोधरहित यान जहा पृथ्वीकायादिजीवो का सघट्टा होता हो, जीवो को परिताप होता हो, इत्यादि जीव विराधनावाला स्थान नही होना चाहिये। ध्यान मे बैठने से चाहे अपने हाथो जीवो को दुःख न भी पहुंचता हो, किन्तु उस स्थान मे जीवो को दूसरों से भी दुःख पहुंचताहो, तो भी वह स्थान ध्यानयोग्य नही गिना जायगा। क्योकि यति के दयापूर्ण हृदय को यह देख कर स्वाभाविक ही उन जीवों के प्रति भाव, दयार्द्रता होगी, जिससे चित्त उसमें जाने से प्रस्तुत विषय के ध्यान का भंग होगा।

कालो वि सो च्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ ।
न उ दिवसनिसावेलाइ नियमणं झाइणो भणियं । ३८॥

अर्थः—ध्यान करने वाले के लिए काल ऐसा होना चाहिये कि जिसमे योगस्वस्थता उत्तम प्राप्त हो। परन्तु दिन ही या रात्रि कालादि ही योग्य समय है, ऐसा नियम नही है। ऐसा तीर्थंकर गणधरो ने कहा है।

इतना ही काफी नही है। किन्तु 'एकजातीय के ग्रहण से तज्जातीय दूसरे का भी ग्रहण होता है।' इस न्याय से 'जीवोपरोध' शब्द से हिंसा जैसे असत्य, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह इत्यादि पाप भी सग्रहित होता है। अतः ऐसे पापो का जहाँ सेवन होता हो वह स्थान भी नही चाहिये। इसका भी कारण यही है कि योगी का हृदय पापघृणा वाला होने से दूसरो का पाप नजर समक्ष आते ही उन पापो के प्रति घृणा तथा पाप करने वाले जीवों के प्रति दया के असर वाला हो जाने की संभावना है और इस घृणा व दया के उठ आने से ध्यान भंग होता है।

अतः ध्यान के योग्य स्थान ऐसे जीवहिंसादि पापरहित होना चाहिये। इस पर से यह सूचित होता है कि मुनि का दिल परिग्रहादि पापो के प्रति कैसा होना चाहिये। यह 'देश' की बात हुई।

ध्यान के लिए काल

अब ध्यान योग्य 'काल' की बात कहते है :—

विवेचन :

काल याने कलन, जिसमे गिनती हो अथवा काल याने कला समूह ढाई द्वीप समुद्र मे सूर्य चद्र की गति क्रिया से सूचित दिन आदि। 'कालो वि' मे 'वि' अक्षर समानता बताने वाला है। ध्यान करने वाले के लिए जैसे देश योग्य होना चाहिये इतना ही, पर नाम

जच्चिय देहावत्था जियाण झाणोवरोहिणी होइ ।
झाइज्जा तदवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो वा ॥३९॥

अर्थ.— कोई भी अभ्यास की हुई देह की अवस्था जो ध्यान के पीडा उत्पन्न करने वाली नही, उस अवस्था में रहकर ध्यान करे। चाहे खडे खडे काउस्सग्ग ध्यान से चाहे वीरासनादि मे बैठकर या लबे होकर या सिकुडकर सोते हुए भी।

से अमुक ही देश, स्थान, आदि का नियम नही, इसी तरह काल मे भी अमुक समय हो ऐसा नियम नही, किन्तु इतना ही कि काल भी योग्य चाहिये, यह कहा है।

योग्य काल कैसा? जहा योग का उत्तम समाधान मिले, योग की उत्तम स्वस्थता मिले, जिस समय मन वचन काया का व्यापार स्वस्थ हो उस समय ध्यान हो सकता है। यह काल दिन मे हो वैसे ही रात्रि मे भी हो सकता है। कोई भी मुहूर्त (याने दो घडी) आदि या दिन का पूर्व हिस्सा या पिछला हिस्सा भी हो सकता है। अमुक दिन ही या रात्रि ही या पूर्वान्ह ही, ऐसा कोई नियम नही। इस तरह तीर्थंङ्कर देवो तथा गणधर देवो ने कहा है यह काल द्वार का विचार किया।

ध्यान का आसन : योग-समाधान ही ध्यान

अब 'आसन विशेष' द्वार की व्याख्या करने के लिए कहते है:—

विवेचन :

ध्यान किस आसन से करना चाहिये? इसके लिए भी यह नियम नही कि पद्मासन आदि से ही हो। किन्तु शरीर की जो अवस्था स्वय को अभ्यस्त हो, जिसकी आदत पड़ गई हो या जो उचित हो, उस अवस्था में रह कर ध्यान किया जाय। अलबत्ता

सव्वासु वट्टमाणा मुणओ जं देसकाल चेट्ठासु ।
वर केवलाइलाभं पत्ता बहुसो समिय पाव ॥४०॥

अर्थ.—देश काल आसन का नियम नहीं है क्यों कि मुनि सभी देश काल या शरीर अवस्था में रह कर पाप का शमन करके अनेक वार मुख्य केवल ज्ञानादि को प्राप्त कर चुके है ।

वह अवस्था ऐसी होनी चाहिये कि जिसमे थकान या विह्वलता होने से चित्त उसमे जाकर ध्यानभग जो होता है, वह न हो । यदि उस अवस्था मे बीच मे अंगोपांग घुमाने पड़ते हो, तो उसका अर्थ यह हुआ कि वहां थकान का अनुभव हुआ । इससे ध्यान मे से चित्त डिगता है, ध्यान स्खलित होता है ।

अतः मुख्य बात यह है कि ध्यान अस्खलित चल सके, ऐसा कोई भी स्थिर आसन याने स्थिर रहने वाली शरीर की अवस्था ध्यान के लिए योग्य आसन है । फिर चाहे वह खड़े खड़े काउस्सग्ग (पालखी) की अवस्था मे हो, बैठे बैठे वीरासन, पद्मासन या पर्यंकासन मे हो अथवा जीवन के अन्तिम काल मे पादपोपगमन अनशन मे जैसे सोने की अवस्था होती है, वैसे लम्बे होकर या सिकुड़ कर सोते हुए आसन से भी किया जा सकता है । अत्यन्त बीमार तथा शय्यावश हो तो क्या करे ? वह सोते सोते भी ध्यान कर सकता है । परन्तु तन्दुरुस्त होकर वैसा करे तो प्रमाद, निद्रा या झोके उसे आ जावेंगे । 'ध्यान अस्खलित व अखंड' का अर्थ यही कि जिसमे बीच मे कोई विक्षेप नही आवे याने दूसरे विचारो मे मन न खिचे अथवा प्रमाद या निद्रा भी नही आवे ।

दूसरे तो ध्यान के लिए गुफा आदि स्थान हो, दिन या रात्रि का अमुक निश्चित समय तथा निश्चित पद्मासन आदि जरूरी बताते

तो देसकाल चेट्ठा नियमो झाणस्स नत्थि समयंमि ।
जोगाणं समाहाणं जह होइ तहा जइयव्वं ॥४१॥

अर्थ –इसीलिए आगम मे 'देश काल शरीर चेष्टा' आदि वही चाहिये, ऐसा नियम नही है। सिर्फ (इतना ही नियम कि) योगों की स्वस्थता जिस तरह रहे वैसा प्रयत्न करना चाहिये।

है और उसके बिना ध्यान हो ही नही सकता ऐसा कहते हैं। तो यहा स्थान, काल या आसन का ऐसा कोई नियम क्यो नही किया ? इसकी स्पष्टता करते हैं:

विवेचन :

ध्यान के लिए देशकाल आसन का नियम नही बाधने का कारण यही है कि मुनि ढाई द्वीप के सभी स्थानो मे, दिन व रात्रि के सभी समय मे और किसी भी चेष्टा प्रवृत्ति या शरीर अवस्था मे पाप का शमन करके (पाप नष्ट कर के) केवलज्ञान आदि पा चुके हैं। केवलज्ञान की प्राप्ति ध्यान बिना तो हो ही नही सकती; क्यो कि कठोर तपस्या आदि करने से अमुक ढेरो कर्म नाश करने के बाद भी जो घाती कर्म के पाप बाकी रहते हैं उसे तोड़ने की ताकत एकमात्र ध्यान मे है। तो चाहे जिस स्थान आदि मे केवलज्ञान हुआ उसे ध्यान तो हुआ ही, तो फिर ध्यान के लिए अमुक ही स्थान आदि का नियम कहा रहा कि उसमे ही ध्यान हो सकता है ?

अकेला केवलज्ञान ही नही, पर अवधिज्ञान मनपर्यवज्ञान आदि भी, ध्यान से पापो का शमन होने से, प्रकट होते हैं और यह ध्यान भी कईयो को अनियत अर्थात् अनिश्चित स्थानादि मे होता रहा है। वह भी एक ही बार नही पर अनेक बार। यह सूचित करता है कि ध्यान के लिए अमुक ही देश काल या आसन हो ऐसा

आलंबणाइं वायण पुच्छणपरियट्टणाऽणुचिंताओ ।
सामाइयाइं सद्धम्मावस्सयाइं च ॥४२॥

अर्थ:—(धर्म ध्यान में चढने के लिए निर्जरा के लिए कराने वाली सूत्र की) वाचना में याने पठन पाठन, शंकित में पृच्छा, पूर्व पठित का परावर्तन, अनुचिंतन, अनुस्मरण और चारित्र धर्म के सुन्दर अवश्य कर्तव्य, सामायिक पडिलेहन आदि साधु समाचारी उसका आलंबन है।

नियम नहीं है। तब भी इतना सच है कि ध्यान का अभ्यास करने वाले को अपने तीनो योगो की स्वस्थता रहे तथा ध्यान भंग न हो वैसे देश काल आसन रखना चाहिये।

यही बात सारांश में पुनः कहते हैं:—

विवेचन :

जीव किसी भी देश आदि में केवलज्ञान प्राप्त कर चुके हैं अतः ध्यान के लिए देश काल शरीर चेष्टा अवस्था आसन अमुक ही चाहिये ऐसा नियम नही है। आगम में कहा भी ऐसा नियम नहीं रखा। यदि नियम है तो इतना ही कि ध्यान करने में मन वचन काया के तीनों योग समाहित-स्वस्थ होने चाहिये और इस तरह प्रयत्नशील रहना चाहिये कि जिससे योगों का समाधान हो, स्वस्थता रहे।

यहां तीनों योगो का समाधान याने स्वस्थता कहा है उसका अर्थ यह है कि कोई भी धार्मिक प्रवृत्ति प्रतिक्रमणादि कायिक प्रवृत्ति या स्वाध्यायादि वाचिक प्रवृत्ति अथवा तत्त्व चिंतन या अनित्यादि भावना चिंतनादि मानसिक प्रवृत्ति स्वस्थता से शास्त्र विधि के अनुसार चलती हो उसमें ध्यान हो सकता है और पूर्व में कहा

वैसे जवरदस्त पापकर्मों को नष्ट कर सकता है। इस तरह आसन-द्वार का वर्णन हुआ।

ध्यान के लिए आलंबन

अब आलबन द्वार का अवयव अर्थ बताने के लिए कहते हैं.—

विवेचन :

पूर्व-कथित ज्ञान-भावनादि चार भावनाओ से मन को अच्छी तरह भावित किया हो अत. आत्मा योग्य देशकाल आसन में त्रिविध योगो को स्वस्थ रखने के लिए अभ्यस्त हुआ। वह आज्ञा-विचय आदि धर्मध्यान मे कौन कौन से आलबन से चढ सकता है अर्थात् ऐसी कौन कौन सी प्रवृत्ति रखे कि उसके आधार पर धर्म ध्यान हो। ये आलम्बन यहा बताते हैं।

इसमे पहला आलम्बन 'वाचना' है। वाचना याने गणधर-देव आदि द्वारा रचित सूत्र का योग्य शिष्य को धर्म निर्जरा के हेतु से दान देना चाहिये, सूत्र पढाना चाहिये। वह पढाने मे उसका अर्थ पढाना भी समाविष्ट होता है। उपलक्षण से सूत्र अर्थ का ग्रहण याने गुरु के पास सूत्रार्थ पढने का समझ लेना चाहिये। इस वाचना का आलम्बन यानी प्रवृत्ति रखे तो उसमे मन एकाग्र होने से धर्म-ध्यान मे चढ सकता है।

इसी तरह 'पृच्छना' अर्थात् पढे हुए में जहा शका हो, प्रश्न उठे, तो गुरु के पास जाकर उसके निराकरण के लिए विनय से पूछे। फिर 'परियट्टणा' अर्थात् पढे हुए सूत्र व अर्थ को भुलाया न जाय, और वाचना के अतिरिक्त समय मे भी शुभ प्रवृत्ति रहे उसके लिए पढे हुए सूत्र अर्थ का परावर्तन पुनरावृत्ति पारायण करे। वैसे ही 'अनुचिता' अर्थात् सूत्रादि का विस्मरण न हो उसके लिए मन से ही चिंतन करे। यह 'वायण पुच्छण परियट्टणाऽणुचिताओ' का द्वन्द्व समास हुआ।

श्रुतधर्म-चारित्रधर्मः यह वाचना आदि प्रवृत्ति श्रुत धर्म के अन्तर्गत गिनी जायगी। धर्म की आराधना दो प्रकार से करने की है। श्रुत धर्म व चारित्र धर्म। श्रुत धर्म के रूप मे वाचनादि प्रवृत्ति रखना चाहिये और चारित्र धर्म के रूप में अब जो कहेगे वह सामायिकादि आवश्यको का आचरण करना चाहिये।

*सामायिकादि मे सामायिक, पडिलेहन आदि समस्त चक्रवाल समाचारी (साधु की) आती है। 'सामायिक' तो प्रसिद्ध है। सावद्य योगो का मन वचन काया से प्रतिज्ञापूर्वक त्याग करके राग द्वेषादि रहित समभाव मे आना सामायिक कहलाता है। इसमे स्वाध्याय ध्यान महाव्रत समिति गुप्ति का पालना आदि करना होता है।

*पडिलेहन मे मुहपत्ति (मुखवस्त्रिका) का तथा वस्त्र, पात्र, वसति (स्थान) का प्रत्युपेक्षण प्रमार्जन करने का आता है जिससे कोई जीव-जन्तु मरे नहीं। इत्यादि समस्त चक्रवाल समाचारी का पालन ही ध्यान के लिए आलम्बन रूप होता है।

साधु जीवन मे गुरु तथा गच्छ के साथ रहते हुए 'इच्छाकार' अर्थात् दूसरे को कुछ काम बताना हो तो उसको वह करने की इच्छा पूछना चाहिये। 'मिच्छाकार' याने भूल होने पर मिथ्यादुष्कृत देना चाहिये। 'तहत्तिकार' याने गुरु वचन तुरन्त 'तहत्ति' (तथास्तु) कह कर स्वीकार करना, अपने स्थान या मन्दिर में घुसते व बाहर निकलते हुए 'निसिहि' या 'आवस्सही' कहना चाहिये। गोचरी (भिक्षा) जाते वक्त और आहार लाने के बाद मुनियों को 'छदणा' (इच्छा) पूछना तथा 'निमतणा' करना इत्यादि आचार का पालन करना चाहिये। इस तरह पाच समिति व तीन गुप्ति की प्रवृत्तियें जिसमे ४७ दोष रहित गोचरी लाने व उसका उपयोग करने की प्रवृत्ति भी आ जाता है। ये तथा दोनों समय के प्रतिक्रमण की

विसमंमि समारोहइ दढदव्वालंबणो जहापुरिसो ।
सुत्ताइ कयालंबो तह झाणवरं समारुहई ॥४३॥

अर्थ:—जिस तरह मनुष्य नीचे के किसी स्थान से मजबूत रस्सी आदि द्रव्य के आलम्बन से ऊपर चढ जाता है, उसी तरह सूत्रादि का आलम्बन करने वाला उत्तम ध्यान (धर्म ध्यान) पर चढ जाता है ।

क्रिया, देव-वन्दन की क्रिया आदि बराबर शास्त्रोक्त विधिपूर्वक किये जाय । ये सब साधु का आचार है और वे चारित्रधर्म मे सुन्दर आवश्यक है याने अवश्य कर्तव्य है ।

इस तरह श्रुत धर्म के वाचना पृच्छना आदि सत्कृत्य तथा चारित्र धर्म के सामायिकादि आवश्यक सत्कर्तव्य ध्यान के लिए आलम्बन रूप हैं । उसमें मन लग जाय, तो धर्म ध्यान सुलभ (सरल) बन जाता है । ये आलम्बन के पदार्थ भी बताते है कि ध्यान के अर्थी को ससार की बेकार बातो (उधेडबुन) मे से छूट कर ऐसी प्रवृत्ति मे लग जाना चाहिये ।

अब इन श्रुत-चारित्र-धर्म के कार्यों को ही आलम्बन रूप क्यों कहा, उसका कारण बताते है —

विवेचन :

मनुष्य किसी कुंए आदि मे गिर गया हो तो उसे किसी मजबूत रस्सी आदि का आलम्बन या आधार के रूप में मिलने पर उसके आधार से ऊपर चढ जाता है । वह चढेगा अपने पुरुषार्थ तथा अपनी शक्ति से ही, किन्तु रस्सी या सीढी आदि कुछ भी साधन, आधार या आलम्बन नही मिले तो वह नही चढ सकता । इसी तरह यहां दुर्ध्यान कुविकल्प आदि में पड़ा हुआ जीव गणधरादि

झाणप्पडिवत्तिकमो होइ मणोजोगनिग्गहाईओ ।
भवकाले केवलिणो, सेसाण जहा समाहीए ॥४४॥

अर्थः—ध्यान प्राप्ति का क्रम (मोक्ष मार्ग के अति निकट के) समार काल में केवलज्ञानी को मनोयोग निग्रह आदि होना है। अन्यों को स्वस्थानुसार (होता है ।)

से रचित सूत्र की वाचनादि का आलम्बन ले कर धर्मध्यान में चढ जाता है । शुभ ध्यान में अपने मन से या पुरुषार्थ से ही चढा जाता है किन्तु ऐसी वाचनादि श्रुतधर्म या सामायिकादि आवश्यक का आलम्बन नही करे तो धर्मध्यान मे नहीं चढ सकता । आरीसा भवन में या लग्न मण्डप मे धर्मध्यान मे चढे थे भी पूर्वोक्त शुभ चितन का आलम्बन कर के ही चढे । अतः ध्यान के लिए आलम्बन अति महत्त्व की वस्तु हैं । यह 'आलम्बन' द्वार कहा ।

धर्म-शुक्ल-ध्यान में क्रम

अब क्रम द्वार आता है । वह लाघव के लिए याने संक्षेप में पूर्ण हो इसलिए धर्मध्यान और शुक्लध्यान दोनों का क्रम बताते हुए कहते हैं:—

विवेचन :

ध्यान प्राप्ति का क्रम दो तरह से है:—(१) केवलज्ञानी महर्षि जब मोक्ष पाने के अति निकट के काल मे अर्थात् अन्तिम शैलेशी अवस्था के अन्दर के अन्तर्मुहूर्त काल मे आते है और वहा उन्हे शुक्ल ध्यान के अन्तिम दो चरणो का ध्यान करने का अवसर आता है तब वे पहले तो मनोयोग का निग्रह करते हैं फिर वचनयोग का निग्रह और फिर सूक्ष्म भी काययोग का निग्रह करते हैं ।

यों तो केवलज्ञानी को ध्यान करने का ही नही होता। क्योंकि (i) वे मर्वज्ञ सर्वदर्शी होने से उनके समक्ष तीनो काल के समस्त भाव प्रत्यक्ष होने से उन्हे चितन करने जेसा कुछ भी वाकी ही नही रहना, फि ध्यान किस का करें ? पुन: (ii) वे अब जीवनसिद्ध वन चुके है। उनका साधना काल समाप्त हो चुका है। साधना मात्र से मत्र घाती कर्मो का जो नाश करना होता है वह तो उन्हें सर्वथा हो चुका है। तो अब ध्यान की साधना किस लिए करें ? तो जो अघाती कर्म वाकी है, वे तो भुगत कर पूरे होंगे। वे साधना से जल्दी नाश किये जा सकने योग्य होते ही नही है। साथ ही वे यदि वाकी हो तो भी आत्मा के निर्मल वीतराग सर्वज्ञ स्वरूप परमात्म-अवस्था को कुछ हानि नही पहुँचती। अत: अव कुछ भी साधना ही न होने से उन्हें ध्यान-साधना भी नही होती।

इस पर से यह भी समझ मे आता है कि देव की ध्यानस्थ मूर्ति अपूर्ण अवस्था की मूर्ति है। मध्यस्थ चक्षु वाली आखो की प्रशात वीतराग सर्वज्ञ अवस्था वाली परमात्मा को मूर्ति ही पूर्ण अवस्था को मूर्ति है। साधक का अन्तिम आदर्श इस पूर्ण अवस्था की कक्षा का ही होता है, अत: वह वीतराग अवस्था को मूर्ति की ही पूजा करेगा, और भाव से देवाधिदेवत्व या तीर्थङ्करत्व तो इस पूर्ण वीतराग सर्वज्ञ अवस्था मे ही है।

वात यह है कि केवलज्ञानी को ध्यान की साधना करने का ही नही होता। पर अव जव मोक्ष पाने का समय अत्यन्त निकट आ गया हो, तव उन्हे योग का निरोध करना आवश्यक है। क्योंकि अव तक विहार व्याख्यान गोचरी आदि प्रवृत्ति याने काययोग वचनयोग चालू है अत: कर्म-वन्ध के पाच मुख्य कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग मे से पाचवां कारण 'योग' अभी भी उपस्थित है। ये है वहा तक कर्म-वन्ध चलता रहेगा। तो मोक्ष

कैसे होगा ? अतः योगनिरोध करके जब कर्म बन्ध रोका जाय, तभी मोक्ष होगा।

प्रश्न— पर आयुष्य पूर्ण होने पर शरीर आदि छूट जाने मे मोक्ष होगा न ?

उत्तर – नहीं। यदि जीवन के अन्तिम समय मे योग हो, तो उससे बाधा हुआ कर्म आत्मा पर खड़ा रहने से जीवन पूर्ण होने पर सर्व कर्म-क्षय कहा हुआ ? तो मोक्ष कैसे होगा ? अत आयुष्य पूर्ण होने पर शरीर के छूट जाने से इस अन्तिम समय के बाधे हुए कर्म को भुगत लेने का साधन कहां है ? तो यदि यह कहा जाय कि 'अन्तिम समय मे योग रोक दे अत. नया कर्म बन्ध नही होगा।' तो यह कहना ठीक नही, क्यो कि इस तरह यह कार्य असम्भव है। क्योकि योगो को सम्पूर्ण रोकने की कार्यवाही एक समय मे नही हो सकती। उसके लिए आत्म पुरुषार्थ करना पड़ता है, मन वचन काया के स्थूल व सूक्ष्म योगो को क्रमशः रोकने की क्रिया करनी पड़ती है, और वैसा करने मे असंख्य समय लगते हैं।

शैलेशी करण.—इसलिए तो ज्ञानी ज्ञान से देख कर यह कहते है कि केवलज्ञानी जीव मोक्ष जाने के अति निकट के अन्तमुहूर्त काल में समस्त योगो को सम्पूर्ण रूप मे रोक कर योग-निरोध की क्रिया करते हैं। इसे शैलेशी करण की क्रिया कहते हैं। आत्मा जहा तक योग सहित होता है, तब तक उसके प्रदेश (अंश) कपनशील होते है, पर अब सम्पूर्ण योगनिरोध होने से आत्म-प्रदेश सर्वथा मेरु की तरह स्थिर हो जाते हैं। मेरु यह शैल (पर्वत) का ईश याने शैलेश कहा जाता है। जीव बिलकुल निष्प्रकंप होने से इस शैलेश जैसी अवस्था पर आरूढ होता है याने शैलेशीकरण करता है। इस शैलेशीकरण में अन्तमुहूर्त समय में योगों को रोकने याने

निरोध करने की जो प्रक्रिया होती है वह शुक्ल ध्यान रूप होती है। यहा ध्यान का अर्थ मनवचनकाया की स्थिरता, वह इतनी होती है कि उन योगो का याने उनकी प्रवृत्ति का सम्पूर्ण निरोध हो जाता है। यही ध्यान केवलज्ञानी को संसार के अन्तिम काल मे होता है। इस ध्यान मे क्रम यह रहता है : पहले मनोयोग का निग्रह, फिर वचनयोग का निग्रह, और अन्त मे काययोग का निग्रह होता है।

यह तो सिर्फ केवलज्ञानी को अन्त मे होने वाले शुक्ल ध्यान के क्रम की वात हुई (अन्य सब महात्माओ को धर्म ध्यान की प्राप्ति हो तब योग और काल के आश्रय से प्रातिक्रम उनकी समाधि के अनुसार होता है अर्थात् उन्हे जिस तरह य.गों की तथा काल की स्वस्थता अनुकूलता रहे उस अनुसार क्रम होता है।) यह क्रम द्वार हुआ।

'ध्येय' – ध्यान का विषय

अव ध्येय द्वार कहते है। ध्येय अर्थात् ध्यान का विषय क्या ? श्री तत्त्वार्थ महाशास्त्र अ० ९ सूत्र ३७ में कहा है—

'आज्ञाऽपाय विपाक सस्थान विचयाय धर्म्यम्'। यह बताता है कि धर्मध्यान आज्ञा, अपाय, विपाक तथा सस्थान के चिंतन के लिए होता है। अर्थात् धर्म ध्यान का विषय याने धर्म ध्यान का 'ध्येय' आज्ञादि चार होते है।

आज्ञा याने जिनाज्ञा, जिनवचन, जिनागम।

अपाय अर्थात् राग द्वेष आदि आश्रवो का अनर्थ।

विपाक याने कर्मो के उदय का परिणाम।

संस्थान याने १४ राजलोक आदि की स्थिति। इन चारो के बारे मे धर्म ध्यान मे एकाग्र चिंतन किया जाता है।

धर्म ध्यान के आज्ञा अपाय आदि चार प्रकारों का रहस्य: यह रहस्य समझने जैसा है। जीव को आर्त्त रौद्र ध्यान से बचाने वाला धर्म-ध्यान है। यह आर्त्त रौद्र-ध्यान होने का कारण-(१) विषय, राग, (२) हिंसादि पापों में दिलचस्पी तथा निडरता, (३) अहत्व क्षुद्रता, तथा (४) अज्ञना मूढता है। यदि ये रुक जाय तो आर्त्त रौद्र ध्यान रु.। धर्म ध्यान के ये चार प्रकार इन्हे रोकने वाले हैं; इससे धर्म ध्यान से अशुभ ध्यान का रुक जाना स्वाभाविक है। ये कैसे रोकते है यह देखिए—

(१) धर्म ध्यान मे पहला प्रकार आज्ञाविचय याने जिनाज्ञा का चिंतन है। यह लाने के लिए जिनाज्ञा की एक एक विशेषता को ले कर जिनाज्ञा पर अत्यन्त बहुमान खड़ा होना चाहिये। मन को ऐसा होता है कि अहो ! यह जिनाज्ञा इतनी अधिक अतिनिपुण! अनादि अनन्त !' ऐसे दिल के उछलते हुए बहुमान के साथ चिंतन होगा तब मन कही एकाग्र तन्मय होकर उसमे चिपक जायगा और यही धर्म ध्यान बनेगा। तब यदि जिनाज्ञा पर बहुमान हो तो जिनाज्ञा मे तो विषयत्याग और सम्यक् ज्ञानाचार आदि आराधना की आज्ञा है, अत. आज्ञा बहुमान से स्वत. ही विषयराग रुकेगा और इससे उसके निमित्त होने वाला दुर्ध्यान रुक जायगा।

(२) तो विषयराग के साथ पाप का आनन्द (दिलचस्पी) और पाप की निर्भयता रोकने के लिए 'अपायविचय' है। अपायविचय मे हिंसादि दुष्कृत्यो तथा रागादि दोषो के अपाय याने अनर्थ का चिंतन है; इस चिंतन मे तन्मयता लाने के लिए इन दोषों और दुष्कृत्यो के प्रति पूरा पूरा तिरस्कार और उसके अनर्थो का भय जागना चाहिये। इन पापो के प्रति अत्यन्त तिरस्कार तथा भय खड़ा होने से (i) उसके अपाय के चिंतन मे कही तन्मयता आवे तो

सुनिउण मणाइणिहणं भूयहियं भूयभावण मणग्घं ।
अमिय मजिय महत्थं महाणुभावं महाविसयं ॥४५॥
झाइज्जा निरवज्जं जिणाणमाणं जगप्पईवाणं ।
अणिउणजणदुण्णेयं नय भंग प्रमाणगमगहणं ।४६॥

अर्थ.-(जिनाज्ञा सूक्ष्म द्रव्यादि व मत्यादि का निरूपक होने से) अत्यन्त निपुण, (द्रव्यादि की अपेक्षा से) अनादि अनन्त, जीव कल्याण रूप, (अनेकान्त बोधक), सत्य भावक, अनर्घ्य अमूल्य, (अथवा ऋणघ्न=कर्म नाशक) होने से (अर्थ से) अपरिमित (या अमृत क्योकि मीठी, पथ्य, अथवा सजीव याने उपपत्ति क्षम), (अन्य वचनो से) अजित, प्रधान अर्थ वाली (अविसवादी, अनुयोगद्वारात्मक, नय घटित होने से, (i) महार्थ, या (ii) महत्स्थ-बड़े समकिती जीवो मे स्थित, या (iii) महास्थ=पूजा प्राप्त, महान अनुभाव प्रभाव सामर्थ्य वाली (चौदपूर्वी सर्व लब्धि सम्पन्न होने से प्रधान तथा सर्वार्थ सिद्ध विमान और मोक्ष तक का कार्य करती होने से प्रभूत), महान विषय वाली, निरवद्य याने दोप पाप रहित, अनिपुण लोगो से दुर्ज्ञेय, तथा नयभगी प्रमाणगम (अर्थ मार्गो) से गहन, ऐसी जगत के दीपक समान जिनेश्वर भगवन्त की आज्ञा का (निरवद्य) ध्यान करे ।

वह धर्मध्यान और (ii) स्वत: ही पाप का आनन्द व निर्भयता रुके और इमसे आर्त्त रौद्र ध्यान रुके ।

(३) तो जीव की तीसरी कमी अहत्व तथा क्षुद्रता है । ये भी जीव को सुख दु.ख के प्रसग आने पर दुर्ध्यान कराते है । इसके सामने निरहकार और उमदा दिल बड़ा होता है जिससे अहत्व क्षुद्रता स्वाभाविक ही रुक जाय । धर्मध्यान का तीसरा प्रकार

'विपाक विचय' है। इसमे शुभाशुभ कर्मों के विपाक का विचार करते है। यदि कर्मों के विपाक पर अटल विश्वास हो कि 'ऐसे ऐसे कर्मो मे ऐसा ऐसा फल होता है।' तो इस विश्वास के कारण (i) कही कर्म विपाक के चिंतन मे तन्मयता आने से धर्म ध्यान होता है और (ii) दूसरी तरफ सुख मे अहत्व और दु.ख मे क्षुद्रता, गुस्सा, हाय (दु.ख) आदि रुके जिससे दुर्ध्यान रुकता है।

(४) तो धर्म ध्यान का चौथे प्रकार 'सस्थान विचय' मे १४ राजलोक का तथा धर्मास्तिकायादि षट्द्रव्यो का स्वरूप परिस्थिति आदि का चिंतन करते हैं। यह सोचने से विराट् का दर्शन होता है और उससे अज्ञानता मूढता रुकती है जिससे फिर उसके निमित्त होने वाला आर्त्त ध्यान आदि भी रुक जाय तो उसमे क्या आश्चर्य ?

बस धर्मध्यान के चारों प्रकार में जीवन के चार महान साध्य बताये है। जिनाज्ञा बहुमान, हिंसादि पापो का तिरस्कार, कर्म विपाक का अटल विश्वास तथा विराट दर्शन।

अब धर्म ध्यान के पहले प्रकार 'आज्ञा विचय' का प्रतिपादन करने के लिए कहते है.—

विवेचन :

धर्म ध्यान के पहले प्रकार 'आज्ञाविचय' मे जगत के दीपक समान जिनेश्वर भगवान की आज्ञा का चिंतन करना होता है। अर्थात् यह जिनाज्ञा कैसी कैसी विशेषता वाली है उसका ध्यान करना होता है। यहा इसके लिए इन दो गाथाओं में जिनाज्ञा के १३ विशेषण बताये हैं। अलबत्ता इसमें प्राकृत भाषा के कारण अथवा शब्द महिमा से एक के अनेक अर्थ होते हैं, इससे वे १३ से भी ज्यादा विशेषण बन जाते है। इनमे से प्रत्येक विशेषण के अनुसार जिनाज्ञा का ध्यान करना होता है। वह निम्न प्रकार से किया जाता है:—

(१) सुनिपुणः अर्थात् जिनाज्ञा की सुनिपुणता का ध्यान करे। जैसे–'अरे कैसा सुनिपुण जिन वचन ! जिन वचन से ही सूक्ष्म द्रव्य तथा सूक्ष्म पर्यायो तक का प्रतिपादन हुआ है। धर्मास्तिकायादि द्रव्य तथा पुद्गल द्रव्य मे वर्गणाओ तथा जीव द्रव्य मे निगोद याने जमीनकद, लाल फूलन, आदि के एक एक कण में असख्य शरीर तथा एक एक शरीर मे अनन्तानत जीव, फिर उन प्रत्येक जीव पर चिपके हुए कर्म के अनन्त स्कंध और उस प्रत्येक स्कंध मे रहे हुए अनन्तानन्त परमाणु इत्यादि जीव अजीव सूक्ष्म द्रव्यो की पहचान सर्वज्ञ श्री जिनेश्वर देव के वचन सिवाय अन्य कौन बता सकता है ? इन प्रत्येक अणु के भी अनन्त स्वपर पर्याय, प्रत्येक कर्म स्कध पर बंध, उदय, उदीरणा, संक्रमण उद्वर्तन आदि से होने वाली प्रक्रिया, उसमे भी सख्यात गुना, असख्यात गुना और अनन्त गुना हानि वृद्धि से होने वाली षड्गुण हानि वृद्धि, इत्यादि पर्याय सूक्ष्मता जिनवचन से ही जानने को मिली है, तो जिनवचन की यह कैसी सुनिपुणता ! कैसी उत्कृष्ट कुशलता !

इसी तरह मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि पाच ज्ञान के भेद तथा उनके प्रभेद या अवान्तर प्रकार मात्र जिनवचन से ही पहचाने जाते है। उसमे फिर जिनवचन रूपी श्रुत की और श्रुतज्ञान की निपुणता कैसी कि जिनेश्वरदेव को केवलज्ञान होने के बाद भी उस श्रुत द्वारा ही श्रुतज्ञान का तथा अन्य चारो ज्ञान का प्रकाश किया जाता है ! यह भी जिनवचन की कैसी सुनिपुणता ! इस तरह सुनिपुणता का ध्यान करे।

(२) अनादि निधन:—अहो ! जिनवचन कैसा अनादि तथा निधन याने उत्पति व नाश रहित सदा स्थायी ! कैसा अनादिकाल से चला आने वाला तथा अनन्तकाल तक रहने वाला !

प्रश्न — जिनवचन याने द्वादशांगी आगम । यह तो प्रत्येक जिनेश्वर भगवान के शासन मे नये सिरे से रचा जाता है और शासन का विच्छेद होने पर उसका भी नाश होता है । तो फिर वह अनादि निधन किस तरह ?

उत्तर द्रव्यादि की अपेक्षा से अनादि निधन है । कहा है कि 'द्रव्यार्थादेश से यह द्वादशागी कभी नही थी ऐसा नही है, न ही ऐसा है कि भविष्य मे कभी न हो ।'

द्रव्यार्थादेश का अर्थ क्या ? द्वादशांगी आगम जिस पदार्थ का निरूपण करता है उसमे दो मुख्य चीजें हैं । धर्मास्तिकायादि द्रव्य तथा उसके स्वपर पर्याय । अतः पदार्थ के दो अर्थ द्रव्यार्थ तथा पर्यायार्थ । इसमे द्रव्यार्थ की दृष्टि याने द्रव्यार्थादेश से देखें तो प्रत्येक जिनेन्द्र भगवान की द्वादशागी चाहे शब्द रचना से अलग अलग हो, परन्तु सभी द्वादशागी उन्ही धर्मास्तिकायादि द्रव्यो का निरूपण करती है, क्यो कि ये मूल द्रव्य कभी अन्य रूप मे होते ही नही है या सर्वथा नाश भी नही होता । पर्याय चाहे बदलें, पर द्रव्य नही बदलते । द्रव्य वह का वही रहता है । अतः वर्तमान द्वादशांगी भी उन्ही द्रव्यो का जो भूत भविष्य की द्वादशांगी का विषय है उसी का प्रतिपादन करती होने से द्रव्यार्थ की दृष्टि से वह भूत भावी द्वादशागी स्वरूप ही है । इसीलिए इसे अनादि अनन्त कहते हैं । तो अनादि अनन्त इन्ही द्रव्यो को कहने वाला द्वादशागीमय जिनवचन कैसा शाश्वत, टकसाली और त्रिकालाबाधित ! जिन वचन की ही यह विशेषता, जगत मे अन्य किसी वचन की नही । वाह धन्य जिनाज्ञा ! इस तरह जिनाज्ञा की अनादि अनन्तता का चिन्तन करे ।

(३) भूतहिता: पुनः सोचे कि जिनाज्ञा जिनवचन कैसा

भूतो के लिए हित स्वरूप! भूत याने प्राणी उनके हित या पथ्यरूप। वह भी दो प्रकार से-(i) जीवो को पीडा न होने के रूप मे और (ii) उनका कल्याण होने के रूप मे। इसमे (i) जगत के एकेन्द्रिय तक के जीवो के बारे मे जिनाज्ञा है कि 'सर्वे जीवा न हन्तव्या:' अर्थात् किसी भी जीव की हिंसा नही करना। ऐसी जिनाज्ञा का पालन करने वाले समस्त जीवो को अभयदान देते हैं; उन्हें लेश मात्र भी पीड़ा नही देते। तो जिनाज्ञा कैसी सुन्दर जीवहितकर! फिर (ii) जिनाज्ञा द्वारा फरमाये हुए रत्नत्रयी के मार्ग पर चलने वाले बहुत से जीव ससार की विडम्बना से छूट कर सिद्ध मुक्त हो गये। इस दृष्टि से भी जिनाज्ञा जीवो को कैसी सुन्दर कल्याणकर व हितकर! इस तरह जिनाज्ञा की भूत-हितता सोचे, चिंतन करे।

(४) भूत भावना :- पुनः सोचे कि 'जिनाज्ञा कितनी सुन्दर भूत की भावना करने वाली है।' इसके भी दो अर्थ हैं (i) भूत याने सद् भूत, सत्य भावन याने विचारना सोचना। जिनवचन प्रत्येक पदार्थ का अनेकांत दृष्टि से विचार करने वाला होने से सत्य ही सोचता है। एकांत दर्शन वस्तु के मात्र एक अंग का विचार कर के उसी पर आधार रख कर आंशिक धर्म का स्वीकार करता है, परन्तु साथ ही उसी वस्तु में सचमुच मे रहे हुए अन्य उससे विरुद्ध दिखने वाले अश का अपलाप-इन्कार करते हैं। अतः वे असत्य भावन सिद्ध होते है, तब जिनवचन अनेकांत दर्शन होने से भूत भावन याने सत्य विचार करने वाला होता हैं। अथवा

(ii) 'भूत' याने जीव उनकी भावना याने वासना, वासितता। जिनवचन भूत भावना है याने भव्य जीवो द्वारा भावित की जाने वाली वस्तु है। कहा है

कूरावि सहावेणं राग विसवसाणुगावि होऊणं।
भाविय जिण वयण मणा तेलुक्क सुहावहा होंति॥

अर्थ : कोई भी जीव यदि पहले स्वभाव से क्रूर तथा राग विषय से मूछित भी हुए हों, तब भी जब वे जिनवचन से मन को भावित करते हैं, तो वे तीनों जगत के लिए सुखकारक बनते हैं।

'भावित' याने जैसे कस्तूरी से बंधा हुआ कपड़ा उसके प्रत्येक अंग मे, प्रत्येक तंतु मे कस्तूरी की सुवास से वासित हो जाता है, वैसे जिनाज्ञा दिल में रख कर उस पर के अनन्य अतिशय बहुमान से आत्मा के प्रत्येक प्रदेश को वासित कर दिया जाय। इस तरह भावित होने के बाद तो पूर्व की क्रूरता तथा राग आदि की परवशता भी पलायन हो जाती है, भाग जाती है। शास्त्र में से सुनने को मिलता है कि चिलातीपुत्र आदि बहुत से पूर्व में स्वभाव से क्रूर आदि थे तब भी जिनवचन से वासित होने पर उससे भावित होते ही जगत के जीव मात्र को सुखदायक याने अभयदाता बन गये।

चिलातीपुत्र अतिराग के कारण सेठ की पुत्री को उठा कर दौड़ा और उसका पीछा पकड़ने वाले उसके पिता के प्रति क्रूरता के कारण बिचारी लड़की का सिर काट कर वह आगे बढ़ा। परन्तु आगे 'उपशम विवेक संवर' का जिनवचन एक मुनि ने उसे सुनाया। इस वचन को उसने अपने दिल में खूब ही गहरा उतारा, उस वचन से वह भावित हो गया और तुरन्त ही वहीं सर्व हिंसादि पापों का त्याग करके वह कायोत्सर्ग ध्यान से खड़ा रहा। उसके शरीर पर पड़े हुए खून से खिच कर आई हुई हजारों चींटीयों ने उसके शरीर को काट कर छलनी बना दिया। तब भी जिनवचन के रंग से उसने उन जीवों को कुछ भी नहीं किया तो वह भी मर कर सद्गति के सुख का हिस्सेदार बना। इस तरह से जिनाज्ञा की भूत भावना का चिंतन करे।

(५) अनर्घ्य : जिनवचन की अनर्घ्यता याने अमूल्यता का चितन करे कि 'अरे! यह जिनवचन कितना अमूल्य है!'

कहा है कि 'रत्नादि कीमती द्रव्यो वाले बड़े रत्नाकर तथा तीनों लोक सहित समस्त इतर शास्त्र इस परम प्रभावी जिनवचन का मूल्य निश्चित करने के लिए कुछ भी उपयोगी नही हैं । क्योकि जिनवचन अमूल्य है । यदि इसका मूल्य निश्चित हो नही किया जा सकता तो फिर उसकी कीमत किसके बराबर है इसका अंक कैसे रखा जाय या निश्चित किया जाय ? स्तुतिकर्त्ता ने कहा है कि

कल्पद्रुमः कल्पितमात्रदायी, चिन्तामणिश्चिन्तितमेव दत्ते ।
जिनेन्द्रधर्मातिशयं विचिन्त्य, द्वयेपिलोको लघुतामवेति ॥

अर्थः—कल्पवृक्ष तो केवल कल्पना मे आया हुआ ही दे सकता है और चिंतामणि भी चिंतित पदार्थ ही दे सकता है । विचारक लोग जिनेन्द्र भगवान के धर्म का अतिशय सोच कर (इसकी अपेक्षा कल्पवृक्ष तथा चिंतामणि) दोनो को हल्का मानते हैं ।

'अणग्घ' शब्द का एक अर्थ अनर्घ्य है । उसका दूसरा अर्थ 'ऋणघ्न' भी होता है । 'अणग्घ' मे अण का अर्थ ऋण है । प्राकृत मे ऋ का अ होता है । ऋण को काटने वाला ऋणघ्न ।

(ii) **ऋणघ्नः** अहो जिनवचन कैसा जबरदस्त ऋण या कर्मों का नाश करने वाला है ! कहा है :

जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाहिं वासकोडिहिं ।
तं नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥

अर्थः—अज्ञानी कई करोड़ो वर्षों तक जो कर्म खपाता है, उतने कर्म तीन गुप्ति सहित गुप्त ज्ञानीपुरुष मात्र एक श्वासोश्वास में मे खपाता है ।

जीव जब क्षपक श्रेणी मे ले जाने वाले शुक्लध्यान में चढता है, तब मन वचन काया की उत्कृष्ट गुप्ति करने वाला और महाज्ञानी

वना हुआ होता है, वहां वह जिनवचनानुसार तत्त्वरमणता का अभ्यास करके एक श्वास जितने समय में ऐसे खूब बड़े ढेर के समान कर्मों को खपाता है कि जिसको खपाने के लिए अज्ञानी को करोड़ों वर्ष कष्ट सहन करना पड़े। तो क्षण मे यह करवाने वाला जिनवचन कितना जबरदस्त ऋणघ्न याने कर्म का नाश करने वाला है।

(६) अम्मित्ताः जिनाज्ञा की अमितता का चिंतन करे। 'अमित' के दो अर्थ होते है। १. अपरिमित तथा २ अमृत। पहले में वह सोचे कि 'अहो जिनवचन कैसा अपरिमित है?' अलबत्त जिनागम जिनवचन सूत्राक्षर से परिमित है, परन्तु अर्थ से तो अपरिमित है। कहा है:—

'सव्वनईणं जा होज्ज वालुया सव्वउदहीणं ज उदयं।
एत्तोवि अणंतगुणो अत्थो एगस्स सुत्तस्स।'

एक सूत्र का अनन्त अर्थ किस तरह से?

सर्व नदियो की जितनी रेती हो, सर्व समुद्रो का जितना पानी हो, उससे भी अनन्तगुना एक सूत्र का अर्थ है। जिनवचन के प्रत्येक सूत्र का इतना ज्यादा अर्थ होने का कारण यह है कि जिनवचन प्रत्येक अर्थ पदार्थ का अनेक मार्गणा द्वारो से तथा अनन्त अनुवृत्ति व्यावृत्ति पर्यायों से विचार करने का बताता है।

इस तरह अनेक अर्थ निकलने के कारण जिन वचन कैसा 'अमिय' याने अमित अपरिमित!

अम्मिय का दूसरा अर्थः—अमृत याने मीठी, पथ्य तथा सजीव।

(i) जिनाज्ञा अत्यन्त मधुर है। कहा है कि जिनवचन रूपी लड्डु रात दिन खाता रहे तो भी बोध-प्रेमी आत्मा को तृप्ति नही

होती। क्यो कि जिनवचन हजारों हेतुओ से परिवरित है। अत. प्रत्येक प्रतिपादन पर नये नये हेतु जानने को मिलें तो रस (आनंद) कैसे खतम हो ?

(ii) जिनवचन पथ्य है, आरोग्यानुकूल है। कहा है : 'नारकी, तिर्यंच, मनुष्य व देवगण के समार सम्वन्धी सर्व रोगों की एकमात्र औषधि जिन वचन है, और वह फलस्वरूप मोक्ष के अक्षय सुख को देन वाली है।

(iii) जिनवचन सजीव है याने उसमे युक्ति संगति समर्थ होने से सार्थक है, यथार्थ है परन्तु अयथार्थ नही है, मृत निर्जीव नही है। जैसे 'वड़े राजा के हाथी इतने ज्यादा थे कि उन हाथियो के गड-स्थल मे से स्रवित मदबिन्दुओं से ऐसी नदी वही कि उसके दुश्मन के हाथी घोडे रथ आदि की सेना उसमे वह गई।' यह वचन युक्ति-युक्त नही है अतः वह मृत निर्जीव वचन कहा जायगा।

(७) अजिता: 'अहो ! जिनाज्ञा कैसो इतर प्रवचनो के वचन से अपराजित है।' कहा है—

जीवाइवत्थु चिन्तणकोसल्ल गुणेणऽणण्णसाहिएणं।
सेसवयणेहिं अजियं जिणिंदवयणं महाविसयं॥

अर्थ. —दूसरे के साथ की गई तुलना का उल्लंघन करने वाला महाविपयो वाला जिनेन्द्र वचन जीवादि वस्तु का विचार करने की कुशलता के गुण से वाकी के (शास्त्र) वचनो से अजित है। (अन्य शास्त्रो से अजिता) जिनवचन (१) सर्वज्ञ वचन होने से, (२) अनेकान्त दृष्टि से वस्तु के प्रतिपादक होने से वह जीव अजीव आदि पदार्थों का विचार कुशलता मे कर सकता है। यह ताकत असर्वज्ञ एकान्तदृष्टि से सोचे हुए या कहे हुए वचनो में नही हो सकती।

(८) महत्त्व. 'अहो जिनवचन कैसा महत्व !' यहां गाथा में आये हुए प्राकृत भाषा के 'महत्थ' शब्द के 'महार्थ', 'महत्त्व' तथा 'महारथ' ऐसे तीन अर्थ निकलते हैं।

महार्थ याने प्रधान अर्थ वाला: जिनागम जिनवचन अर्थ प्रधान है। अन्य शास्त्रों में जिनागम के पदार्थ प्रधान होने का कारण यह है कि वह (क) पूर्व पर में विरोध रहित है। (ख) अनुयोग द्वारात्मक है और (ग) नयघटित है।

(क) जिनवचन में कहीं भी पूर्वापर में विरोध नहीं आता। शास्त्र के एक हिस्से में कुछ कहा हो और दूसरे हिस्से में उनसे बिलकुल उलटा ही कहा हो, उसे पूर्वापर विरोधी कहा जायेगा। जैसे कि वेदों में पहले कहा है : 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' याने किसी की हिंसा नहीं करना। फिर आगे जा कर कहा, 'अश्वमेधेन यजेत' याने अश्वमेध (घोड़े की हिंसा वाला) यज्ञ करे। ऐसे पूर्वापर विरोधाभासी शब्द जिनागम में नहीं है। अतः उसके वचन कल्पित नहीं, पर सद्भूत हैं।

(ख) **उपक्रमादि चार अनुयोग द्वार**: जिनवचन अनुयोगद्वारात्मक है। "अनुयोग" याने व्याख्यान। उसके हेतुभूत सोपान को अनुयोगद्वार कहते हैं। जैसे 'आचार' नामक द्वादशांगी में प्रथम अंगसूत्र है उसका अनुयोग करना है तो उसके लिए पहले उसका उपक्रम फिर क्रमशः निक्षेप, अनुगम और नय-समन्वय किया जाता है।

'**उपक्रम**' याने निक्षेप के योग्य बनाना फिर उनका निक्षेप करना।

'**निक्षेप**' याने न्यास। वस्तु को उस नाम आदि में रखना। उदा० (१) 'आचार' ऐसा जब नाम दिया है तो वह 'आचार' उसका[1] नाम-निक्षेप कहा जाता है। अथवा नाम-निक्षेप से उसे 'आचार' कहते है। (२) आचार की कहीं चित्रादि में स्थापना की

है तो वह [२]स्थापना निक्षेप आचार कहा जावेगा । (३) 'द्रव्य' याने भाव का आधार । आचार के भाव का आधार शरीर या आत्मा यह [३]द्रव्य आचार-निक्षेप तथा (४) आचार का भाव याने मुख्य आचरण उदा० अहिंसा का आचरण यह [४]भावनिक्षेप आचार कहा जावेगा । प्रत्येक वस्तु मे यह नामादि चार निक्षेप होते हैं । किसी मे उससे ज्यादा भी हो । जैसे 'लोक' वस्तु मे नामलोक, स्थापना-लोक, · · आदि ४ उपरात क्षेत्रलोक, काललोक, भवलोक इत्यादि ।

अनुगम यह तीसरा अनुयोग द्वार है । अनुगम करना याने सूत्र या उसको नियुक्ति (सूत्र के अर्थ के साथ मे उसका नियोजन याने जोडना) के साथ अनुगत करना याने सम्मिलित समन्वित करना । उदा० 'आचार' अग के सूत्र का पहला शब्द लेकर उसमे और उसकी नियुक्ति का अनुगम किया जाय याने उमे उसके अर्थ के साथ जोड़ा जाय ।

नय : चौथा अनुयोगद्वार है । उसकी समझ निम्न है ।

(ग) **नयघटित** : जिनवचन नयघटित है अतः वह महार्थ है । 'नय' याने भिन्न भिन्न दृष्टि, अपेक्षा, जिससे वस्तु का उस उस अंश से विचार हो, निर्णय हो । उदा० आचार के दो अग बाह्य तथा आभ्यन्तर । अतः उस अंश से आचार वस्तु का विचार व्यवहार नय से तथा निश्चय नय से किया जाय । व्यवहार की दृष्टि से आचार यानी कायादि से बाह्य अच्छा आचरण किया जाय उसे कहते है । निश्चयदृष्टि से आचार आत्मा की आन्तरिक शुद्ध आचरण-परिणति को कहते हैं । ऐसे ही दूसरे भी नय-अर्थनय, ज्ञाननय, क्रियानय, द्रव्यार्थिक नय, पर्यायार्थिक नय, नैगम नय, संग्रह नय आदि नयो को जिनवचन बताता हैं । इन नयों को लेकर जिनागम किसी भी पदार्थ का अनेकान्तमय दर्शन करवाता है, इसलिए वह नयघटित है ।

दूसरे किसी धर्म मे ऐसी नय-व्यवस्था नही है। अलबत्ता प्रमाण-व्यवस्था है पर इसमे क्या ? वस्तु का बोध तो प्रमाण तथा नय दोनो मे होता है। इसमे प्रमाण मे तो सकल अंश मे, समस्त भाव मे होता है, परन्तु विकलांश या एकांश मे नहीं। इस के लिए तो नय की जरूरत होती है। तब ऐसे नयघटित जिनवचन की कैसी बलिहारी ! कैसी प्रधानार्थता ! महार्थता ! महत्थ का यह एक अर्थ हुआ।

(ii) 'महत्थ' याने महत्स्थ भी कहा जा सकता है। महत्स्थ याने महान सम्यग् दृष्टि भव्य आत्माओं में रहा हुआ। 'अहो ! जिन वचन कैसा विश्व के उत्तम प्रधान पुरुषों मे रहा हुआ है !' जिस की दृष्टि मे मिथ्यात्व है, मार्गानुसारिता नहीं है, वह कोई प्रधान पुरुष नही है।

(iii) **महत्थ याने महास्थ** ऐसा अर्थ भी होता है। 'महा' याने पूजा। जिनवचन पूजा मे रहा हुआ याने पूजा पात्र है। कहा है 'ज्ञान (जिनवचन) सर्व वैमानिक, भवनपति देव, मनुष्य तथा व्यंतरज्योतिषी देवो से पूजित है, क्यों कि जिनवचन के आधार पर आगम रचयिता गणधर भगवान पर देवता भी वासक्षेप फैंकते है, उछालते हैं।' आगम के जिनवचन की यह कैसी महिमा ! यो जिनवचन कैसा महत्थ !

(८) **महानुभाव:**—'अहो ! जिनाज्ञा कैसा महान अनुभाव, सामर्थ्य या प्रभाव वाली है !' 'महान' याने [१]प्रधान या [२]अधिक। जिनवचन के सामर्थ्य की प्रधानता इस तरह है कि जिनवचन के ज्ञाता चौदह पूर्वधर महर्षि सर्व लब्धि से सम्पन्न हो जाते हैं। इतना ऊंचा प्रधान सामर्थ्य जिनवचन के अलावा दूसरे किस वचन का है कि जिससे सर्व लब्धियो की शक्ति उत्पन्न हो ? पुनः (२) सामर्थ्य की विशालता अधिकता इस तरह से है कि

गोतम महाराज ने वीर प्रभु से पूछा : 'हे भगवन्त ! चौदहपूर्वी एक घड़े मे से हजारों घड़े बनाने मे समर्थ है ?' प्रभु ने कहा, 'हंता गोयमा ! प्रभूणं चोद्दसपुव्वी घडाओ घडसहस्सं करित्तए ।' चौदह पूर्वधर 'प्रभु' याने समर्थ है। यह सामर्थ्य कितना अधिक विशाल है ?

यह तो जिनवचन के इस लोक के सामर्थ्य की बात हुई । तो परलोक मे चौदहपूर्वी का जन्म जघन्य से छट्ठे लांतक देवलोक मे और उत्कृष्ट में अनुत्तर देवलोक के सर्वार्थसिद्ध विमान मे होता है अथवा वह सर्व कर्मक्षय कर के मोक्ष में जाता है ।

(१०) महाविषय : 'अहो जिनवचन कैसा महान याने सकल द्रव्यादि विषय वाला है !' कहा है, 'दव्वओ सुयनाणी उवउत्तो सव्वदव्वाइ जाणई ।' अर्थात् श्रुतज्ञानी द्रव्यो पर चित्त का उपयोग करे तो सर्व द्रव्यो को जानता है, जान सकता है । अलबत्ता केवलज्ञानी की तरह धर्मास्तिकायादि द्रव्यो को वह प्रत्यक्ष नही कर सकता । किन्तु केवलज्ञानी जिनेन्द्र भगवान ने इन समस्त द्रव्यो का प्रतिपादन किया है इससे उनके वचन पर से सर्व द्रव्यो को जान सकता है, इसी तरह उसके कितने ही पर्यायो को भी जान सकता है।

(११) निरवद्य 'अहो जिनवचन कैसे निरवद्य व निर्दोष है ।' वचन के ३२ दोष होते है । अत्युक्ति, पुनरुक्ति, तुच्छ शब्द इत्यादि ३२ दोषो से रहित जिनवचन होता है । ऐसे जिनवचन किसी भी पाप का आदेश उपदेश नही देते । इसलिये भी वे निष्पाप निरवद्य वचन हैं ।

अथवा निरवद्य' शब्द को 'चिंतन करे' क्रियापद के साथ उसका विशेषण समझा जा सकता है, अर्थात् 'निरवद्य रीति से चिंतन करे' । यह अर्थ करने पर 'निरवद्य' का अर्थ 'निर्दोष रूप से

याने 'इस लोक व परलोक के सुखादि की आशंसा रखे बिना' ऐसा होता है। धर्मध्यान तो अच्छा करे, पर साथ ही उसके फलस्वरूप किसी सासारिक वस्तु, धन, मान, कीर्ति आदि की आशसा या आकांक्षा रखे तो यह ध्यान चितन निरवद्य या निर्दोष रूप से किया गया नही कहा जा सकता। यह समझना चाहिये कि अद्भुत कर्म-क्षय और जबरदस्त पुण्योपार्जन करवाने वाला इतना सुन्दर धर्म-ध्यान मिला है तो फिर उसके फलस्वरूप तुच्छ, नाशवन्त और मारक (मारने वाले) फल की आकांक्षा क्या करना? यह करने से तो धर्मध्यान के सस्कार के बदले अति इच्छित तुच्छ जड़ की लालसा के सस्कार दृढ होते हैं, जो अनेक दुर्गति के भवो मे भटकाते है। इसीलिए शास्त्र मे कहा है कि 'नो इहलोगट्ठयाए, नो परलोग-ट्ठयाए, नो परपरिभवओ अह नाणी।' अर्थात् 'मैं ज्ञानी हूं याने ज्ञान ध्यान करने वाला हू वह इस लोक के सुख हेतु मे नही, परलोक के सुख हेतु मे भी नहीं, और दूसरे के अपमान के हेतु मे भी नही।' इस तरह निर्दोष रूप से ध्यान करे।

(१२) अनिपुण जन दुर्ज्ञेय : 'अहो! अशुभमति वाले के समझ मे भी नही आवे ऐसा जिनवचन कैसा गम्भीर है कि सुमति वाले ही इसे तथा इसकी भव्यता, महानता, अनन्त कल्याण-कारकता को समझ सकते हैं। कुमति वाले या तो विषय लुब्ध होते है या विरक्त होने पर भी दुराग्रह से असर्वज्ञ के वचन को अन्तिम सत्य मानने वाले नही होते हैं। ऐसो को वैराग्य से भरे हुए तथा सर्वज्ञ-कथित अनेकातादिमय वचन कैसे समझ मे आ सकते हैं?

(१३) नयभंग प्रमाण गमगहन : 'अहो जिन-वचन नय भंग प्रमाण और गम से कितना गहन है! कितना गभीर!' 'नय' जो पहले बताये वे नैगमादि। यह सिर्फ जिनवचन की ही एक विशिष्टता है। अब 'भंग' याने भांगा चतुर्भंगी सप्तभंगी

आदि। भंग, भांगो, भंगी (विकल्प) याने प्रकार या भेद। उदा० चतुर्भंगी याने चार प्रकार का समूह। सामान्य रूप से क्रम भेद से या स्थान भेद से भग रचना होती है अर्थात् क्रम वदलने से या स्थान वदलने से जो प्रकार या भेद खड़े होते हैं वे क्रमभंग या स्थानभंग कहलाते हैं। जैसे उदा० **क्रमभंग** मे क्रमशः दो वस्तुएं लेने की हो तो उनके चार भंग या प्रकार होगे। (१) एक जीव व दूसरा अजीव (२) एक जीव दूसरा भी जीव (३) एक अजीव तथा दूसरा जीव और (४) एक अजीव तथा दूसरा भी अजीव। ये चार प्रकार या चतुर्भंगी हुई। ज्यादा वस्तुओं से ऐसी कितनी ही चतुर्भंगी हो जाती है। **स्थानभंग** मे उदा० कोई प्रियधर्मा हो पर दृढधर्मा न हो, (२) कोई प्रियधर्मा हो और दृढधर्मा भी हो (३) कोई प्रियधर्मा न हो पर दृढधर्मा हो और (४) कोई प्रियधर्मा भी न हो और दृढ-धर्मा भी न हो। दो वस्तुओ से चतुर्भंगी होती है पर तीन का स्थान-भग करना हो तो आठ भग होगे। उदा० व्रत के बारे में 'जाने, आदर करे तथा पालन करे' के ८ भग होते हैं। 'जाने' याने व्रत ग्राह्य है ऐसी श्रद्धा हो, 'आदर करे' याने प्रतिज्ञा करे और पालन करे याने प्रतिज्ञा से या प्रतिज्ञा बिना भी उसका पालन करे। इन तीन के आठ भंग होते हैं। इस तरह से अनेक प्रकार की भग-रचना होती है। इससे पदार्थ-वोध विस्तृत होता है। ऐसी ही एक सप्त-भंगी है।

सप्तभंगी : तो अनेकात समझने के लिए स्पष्ट व मजबूत व्यवस्था है। इसमे वस्तु मे रहे हुए प्रत्येक धर्म का अपेक्षाविशेष लेकर विधि निषेध से विचार किया जाता है। उदा० घड़ा सत् है, अनित्य है, वड़ा है आदि प्रत्येक का इस तरह से विचार होता है कि 'क्या घड़ा सत् ही है ? नित्य ही है ? वड़ा ही है ? या सत् नही है भी ? नित्य नही है भी ? वड़ा नही है भी ?' तो जवाव मे घड़े के स्वद्रव्य,

क्षेत्र, काल भाव की अपेक्षा से सत् ही है, परन्तु पर द्रव्य, क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से सत् नहीं है। अब स्वद्रव्यादि परद्रव्यादि दोनों का क्रमशः एक एक की अपेक्षा से पर दोनों की दृष्टि से कैसा ? तो कहते है कि वह सदसत् है। यह तीसरा भंग हुआ। परन्तु एक साथ स्व पर द्रव्यादि की उभय (दोनों) की अपेक्षा से कैसा है ? तो जवाब में नहीं कहा जा सकता है कि 'सत' या 'असत्' या 'सदसत्'; अत. अवक्तव्य ही कहना पड़ेगा। यह चौथा भंग हुआ। फिर एक एक की अपेक्षा से और साथ में एक साथ उभय की अपेक्षा से कैसा है ? तो (५) सत् अवक्तव्य (६ असत् अवक्तव्य (७) सदसत् अवक्तव्य है। इस तरह कुल ७ भंग याने सप्तभंगी होता है। इसी तरह अनित्य आदि धर्मों को लेकर अनेक सप्तभंगी बनता है। ऐसी भंग रचनाओं से वस्तु का अनेकांत शैली से विस्तृत तथा सर्वांश सत्य बोध होता है। ये भंग रचनाएं भी मात्र एक जिनवचन की ही बलिहारी है। अहो कैसे गम्भीर जिनवचन।

प्रमाण : वस्तु का बोध करवाने वाले द्रव्यादि प्रमाण हैं, वे अनुयोग द्वार सूत्र में बताये हैं। वे इस प्रकार :—

द्रव्यादि ४ प्रमाण

प्रमाण याने जिससे प्रमेय सिद्ध हो या जाना जाय। 'प्रमाणात प्रमेय सिद्धि.।' प्रमाण से सत्य वस्तु प्रमेय ज्ञान होता है। प्रमेय याने जगत को ज्ञेय ज्ञातव्य वस्तु। इसे बताने वाला या सिद्ध करने वाला प्रमाण। यह ४ प्रकार से है - द्रव्य प्रमाण, क्षेत्र प्रमाण, काल प्रमाण और भाव प्रमाण, जिस द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से वस्तु नापी जाती है, निश्चित की जाती है, उस द्रव्यादि को प्रमाण कहते है।

(१) **द्रव्य प्रमाण :** यह दो तरह से है:—१. प्रदेश निष्पन्न तथा २ विभाग निष्पन्न।

(१) द्रव्यों की प्रदेश-सख्या का परिमाण या नाप उदा० द्विप्रदेशिक स्कध, त्रिप्रदेशिक स्कध, अनन्त प्रदेशिक स्कध आदि। (२) द्रव्य के विभाग से गिना जाने वाला परिमाण या नाप वह ५ प्रकार से है—मान, उन्मान, अवमान, गणिम तथा प्रतिमान। **'मान'** याने अनाज या द्रवपदार्थ के भरे हुए नाप, प्रस्थक, द्रोण कुम्भ लिटर आदि **'उन्मान'** याने तोल ने के नाप जैसे सेर, मन, किलो ग्राम आदि **'अवमान'** याने लम्बाई का नाप जैसे-हाथ, गज, वार मीटर आदि। **'गणिम'** याने सख्या जैसे १, १०, १०० आदि तथा **'प्रतिमान'** याने सूक्ष्म तोल माप यव, रति, वाल, मिलिग्राम।

(२) **क्षेत्र प्रमाण** भी वैसे ही प्रदेश-निष्पन्न तथा विभाग-निष्पन्न दो प्रकार से है। (१) प्रदेश-निष्पन्न प्रमाण आकाश के जितने प्रदेश मे अवगाहना करे याने स्थित रहे वह नाप। एक प्रदेश मे रहे तो एकप्रदेशी, दो प्रदेश में रहे तो द्विप्रदेशी आदि. । (२) विभाग-निष्पन्न प्रमाण के रूप मे आत्मागुल, उत्सेधागुल, प्रमाणागुल। जिस जिस काल के व्यक्ति के अपने नाप से अपनी १०८ अगुली के नाप वाले ऊंचे उत्तम पुरुष की अगुली 'आत्मागुली' कहलाती है। ऐसे ५०० धनुष्य की काया वाले व्यक्ति की अंगुल 'प्रमाणागुल' कहलायेगी। वीर प्रभु के (७ हाथ की काया) आत्मा-गुल से आधी 'उत्सेधागुल'। इससे ४०० गुना ज्यादा मोटा नाप 'प्रमाणांगुल' कहा जावेगा। द्वीप समुद्र पर्वत आदि के नाप प्रमाणां-गुल से गिने जाते है। १ रस, १ गध, १ वर्ण तथा २ स्पर्श वाला अणु सूक्ष्म (निर्विभाज्य) परमाणु है। अनन्त सूक्ष्म परमाणु का १ व्यवहारिक परमाणु होता है। अनन्त व्याव० परमाणु का १ उत्श्लक्ष्ण श्लक्ष्णिका। फिर उसे क्रमश. ८-८ गुना करते जाय तो श्लिक्ष्णिका, उर्ध्वरेणु, त्रसरेणु, रथरेणु, देवकुरु या उत्तर कुरु के

युगलिक के वालाग्र.... लीख, जू, यवमध्य तथा अंगुल होते हैं। फिर क्रमशः २४ अंगुल का १ हाथ, ४ हाथ का धनुष्य तथा २००० धनुप का गाऊ या कोस और ४ गाऊ या कोस का १ योजन।

(३) **काल प्रमाण** में भी वे ही दो भेद हैं। १ 'प्रदेश-निप्पन्न' प्रमाण १ समय २ समय इत्यादि। (२) 'विभाग निष्पन्न' मे असंख्य समय की १ आवलिका, १,६७,७७,२१६ आवलिका का १ मुहूर्त अथवा दूसरे तरह से ७ प्राण=१ स्तोक, ७ स्तोक का १ लव, ७७ लव का १ मुहूर्त। ३० मुहूर्त की एक अहोरात्रि। ८४ लाख वर्ष का एक पूर्वांग, ८४ लाख पूर्वांग का १ पूर्व, .. यावत् शीर्ष-प्रहेलिका। असंख्य वर्षों का एक पल्योपम। १० कोटाकोटि पल्योपम का १ सागरोपम तथा १० कोटाकोटि सागरोपम की १-१ अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी और दोनो मिलकर १ काल चक्र। अनन्त काल चक्र का १ पुद्गल परावर्त।

(४) **भाव प्रमाण** : इस के तीन भेद है : गुण प्रमाण, नय प्रमाण तथा संख्या प्रमाण। गुण प्रमाण मे भी दो प्रभेद हैं :- जीवगुण प्रमाण तथा अजीव गुण प्रमाण। जीव गुण प्रमाण मे ज्ञान दर्शन व चारित्र जीव के तीन गुण हैं।

ज्ञान प्रमाण मे चार प्रतिभेद है : प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा आगम।

प्रत्यक्ष में:-इन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा नोइंद्रिय (मन) प्रत्यक्ष।

अनुमान में:—पूर्ववत् शेषवत् तथा दृष्ट साधर्म्यवत् तीन प्रभेद हैं। पूर्वोपलब्ध चिन्ह से पहचाना जाय उदा० तिल, मस, क्षत आदि से पुत्र को पहचाने वह **पूर्ववत्**। **शेषवत्** में कार्य कारण गुण अवयव आश्रय पर से पहचाने उदा० हेपारव से अश्व, तंतु से पट, (धूम से अग्नि), गंध से पुष्प, शृङ्ग से भैंसा, तथा

वगुले से तालाव पहचाना जाता है। **दृष्ट साधर्म्यवत्** मे (१) सामान्य याने एक से ज्यादा का अनुमान (२) विशेष याने ज्यादा पर से एक विशेष को जाने अथवा दृष्ट साधर्म्य० मे १ अतीत को लेकर (भरी हुई नदियो से पहले अच्छी वर्षा हुई यह जानना), २ वर्तमान को ले कर (प्रचुर दान देख कर सुभिक्ष जाने), तथा भविष्य को ले कर (प्रशस्त वायु आदि से सुवृष्टि का सोचे ।)

उपमान प्रमाण मे दो वातें आती है। (१) साधर्म्य तथा (२) वैधर्म्य।

साधर्म्य से (१) यत्किंचित् साधर्म्य, उदा० मेरु जैसी सरसो, दोनो मूर्त होने से, (२) प्रायः साधर्म्य, उदा० गाय जैसा वछडा, (३) सव साधर्म्य, उदा० अरिहन जैसे अरिहत । वैधर्म्य मे (१) किंचित् वैधर्म्य उदा० काली गाय के काला वछड़ा और उसके विरुद्ध सफ़ेद गाय का सफेद । (२) प्रायः वैधर्म्य, उदा० पायस विरुद्ध पायस (जिसमे मात्र अन्तिम दो अक्षर और अस्तित्व की दृष्टि से ही समानता है वाकी सव वैधर्म्य है) (३) सर्व वैधर्म्य, उदा० गुरु-घातक जैसा तो नीच भी नही होता।

आगम प्रमाण मे (१) १ लौकिक महाभारत आदि, २ लोकोत्तर आचारांग आदि। अथवा (२) १ सूत्र-आगम, २ अर्थागम १ तदुभय आगम, अथवा (१), आत्मागम-अर्थ से तीर्थङ्कर को, तथा सूत्र से गणधर को २. अनन्तर आगम अर्थ से गणधर को, और ३. परम्पर आगम जम्बू स्वामी को मिला।

भाव प्रमाण मे जीवगुण-प्रमाण के १ भेद ज्ञानगुण प्रमाण के वारे मे यह वात हुई। अव—

'**दर्शनगुण प्रमाण** के चार भेद है : चक्षुदर्शन, अचक्षु-दर्शन, अवधि दर्शन तथा केवल दर्शन।

चारित्र गुण प्रमाण के भेद : सामायिक (इत्वर व यावत्कथिक), छेदोपस्थानीय (सातिचार, निरतिचार), परिहार विशुद्धि (निर्विश्यमान याने तपसेवी और निर्विश्यकायिक याने वैयावच्चीं) सूक्ष्म संपराय (संक्लिश्यमान, विशुद्धयमान) और यथाख्यात (प्रतिपाती या छद्मस्थ वीतराग का व क्षायिक ।)

अजीवगुण प्रमाण : स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, संस्थान ।

नय प्रमाण के ३ दृष्टांत-प्रस्थक, वसति, प्रदेश (अनाज भरने का नाप, मुकाम या स्थान व सूक्ष्मांश) सम्बन्धी नैगम व्यवहार नय, संग्रह नय, ऋजु सूत्रनय व शब्दनय की दृष्टि भिन्न भिन्न है । वह नीचे अनुसार है:—

नय	प्रस्थक दृष्टांत उदा० क्या करते हो ?	वसति दृष्टांत उदा० कहा रहते हो ?
नै० व्य०	जंगल की ओर जाने से लेकर प्रस्थक नाम लेने तक कहे 'प्रस्थक करता हूं ।'	लोक में, मध्यलोक मे,.. अमुक गांव मे, गली में, कमरे के कोने मे रहा हूं ।
संग्रह	धान्य भरे प्रस्थक (नाप) को प्रस्थक कहते हैं ।	शय्या आदि मे रहा हूं ।
ऋजु सूत्र	वर्तमान प्रस्थक भी प्रस्थक, उतना अनाज भी प्रस्थक	अवगाहना वाले आकाश-प्रदेश मे रहता हू ।
शब्दनय	प्रस्थक का ज्ञाता, उपयुक्त ऐसा कर्ता भी प्रस्थक	स्वस्वरूप में रहता हूं ।

'प्रदेश' दृष्टांत में नय छटना : उदा० प्रदेश कितने ?

नैगमनय—'धर्मास्तिकाय प्रदेश (धर्म-प्रदेश), अधर्म

प्रदेश, आकाश-प्रदेश, जीवप्रदेश, पुद्गलस्कंध-प्रदेश, देशप्रदेश—इस तरह छ पदार्थों के प्रदेश हुए।'

संग्रहनय · 'देश स्कंध मे समा गया; अतः उसके प्रदेश भिन्न नही है, अन्य पांच के प्रदेश होते है।'

व्यवहारनय : 'पाच का कोई साधारण प्रदेश नही है, अत. पाच के प्रदेश नही कहे जा सकते, किन्तु पाच प्रकार के प्रदेश हैं, धर्म प्रदेश, अधर्म प्रदेश....आदि।'

ऋजुसूत्रनय : प्रत्येक पांच प्रकार के प्रदेश नही है। अतः ५ प्रकार के प्रदेश नही, पर कहो कि विकल्प है। स्याद् धर्म-प्रदेश, स्याद् अधर्म प्रदेश '

शब्दनय : 'ऐसा कहने से भी प्रत्येश प्रदेश के स्याद् धर्म०, स्याद् अधर्म०..मे ५-५ प्रकार की आपत्ति है। अत· ऐसा कहो कि जो धर्मास्तिकाय का प्रदेश है वह प्रदेश धर्मास्तिकाय... इस तरह पाच।'

समभिरूढनय : 'प्रदेश धर्म' ऐसा समास करने से धर्म मे प्रदेश होने से भेद सप्तमी की शंका होती है, अतः असमास (बिना समास के) से कहो कि 'जो धर्मास्तिकाय है वही- उसका प्रदेश वह प्रदेश धर्मा० .. ।'

एवंभूतनय · प्रदेश देश जैसी वस्तु ही नही है। क्योंकि यदि उसे भिन्न कहते हो, तो वह अनुपलब्ध है। यदि अभिन्न कहते हो तो धर्मास्तिकाय और प्रदेश एक पर्याय वाले होने की आपत्ति आती है! अत. जो है, वह अखंड धर्मास्तिकाय आदि ही हैं।

(iii) **संख्या प्रमाण** : नामादि ४ संख्या + उपमा संख्या + परिमाण सख्या + ज्ञानरूप सख्या + गणनसख्या—इस तरह से कुल ८ प्रकार है। इसमे भी **द्रव्य संख्या** आगम से तथा नो-

आगम से, दो प्रकार से है। तथा आगम से भी वह ज्ञशरीर, भव्य-शरीर, तदव्यतिरिक्त, ऐसे ३ प्रकार से है। **उपम्मा संख्या पम्माण** ४ प्रकार से है। सत् की सत् के साथ उपमा (जिसकी चतुर्भंगी होती है), उदा० अरिहंत की छाती किवाड जैसी। सत् की असत् के साथ.. उदा० अनुत्तरवासी देवों का आयुष्य ३३ सागरोपम है। असत् की सत् के साथ उदा० सूखा पत्ता हरे पत्ते को कहता है 'अम बीती तुम बीतशे, धीरी कुम्पलिया' असत् की असत् के साथ. उदा० गर्दभशृङ्ग आकाशकुसुम जैसा है। **परिम्माण संख्या-प्रम्माण** के दो भेद हैं। (i) कालिक श्रुत परिमाण में पर्याय अनन्त है। बाकी अक्षर, पद, पाद, गाथा निर्युक्ति, अनुयोग उद्देशक ...अंग आदि सब सख्यात है (याने गिनती के है।) (ii) दृष्टिवाद श्रुत में उपरोक्त अनुयोग तक वही है, उसके बाद प्राभृत. प्राभृतिका, वस्तु आदि। **ज्ञान्न संख्या प्रम्माण** में (संख्यायते ज्ञायते) शब्दज्ञान से शाब्दिक और गणित में गणितज्ञ आदि कहा जाता है। **गणान्ना संख्या** में सख्यात, असंख्यात व अनन्त तीन भेद हैं। **भावसंख्या प्रम्माण** में प्राकृत में 'संख्या' शब्द है, इसमें 'शंख' शब्द ले कर शंखगति नामकर्म को वेदे वह भाव-संख कहलाता है।

जिनागम की शैली से यह द्रव्य प्रमाण, क्षेत्र प्रमाण, काल प्रमाण, भाव प्रमाण, ऐसे ४ प्रमाण का विचार हुआ। बाकी सामान्य रूप से स्थूल शैली से देखने से तो प्रमाण सिर्फ दो तरह से है : १. प्रत्यक्ष, तथा २ परोक्ष। प्रत्यक्ष प्रमाण मे अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान ये तीन प्रमाण आते है।

यहा **प्रत्यक्ष** का अर्थ 'प्रति अक्षम्' अर्थात् ज्ञान सीधा आत्मा मे। याने आत्मा को किसी बाह्य इन्द्रियों, या हेतु, या शब्द आदि

साधन बिना ही साक्षात् वस्तु दर्शन जिससे हो वह प्रत्यक्ष। वह तीन प्रकार से है।

(१) **अवधिज्ञान** से भूत भविष्य या वर्तमान को नजदीक या दूर के किसी भी रूपी वस्तु को साक्षात् देख सकते है।

(२) **मनःपर्यवज्ञान** से ढाई द्वीप में रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवो के मन को देख सकते है।

(३) **केवलज्ञान** से लोकालोक के समस्त अनन्त काल के भावो को देख सकते है। सर्व जीव और सर्व पुद्गल आदि द्रव्यों के भूत, वर्तमान व भावी अनन्तानन्त पर्यायो को साक्षात् देखते है।

यह तो पारमार्थिक प्रत्यक्ष हुआ। पर व्यावहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रियो तथा मन से होने वाला प्रत्यक्ष है। लोक-व्यवहार उसे ही प्रत्यक्ष कहता है। परमार्थ से याने सचमुच तो वह परोक्षज्ञान है। क्योकि वह आत्मा को साक्षत् नही है, परन्तु इन्द्रियो द्वारा होता है।

परोक्ष अर्थात् पर याने आत्मा से पर-दूर। अर्थात् आत्मा से भिन्न बाह्य इन्द्रिय, हेतु, शब्द आदि साधन द्वारा होने वाला यथार्थ वस्तुबोध : यह पारमार्थिक परोक्ष प्रमाण कहा जायगा। इसमे १ मतिज्ञान व २. श्रुतज्ञानयो दो है। इन्द्रयो व मन से वस्तु जानी जाय वह 'मतिज्ञान', और आगम तथा आप्त पुरुप के वचन से जो अतींन्द्रिय पदार्थो का भी बोध होता है वह 'श्रुतज्ञान' है। हेतु पर से होने वाला अनुमान, तर्क स्मरण प्रत्यभिज्ञा आदि मतिज्ञान के भेद है।

यह प्रमाण-व्यवस्था भी जैन धर्म मे ही मिलती है।

(४) **नय:** याने अर्थमार्ग। जिन द्वारो से पदार्थ का विस्तृत बोध हो, उसे अर्थमार्ग कहते है। उदा० 'दडक' प्रकरण

मे चारो गति के जीवो मे भिन्न भिन्न वस्तु सोचने या विचार करने के लिए २४ भेद याने २४ दडक किये । श्री तत्वार्थ शास्त्र मे जीव के सम्यक्त्वादि वस्तु का विचार करने के लिए निर्देश स्वामित्व आदि तथा सत् सख्या क्षेत्र.. आदि मुद्दे या द्वार बताये है। इसी तरह कर्मग्रन्थ शास्त्रो मे जीव, गुणस्थान आदि का विचार करने के लिए गति-इन्द्रिय-काय .. आदि मार्गणाएं बनाई हैं। इसी तरह 'आवश्यक सूत्र' शास्त्र की उपोद्घा। नियुक्ति मे 'सामायिक' वस्तु का विचार करने के लिए उद्देश, निर्देश, निर्गम आदि २६ द्वार बताये। ये दडक, द्वार, मुद्दे, मार्गणा आदि सब अर्थ-मार्ग कहलाते हैं। शास्त्रो मे ऐसे अन्य अनेक अर्थमार्ग कहे हुए हैं। यह भी मात्र जिनवचन की ही विशेषता है। अहो कैसे गम्भीर गहन जिनवचन !

जिनेश्वर भगवान केवलज्ञान के प्रकाश से समस्त संशयरूपी अन्धकार का नाश करते हैं, अत. जगत के लिए दीपक समान हैं। उनके द्वारा जीवो को कुशल कार्य करने की आज्ञा दी जाती है अत: उनके वचन को जिनाज्ञा कहा जाता है। ऐसी जिनाज्ञा के उपरोक्त विशेषणों मे से किसी भी विशेषण से, निरागम भाव से, जिनाज्ञा का एकाग्र चितन करे वह पहले प्रकार का 'आज्ञाविचय' नामक धर्मध्यान हुआ।

इसमे ऐसा हो सकता है कि मंद बुद्धि के योग से या समझाने वाले वैसे आचार्य न मिलने पर या ज्ञेय की गहनता आदि के कारण कोई जिनवचन समझ मे न आवे तो श्रद्धा डिगने की सम्भावना होने से और इसीलिए उक्त विशेषणो से जिनाज्ञा का ध्यान कठिन हो तो ऐसे कौन से कारण है और उस प्रसंग पर क्या करना चाहिये ? यह बताते है:—

तत्थ य [1]मइदोव्वलेणं [2]तव्विहायरिय-विरहओ वा वि ।
[3]णेयगहणत्तणेण य [4]णाणावरणोदएणं च ॥४७॥

[5]हेऊदाहरणा संभवे य सइ सुट्ठु जं न वुज्झेज्जा ।
सव्वण्णुभयमवितहं तहावि तं चिंतए मइमं ॥४८॥

अणुवकयपराणुग्गह-परायणा जं जिणा जगप्पवरा ।
जियरागदोसमोहा य णण्णहावादिणो तेणं ॥४९॥

अर्थ.—(१) बुद्धि की सम्यक् अर्थविधारण की मदता से, (२) सम्यक् यथार्थ तत्त्वप्रतिपादन करने वाले कुशल आचार्य के न मिलने से, (३) ज्ञेय पदार्थ की गहनता के कारण, (४) ज्ञानावरणीय कर्म का उदय होने से, या (५-६) हेतु या उदाहरण नही मिलने से इस जिनाज्ञा के विषय मे यदि कुछ भी अच्छी तरह समझ मे नही आवे तो भी बुद्धिमान पुरुष यही सोचे कि 'सर्वज्ञ तीर्थङ्करो का वचन असत्य हो ही नही सकता, क्योकि चराचर जगत में श्रेष्ठ श्री जिनेश्वर भगवन्त, उन पर अन्यो ने उपकार नही किया हो तब भी, वैसे जीव पर उपकार करने मे तत्पर होते हैं । उन्होने राग-द्वेष-मोह (अज्ञान) को जीत लिया है, इससे (असत्य बोलने के कारणो के ही नही होने से) वे अन्यथावादी याने असत्यभाषी हो ही नही सकते ।'

विवेचन :

जिनवचन द्वारा कहे हुए पदार्थ कदाचित् समझ मे न आवें तो किन कारणो से ऐसा होता है वह पहले बताते हैं :

जिन वचन के समझ न आने के ६ कारण

१. **मति दौर्बल्य**—(मति की दुर्बलता) याने बुद्धि जड़

हो या चचल हो तो वाचना सुनते वक्त जिनोक्त पदार्थ का मन मे सम्यक् अवधारण न भी हो। जड बुद्धि वाला तो समझ ही नही सकता, पर जो जड नही है वह भी बुद्धि के विचलित होने के कारण मन के बाहर के पदार्थो मे जाने से वे पदार्थ मन मे नही उतरते या टिकते नही है। अब मति यदि सतेज हो, परन्तु

२. वैसे आचार्य का अभाव : जरा भी फर्क न हो वैसा यथार्थ तत्त्वप्रतिपादन अच्छी तरह करने मे कुशल आचार्य महाराज नही मिले, तो भी जिनवचन समझ मे नही आ सकता। यहा 'आचार्य' याने, मुमुक्षु आत्माओ द्वारा जिसका आचरण किया जाता है या सेवन किया जाता है वह आचार, उसमे सम्पन्न आचार्य का ही मुमुक्षु सेवन करें। परन्तु वैसे आचार्य (१) यदि विपरीत तत्त्व प्रतिपादन करते हो, अथवा (२) विपरीत न हो तब भी सामने वाले को समझ मे आवे वैसा सरल शैली से विवेचन करने मे चतुर न हो, तो वैसे आचार्य के मिलने से पूर्वोक्त विशेषणो से विशिष्ट जिनवचन के भाव समझ मे नही आ सकते। इस तरह जिनवचन नही समझ सकने मे यह कारण, अथवा मति-दुर्बलता ही कारण हो, या दोनो कारणो की भी सम्भावना हो सकती है। अथवा साथ मे,

३. ज्ञेय की गहनता के कारण : जो जाना जाता है वह 'ज्ञेय' कहलाता है। ऐसे ज्ञेय पदार्थ धर्मास्तिकायादि द्रव्य या नयभगी आदि, उनकी गहनता के कारण से भी वे समझ मे न आवें और जिनवचन का बोध न हो (अबोध रहे) ऐसा हो सकता है।

४. ज्ञानावरणीय कर्म का उदय : पहले से या तत्काल वैसे ज्ञानावरणीय कर्म उदय मे आने से जिनवचन के भाव समझ मे नही आवे, ऐसा हो सकता है।

प्रश्न यदि ज्ञानावरण के उदय को ही कारण बताना है तो वह एक ही कारण कहो। मति-दुर्बलता आदि कारण तो उसमे समाविष्ट हो जाते हैं, क्योकि वे भी ज्ञानावरण के उदय से ही होते हैं। तो फिर इन सब को भिन्न कारण कहना युक्तियुक्त नहीं है।

उत्तर– नही वह युक्तियुक्त है। यद्यपि जिनवचन समझ मे न ही आता उसके कारण रूप मे ज्ञानावरण के उदय के कार्य को ही बताना है, परन्तु वह भी सक्षेप से तथा विस्तार से दोनो तरह से कहना है। उसमे भिन्न भिन्न सयोग होने से कारण भी भिन्न भिन्न कहे जाते हैं। संक्षेप से कहे तो ज्ञानावरणीय के उदय से होने वाला अज्ञान ही कारणरूप है और विस्तार से बताने मे मतिदुर्बलता आदि कारण बताने पडते है। मति-दुर्बलता आदि ज्ञानावरणीय के उदय के कार्य तो हैं, परन्तु उपाधि याने विशेषण याने संयोग भिन्न होने से मति-दुर्बलता आदि भिन्न भिन्न कारण होने का कहा जा सकता है। किसी को मति-मंदता से, किसी को वैसे आचार्य के न मिलने से तो कही ज्ञेय की गहनता से .. ऐसे भिन्न भिन्न सयोगों से ज्ञानावरण का उदय काम कर जाता है।

(५-६) हेतु व उदाहरण का असम्भव (याने न होना) : किसी कथन मे हेतु या उदाहरण नही मिलने से भी जिनवचन का भाव बुद्धि मे न उतरे, ऐसा हो। 'हेतु' याने प्रयोजन अथवा कारण। प्रस्तुत मे 'प्रयोजन' अर्थ का कोई उपयोग नही हैं। क्योकि किसी कथन का प्रयोजन समझ मे न आने से वह कथन समझ मे न आवे, ऐसा नही होता। इससे टीकाकार महर्षि ने यहा 'हेतु' शब्द का अर्थ 'कारण' ले कर कारण के रूप मे कारक तथा व्यंजक दो अर्थ लिये है। इसमे 'कारक' याने उत्पादक, उदा० अग्नि के होने मे कारक हेतु ईंधन है, तब 'व्यंजक' याने बताने वाला हेतु धुंआ है।

'हेतु' याने जो पदार्थ को 'हिनोति'=मगज मे भेजे, याने बतावे। उदा० मकान की खिडकी मे से धुआ बाहर आता हुआ दिखाई दे, तो वह धुआ अन्दर अग्नि होने का बताता है। अतः धुंए को हेतु कहा जाता है। यह व्यजक हेतु बना। जिनवचन के किसी किसी कथन का याने कथित विधान का हेतु न मिले तो वह कथन समझ मे नही आवे ऐसा हो सकता है।

'उदाहरण' याने सचमुच बनी हुई घटना या कल्पित दृष्टात; वह न बताया हो तो भी जिनवचन समझ मे न आवे वैसा हो सकता है।

इस तरह इन छ कारणो मे से किसी भी कारण से जिनवचन-कथित कोई वस्तु या बात बिलकुल समझ मे न भी आवे या अच्छी तरह समझ मे नही आवे, तो चाहे समझ मे न आया हो, तब भी जिनवचन या तत्कथित वस्तु के लिए बुद्धिमान पुरुष यह विचार करे.—

जिनवचन क्यों असत्य नहीं?—सर्वज्ञ-वचन और सर्वज्ञोक्त वस्तु असत्य हो ही नही सकती। उसका कारण यह है कि चराचर विश्व मे श्रेष्ठ जिनेश्वर भगवान को स्वय दूसरो से उपकार हुआ हो या न हुआ हो तो भी वे उनके प्रति धर्मोपदेश आदि से अनुग्रह-कृपा-उपकार करने मे तत्पर रहते है, उद्युक्त होते है। ऐसे एकान्त उपकार-प्रवृत्ति वाले जिनेश्वर को जगत को ठगने का क्या काम है कि वे असत्य बोलें? हा, उपकारी को तो कही कदाचित् रागादिवश असत्य बोलने का सभव हो सकता है क्योकि (१) राग याने आसक्ति वश झूठ बोला जाता है; पैसो पर राग है अतः व्यापारी ग्राहक को झूठा कहता है। (२) द्वेष याने अप्रीति के कारण भी झूठ बोला जाता है; उदा० सौतेली मां अपनी सपत्नी के (सौत के) पुत्र के बारे में पति को झूठा कहती है। इसी तरह (३)

रागदोस कसायाऽऽसवादिकिरियासु वट्टमाणाणं ।
इह परलोयावाए झाइज्जा वज्जपरिवज्जी ।।५०।।

अर्थः—राग, द्वेष, कषाय तथा आश्रवादि क्रियाओ मे प्रवृत्त को इस लोक व परलोक के अनर्थ कैसे होते है, वर्ज्य (अकृत्य) का त्यागी उसका ध्यान करे, उसे एकाग्रता से सोचे ।

मोह याने अज्ञान, वस्तु का बराबर पता न होने मे भी असत्य बोला जाता है । ऐसे राग द्वेष या मोह के कारण कथन मे झूठ आता है । किन्तु इन जिनेश्वर भगवान ने तो असत्य के कारणरूप राग द्वेष व मोह सब को जीत लिया है । 'रागादि को जीते वह जिन' अर्थात् रागादि को हमेशा के लिए अपनी आत्मा में से हटा दिया है, फिर न्हे असत्य बोलने का कोई भी कारण रहता ही नही है । इसलिए वे 'अन्यथावादी' याने हो उससे भिन्न (या फर्क वाला) बोलने वाले हो ही नही सकते । इससे उनके वचन मे या उनके कहे पदार्थ मे असत्यना हो सकती ही कहां से ?' अतः अपनी मति-दुर्बलता आदि के कारण से समझ मे न आवे तो भी जिनवचन-जिनाज्ञा को एकांत (सम्पूर्ण) सत्य तथा हितकर मान कर उसका पूर्वोक्त विशेषणो से ध्यान करना चाहिये । यह पहला 'आज्ञाविचय' नामक धर्मध्यान हुआ । यह धर्मध्यान के ध्यातव्य का प्रथम भेद ।

२. अपाय-विचय

अब ध्यातव्य का दूसरा भेद 'अपाय विचय' कहते हैं:—

विवेचन :

धर्मध्यान का दूसरा प्रकार 'अपायविचय' है । इसमे रागादि क्रिया से इस लोक व परलोक मे उत्पन्न अनर्थ कैसे हैं यह ध्यान करने का है । वह क्रमशः इस तरह है:—

जीव का स्वभाव अक्रिय अवस्था है, जिसमे कोई राग क्रिया, द्वेष क्रिया, कषाय क्रिया, मिथ्यात्वादि आश्रव क्रियाए या हिंसादि की कायिकी आदि क्रिया करने का नही है। परन्तु संसार मे ये क्रियाएं कर के जीव दु:ख और पाप तथा दीर्घ-संसार भ्रमण ही पाता है। कहा है कि:—

राग-द्वेष के अनर्थ

रागः संपद्यमानोऽपि दुःखदो दृष्टिगोचरः ।
महाव्याध्यभिभूतस्य कुपथ्यान्नाभिलाषवत् ॥
दृष्ट्यादि-भेद-भिन्नस्य रागस्यामुष्मिकं फलम् ।
दीर्घः संसार एवोक्तः सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः ॥

अर्थ:—अप्रशस्त वस्तु का राग उठते ही दु:खदाई बनता है; जैसे महारोग से घिरे हुए को कुपथ्य खुराक की अभिलाषा। मन में कुपथ्य खाने की इच्छा उठते ही शरीर पर उसका प्रभाव पड़ता है। ऐसे ही यहां विषयादि का राग उठने पर भी दु:ख अशान्ति व अस्वस्थता का प्रारम्भ होता है। बाद में होने वाले दु:खों को तो क्या पूछना?

दृष्टि आदि प्रकारों से भिन्न भिन्न राग का याने (१) दृष्टिराग (किसी असत् मान्यता की पकड़), (२) कामराग, और (३) स्नेहराग का परलोक मे फल सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थङ्कर भगवन्तों ने दीर्घ संसार कहा है।

द्वेषः संपद्यमानोऽपि तापयत्येव देहिनाम् ।
कोटरस्थो ज्वलन्नाशु दावानल इव द्रुमम् ॥
दोसानल संसत्तो इहलोए चेव दुक्खिओ होई ।
परलोयंमि य पावो पावइ निरयानलं तत्तो ॥

अर्थः—जैसे पेड़ के कोटर मे दावानल जल उठने से पेड़ को जला देता है, वैसे ही हृदय मे द्वेष उठते ही वह प्राणी को जलाता है।

द्वेषरूपी अग्नि मे स्पर्श होने पर पहले तो इस जीवन में ही दु:खी होता है और फिर परलोक मे वह पापी जीवन नरक की अग्नि मे जलता है।

क्रोधादि कषायो में भी ऐसा होता है। इसके नुकसान के बारे मे कहा है:—

कषायों के अनर्थ

कोहो य माणो य अणिग्गहिया, माया य लोहो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया सिञ्चन्ति मूलं पुणब्भवस्स ॥
कोहो पीइं पणासेइ माणो विणायणासणो।
माया मित्ताणि णासेइ लोहो सव्वविणासणो ॥

अर्थः—क्रोध व अभिमान को यदि अंकुश मे नही लिया या नही दबाया, तथा माया व लोभ यदि बढते गये, तो ये चारों कषाय अखंड रह कर पुनर्जन्म संसार के बीजस्वरूप कारणो को सींचते है। (संसार के कारण है मिथ्यात्व, अर्थ, काम, आहारादि संज्ञाएं, हिंसादि दुष्कृत्य; ये सब क्रोधादि कषायो से पुष्ट होते है। इससे संसार पुष्ट होता है।

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का घात करता है, माया मित्रों को भगा देती है तो लोभ सर्व विनाशक है।

मिथ्यात्व अज्ञान के अनर्थ :

इसी तरह आश्रवों के याने मिथ्यात्वादि कर्मबन्ध के हेतुओं के अनर्थ भी कैसे भयकर है?

मिच्छत्त मोहियमई जीवो इहलोग एव दुक्खाई ।
निरयोवमाइ पावो पावइ पसमाइगुणहीणो ॥
अज्ञानं खलु कष्टं क्रोधादिभ्योऽपि सर्वपापेभ्यः ।
अर्थं हितमहितं वा न वेत्ति येनावृतो लोकः ॥

अर्थः—मिथ्यात्व से मोहित मति वाला पापी जीव प्रशम संवेग आदि गुणों से रहित होने से इस जीवन में ही नरक के जैसे दुःख प्राप्त करता है। (नरक के जीव को बाहर की तीव्र वेदना से अन्तर मन-में भारी संताप-दुःख होता है। तो ऐसे जीवों को अन्दर मे मिथ्यात्व की पीड़ा से और उससे बाह्य उल्टी-वृत्ति की विडंबानाओं से अन्तर मे भारी संताप होता है।)

क्रोधादि सर्व पाप से भी अज्ञान मिथ्याज्ञान सचमुच ही दुःखरूप है। क्योंकि इनसे आच्छादित लोग हिताहित वस्तु को नहीं समझते। (यदि अज्ञान मिथ्यात्व न हो तो क्रोधादि होने पर भी वह समझेगा कि 'इसमे मेरा अहित है, इनके त्याग मे ही मेरा हित है।' इससे वीर्योल्लास बढ़ने पर उसे फेंक दे। किन्तु यदि मिथ्यात्व हो तो क्रोधादि को अहितकारक समझता ही नहीं, तो फिर उसका त्याग क्यों करे?)

अविरति के अनर्थ

इसी तरह अविरति आश्रव के भी अनर्थ को इस तरह सोचेः—

जीवा पावंति इहं पाणवहादविरईए पावाए ।
नियसुयघायणमाई दोसे जणगरहिए पावा ॥
परलोयंमि वि एवं आसवकिरियाहि अज्जिए कम्मे ।
जीवाण चिरमवाया निरयाइगई भमंताणं ॥

अर्थ - हिंसादि के पाप की अविरति (छूट) से पापी जीव लोक मे निंदापात्र ऐसे स्वपुत्रघात आदि दोषो मे फंसते हैं। (प्रतिज्ञा से हिंसादि का त्याग नही किया, उससे वैसा मौका आ जाने पर अपने पुत्र आदि का भी घात करने जैसे पाप का आचरण करते है। चुलनी ने अपने पुत्र ब्रह्मदत्त को लाख के घर मे जिन्दा जला देने का दाव लगाया था।) यह तो इस जीवन मे अनर्थ हुए।

आश्रव रूप क्रियाओ से उत्पन्न कर्म वश परलोक मे भी जीवो को नरक आदि गतियो में भटकते हुए दीर्घ काल तक अनर्थ होता रहता है।

यहा मूल गाथा ५०वी मे 'आसवादि' शब्द से आश्रव के साथ 'आदि' शब्द रखा है, यह स्त्री राग द्वेष, कषाय और मिथ्यात्व अविरति आश्रव के अवांतर अनेक भेदों का सूचक है। यहा अन्य आचार्य कहते हैं कि यह 'आदि' पद प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध का ज्ञापक है। इसलिए इन दो अपेक्षाओं से रागादि के अपाय सोचने में रागादि के अवांतर अनेकानेक प्रकारों के तथा रागादि के प्रकृतिबंध, स्थितिबंध आदि के अनर्थो का भी चिंतन किया जा सकता है।

५ प्रकार की क्रिया

'किरियासु' याने कायिकी, अधिकरणिकी, प्राद्वेशिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी क्रिया के भी अनर्थो का चिंतन करे। कहा है कि: —

किरियासु वट्टमाणा काईयमाईसु दुक्खिया जीवा।
इह चेव य परलोए संसार-पवड्ढया भणिया॥

अर्थ —कायिकी आदि क्रियाओ मे प्रवृत्ति करते हुए जीव इस

जीवन में ही दुःखी होता है और परलोक मे संसार को अत्यन्त बढाने वाले बनते है।

जिस क्रिया में अन्त मे जीव की हिंसा होती है, उसमे पांच कदम होते है। पहले काया की हलचल होती है तो वह कायिकी क्रिया। फिर हिंसा का साधन पकडता है वह अधिकरणिकी क्रिया। बाद मे हिंसा के लिए मन में द्वेष, क्रूरता, कठोरता आदि उत्पन्न हो वह प्राद्वेषिकी क्रिया। फिर शस्त्र-प्रयोग करते हुए जीव को दु.ख देना होता है वह पारितापनिकी क्रिया, और अन्त मे जीव का नाश होता है वह प्राणातिपातिकी क्रिया है।

आश्रव के अनर्थ के दृष्टांत

यहा राग, द्वेष, कषाय, मिथ्यात्व, अविरति और हिंसादि क्रिया से उत्पन्न अनर्थों का चिंतन करना है, वह इस तरह से करे कि 'अरे! इस जीवन मे रागादि मे से कैसे कैसे महानुकसान-महाहानि-होती हैं। मम्मण धन पर के राग पूर्वक सुख से खा पी भी न सका। कोणिक राज्य के लोभ में द्वेष से पिता श्रेणिक को कैद मे डालने वाला बना, और जब उसे भान आया तब पिता को गुमा देना पडा। सुभूम समृद्धि के लोभ मे और मद मे धातकी खंड के भरत को जीतने जाते वक्त विमान तथा सारे लश्कर सहित समुद्र में गिर कर डूब मरा। प्रदेशी राजा ने सूर्यकान्ता रानी पर बहुत राग किया तो रानी ने अन्त मे जहर दिया। धवल सेठ श्रीपाल पर द्वेष की प्रवृत्ति करते करते दु.खी होकर अन्त मे श्रीपाल को मारने जाते हुए गिरा और अपनी ही कटारी से स्वयं ही मरा। कुलवालक मुनि वेश्या के राग मे अन्त मे भगवान का स्तूप उखाड़ डलवाने वाला हुआ'। अभया रानी को सुदर्शन सेठ पर कामराग तथा माया करने पर देशनिकाल की सजा हुई। सोमिल ससुर ने गजसुकुमाल को द्वेष से मार डालने के बाद वह स्वय कृष्णजी को देखते ही हृदयाघात हो जाने से मर गया।

रागादि के स्वयं को नित्य होने वाले अनर्थों में

उदाहरणवस्तु पर राग करने से (१) उसके बिगडने पर दुःख होता है। (२) राग के कारण खराब को अच्छा मानने का अज्ञान उत्पन्न होता है. (३) विषय-राग के कारण देव-गुरु-धर्म पर ऐसा राग उत्पन्न नही होता है और (४) जिस पर राग है उसके बारे में कभी कभी दूसरों की टीका सुनकर द्वेष आदि उत्पन्न होता है। इस तरह (१) द्वेष के तथा ईर्ष्या के कितने ही अनर्थ उत्पन्न होते हैं। (२) अभिमान करने के पीछे भी सहन करना या हारना कहा नहीं होता है? इसी तरह (३) अविरति याने पाप की छूट के कारण उन पापो मे अतिरेक या अधिकता हो जाती है और बाद मे सहन करना पडता है। उदाहरण—मिठाई की अविरति होने से वह ज्यादा खा जाने से पेट चढता है या दुखता है ऐसा होता है। इस तरह जगत मे चलते हुए अनर्थो पर दृष्टि करें तो दिखेगा कि उन सब की जड मे ये रागादि ही कारणस्वरूप हैं।

इस प्रकार का चिंतन करते हुए 'अपायविचय' धर्मध्यान होता है। उसका महान लाभ यह है कि इससे आर्तध्यान रुकता है। जहां आर्तध्यान होता हुआ लगे वहा अपायविचय या विपाक विचय का प्रारभ कर देना चाहिए।

ऐसी रागादि क्रियाओं के अनर्थ का चितन करने वाला कैसा होता है इस सम्बन्धी कहते है 'वज्जपरिवज्जी' याने वज्ज अर्थात् वर्ज्य त्याज्य या अकृत्य प्रमाद, उसका परिवर्जी याने त्यागी हो। अर्थात् अप्रमत्त हो। लेशमात्र भी प्रमाद का सेवी न हो वह 'अपायविचय' धर्मध्यान बराबर कर सकता है। प्रमत्त हो, प्रमादी

जघन्य से समय या अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट से ७० कोटाकोटि सागरोपम होता है। (३) प्रदेश याने जीव के प्रत्येक प्रदेश (सूक्ष्म अंश) के साथ कर्मपुद्गल के दलिक कही ज्यादा व कही कम चिपकते है। (४) अनुभाग याने विपाक, रसोदय। इसके विपाक में ज्ञानावरणादि के स्वभाव की उग्रता मदता का अनुभव करना पडता है। इस तरह प्रकृति आदि के विपाक का चिंतन करना होता है।

यह प्रकृति आदि शुभ व अशुभ दो प्रकार से होती है। उदाहरणार्थ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अतराय ये चारों अशुभ ही है तो शातावेदनीय आदि कर्म शुभ है और अशातावेदनीय आदि अशुभ हैं। अत. कर्म की प्रकृति आदि कैसी शुभ या अशुभ है, उसका चिंतन करना चाहिये।

इस विपाक का भी योगानुभाव से चिंतन करना। 'योग' अर्थात् मन योग, वचनयोग तथा काय योग तथा 'अनुभाव' से कषाय अविरति, मिथ्यात्व तथा प्रमाद के अनुसार विपाक उत्पन्न होता है। उदा० तदुलियामत्स्य बडे मत्स्यके मुख मे से कितने ही छोटे मत्स्य क्षेमकुशल निकल जाते देख कर मनोयोग से उनके भक्षण का विचार करता है तथा उस पर उसका जोरदार कषाय रहता है। इससे नरकगति के भारी कर्म एव इनके अतिदुःखद विपाक का सर्जन होता है।

दूसरी तरह से वृद्ध पुरुषो की व्याख्या के अनुसार 'प्रदेश' याने जीवप्रदेश के साथ कर्मप्रदेश; का मिलन ये कर्म पुद्गल क्षेत्रावगाही होते है, याने जीव का प्रदेश जितने क्षेत्र मे रहे। उतने ही क्षेत्रमे कर्मप्रदेश रहे। आत्मप्रदेश में ये कर्म प्रदेश स्पृष्ट रूप से, अवगाढ रूप से, अनतर रूप से तथा अणु व

बादर रूप मे और उर्ध्व तथा अधोरूप मे बंध जाते हैं। पहले आत्म प्रदेश के साथ उनका स्पर्श होता है, फिर 'अवगाढ' याने प्रविष्ट होते हैं और तब 'अनंतर' याने अन्तर रहित हिल मिलकर एक रूप हो जाते हैं। वे पहले 'अणु' याने छोटे स्कंध के रूप में और फिर 'बादर' याने बड़े स्कंध के रूप मे बंध जाते हैं। एवं ऊर्ध्व व अधो याने ऊपर या नीचे से भी बंधते हैं। इन सबका कर्मविपाक ध्यान मे चिंतन करे।

फिर अनुभाव याने स्पृष्ट-बद्ध-निकाचित आठ कर्मों का उदय से वेदन। स्पृष्ट आदि में सुइयों का दृष्टान्त दिया जाता है। सुइयों को एक रस्सी में पिरोया जाय तब परस्पर स्पर्श कर के रहें वह स्पृष्ट, गरम करने पर परस्पर चिपक जायं वह बद्ध; तथा उन्हें पिघला कर एक करदी जाय तो वह निकाचित। इसी तरह कर्मों का आत्म प्रदेशों के साथ स्पृष्ट, बद्ध या निकाचित रूप मे बंध होता है। अथवा हम उन्हें सामान्य संबद्ध विशेष से बद्ध तथा गाढ से बद्ध कह सकते हैं। ऐसे कर्मों का उदय होकर उन्हें भोगना अनुभाव या अनुभाग कहलाता है।

इस तरह कर्मों के प्रकृति स्थिति, प्रदेश तथा अनुभाव के विपाक का चिंतन करे। ये कर्म विपाक 'योगानुभाव' से उत्पन्न होता है उसमें मनोयोग आदि तीन योग है,तथा मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद व कषाय ये अनुभाव हैं। इन सब तरह से उत्पन्न कर्मों के विपाक का उदय का चिंतन करे।

यह तो 'विपाकविचय' धर्मध्यान हुआ। इसका प्रभाव यह है कि रोगादि की पीड़ा के समय जो हाय हाय होकर आर्त्तध्यान होता है, वह इससे रुक जाता है और जीव को समता समाधि का

अनुभव होता है। क्योंकि इसमे दृष्टि सीधी पीड़ा के मूलभूत (असली) कारण कर्म के विपाक पर जाता है।

४—संस्थान विचय

अब चौथे प्रकार 'संस्थान विचय' का वर्णन करते हैं:-

जिण देसियाइ लक्खण मठाणाऽऽसण विहाणमाणाइं।
उप्पाय ठिइ भंगाइपज्जवा जे य दव्वाणं ॥ ५२ ॥
पंचत्थिकायमइयं लोगमणाइणिहणं जिणक्खायं।
णामाइभेयविहियं तिविहमहोलाय भेयाइं ॥ ५३
खिइवलय दीव सागर नरयविमाण भवणाइ संठाणं।
दो साइपइट्ठाण नियय लोगट्ठिइ विहाण ॥ ५४ ॥
उवयोग लक्खण मणाइणिहणमत्थंतरं सरीराओ।
जीवमरूविं कारिं भोयं च सयस्स कम्मस्स ॥ ५५ ॥
तस्स य सकम्मजणियं जम्माइजलं कसायपायालं।
वसणसय सावयमण मोहावत्तं महाभीमं ॥ ५६ ॥
अण्णाण मारुएरिय संजोगविजोग वीइसंताणं।
संसार सागर मणोरपार मसुहं विचिंतेज्जा ॥ ५७ ॥
तस्स य संतरणसहं सम्मद्दंसणसुबंधण अणग्घं।
णाणमयकण्णधारं चारित्तमयं महापोयं ॥ ५८ ॥

संवर कयनिच्छिद्दं तवपवणाइद्धजइण तग्वेगं ।
वरेग्गमग्गडियं विसोत्तियावीइ निक्खोभं ॥ ५९ ॥

आरोढुं मुणिवरणिया महग्घसीलंगरयण पडिपुन्नं ।
जह तं निव्वाणपुरं सिग्घमविग्घेण पावंति ॥ ६० ॥

तत्थ य तिरयण विणिओग मइयमेगंतियं निराबाहं ।
साभावियं निरुवमं जह सोक्खं अक्खयमुवेंति ॥ ६१ ॥

किं बहुणा ? सव्वं चिय जीवाइ-पयत्थवित्थरोवेयं ।
सव्वनयसमूहमयं झाएज्जा समयसब्भावं ॥ ६२ ॥

अर्थः— (चौथे संस्थान विचय मे) श्री जिनेश्वर भगवान द्वारा उपदिष्ट धर्मास्तिकायादि द्रव्यो के लक्षण, आकृति, आधार प्रकार प्रमाण और उत्पाद व्यय ध्रौव्यादि पर्यायो का चिंतन करे ॥५२॥

जिनोक्त अनादि अनंत पचास्तिकायमय लोक को नामादि नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव पर्याय-लोक) भेद से ८ प्रकार से तथा अधो मध्य ऊर्ध्व तीन प्रकार से चिंतन करे ॥ ५३ ॥

धम्मा आदि सात भूमियो, धनोदधि आदि वलयों, जबूद्वीप आदि असख्य द्वीप समुद्रो, नरक; विमान, देवभवन तथा व्यतर-नगरो आदि की आकृति, आकाशवायु आदि मे प्रतिष्ठित शाश्वत लोक व्यवस्था के प्रकार आदि का चिंतन करे ॥ ५४ ॥

साकार निराकार उपयोग स्वरूप अनादि अनंत, तथा शरीर से भिन्न, अरूपी, स्वकर्म का कर्ता भोक्ता आदिरूप जीवका चिंतन करे।५५।

जीव का ससार(कैमा है ?)स्वकर्म से निर्मित, जन्मादि जल-वाला, कषायरूप पाताल सहित, सैकडों व्यसन रूपी जलचर जीवों वाला, मोहरूपी आवर्त वाला, अति भयानक, अज्ञान पवन से प्रेरित इष्टानिष्ट सयोग वियोग रूप तरगमाला वाला—अनादि अनंत अशुभ ससार का चितन करे ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

पुनः उसे तैरने के लिए समर्थ, सम्यग् दर्शन रूपी अच्छे बंध वाला, निष्पाप व ज्ञानमय कप्तान वाले चारित्र रूपी महाजहाज का चितन करे ॥ ५८ ॥

आश्रवनिरोधात्मक संवर (ढक्कन) से छिद्ररहित किया हुआ, तपरूपी पवन से प्रेरित, अधिक शीघ्र वेग वाला, वैराग्य रूप मार्ग पर चढा हुआ दुर्ध्यानरूपी तरगो से क्षोभरहित, महाकीमती शीलाग रूपी रत्नो से भरा हुआ वह महाजहाज है, उस पर आरूढ हुए मुनिरूपी व्यापारी शीघ्र निर्विघ्न रूप से मोक्षनगर कैसे पहुच जाते है उसका चितन करे ५९ ॥ ६० ॥

पुनः उस निर्वाणिनगर मे ज्ञानादि तीन रत्नो के विनियोग-मय एकातिक, बाधारहित, स्वाभाविक, अनुपम और अक्षय सुख को जिस तरह प्राप्त करते है, उसका चितन करे ॥ ६१ ॥

ज्यादा क्या कहे ? जीवादि पदार्थों का विस्तार से सम्पन्न और सर्वनय समूहमय समस्त सिद्धान्त अर्थ का चितन करे ॥ ६२ ॥

विवेचन :

धर्म ध्यान के चौथे प्रकार 'संस्थान विचय' में वीतराग सर्वज्ञ जिनेश्वर भगवंत कथित सिद्धान्त के पदार्थों का विचार करना

होता है। यहां सस्थान याने 'संस्थिति, अवस्थिति, स्वरूप, पदार्थों का स्वरूप' अर्थ होता है। विचय याने चिंतन अभ्यास करना। सर्वज्ञ कथित सिद्धान्त शास्त्र के पदार्थ ही यथार्थ होने से उनका ही चिंतन अभ्यास करना होता है। ये पदार्थ नाम से इस प्रकार हैं:-

संस्थान विचय में सोचने के पदार्थ

निम्न पदार्थों के स्वरूप का एकाग्र चिंतन करना है। इसमे मुख्य पदार्थ है, ६ द्रव्य, पंचास्तिकाय मय अष्टविध लोक, क्षेत्रलोक, जीव, ससार, चारित्र और मोक्ष।

१. ६ द्रव्यो के लक्षण आकृति, आधार प्रकार,प्रमाण,उत्पादादि पर्याय।	४. जीव नित्य उपयोग देह, भिन्न, अरूपी, कर्मकर्ता भाग्य।	तप पवन
	५. ससार सागर।	वैराग्य मार्ग
२. नाम-स्थापना-द्रव्य क्षेत्र-काल-भाव पर्याय-लोक-इन भेदो से पचास्तिकाय लोक—वह नित्य है।	जन्मादि जल	दुर्ध्यान } अस्पृष्ट } तरग से अक्षुब्ध
	कषाय पाताल	शीलागभृत रत्नभृत
	व्यसन श्वापद	मुनि व्यापारी
	मोह आवर्त	६. मोक्षनगर
	अज्ञानप्रेरित { सयोग वियोग } प्रेरित-तरंग	ज्ञानादि विनियोग सुख एकान्तिक, निर्बाध अनुपम, { सहज अक्षय।
३. ७ पातालभूमि-द्वीप समुद्र-नरक-विमान भवन-व्यतर नगर १४ राजलोक सस्थान।	६ चारित्र जहाज	जीवादि तत्त्वविस्तार से युक्त सर्वनयसमूहमय सिद्धात पदार्थ।
	सम्यक्त्व बंधन	
	निष्पाप निर्दोष	
	ज्ञान कप्तान	
	संवर छिद्र स्थगन	

इसका चिंतन इस प्रकार किया जाय कि 'अहो ! जगत मे छ द्रव्य कैसे कैसे एक दूसरे से बिलकुल स्वतन्त्र लक्षण वाले है, इससे कभी भी यह एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप नही हो जाता। फिर धर्मास्तिकाय द्रव्य का लक्षण जीव तथा पुद्गल को गति मे सहायक' होना है इसीलिए ये दो द्रव्य लोकाकाश के अन्त तक जा सकते है, आगे अलोक में नही। क्योकि धर्मास्तिकाय लोकाकाश व्यापी ही है। मछली गमन तो अपनी शक्ति से ही करती है पर उसमें पानी सहायक होने से पानी के किनारे तक ही वह जा सकती है, आगे नही। धर्मास्तिकाय की सहायता से जीव तथा पुद्गल के लिए ऐसी ही गति है। इसी तरह से अधर्मास्तिकाय का लक्षण 'इन दो द्रव्यों को स्थिति मे सहायक' होना है। अशक्त वृद्ध पुरुष को चलते हुए बीच मे खड़े रहने के लिए लकड़ी सहायक होती है, इसी तरह जीव व पुद्गल को स्थिति यानी स्थिरता करने मे यह अधर्मास्तिकाय सहायक है। आकाश का लक्षण अवगाहना (समावेश) है। वह वाको के अन्य द्रव्यो को अपने मे समाविष यानी अवकाशदान करता है। द्रव्य कहाँ रहेगा ? कहा अवगाहना करेगा ? Space मे आकाश मे।

पुद्गल का लक्षण पूर्ति करना व गलना है। यह एक ही द्रव्य ऐसा है कि जिसके अन्दर अपने सजातीय द्रव्य मिलते हैं और अलग भी हो जाते है। अन्य सब द्रव्य जीव सहित, अखण्ड रहते हैं। उनमें न कुछ बढ़ता है. न घटता है। तो जगत् मे पुद्गल की जोड़ तोड कैसी चलती है ? बड़े मेरु जैसे मे भी पुद्गलो का सडना, पडना व विध्वंस होना और पूर्ति होना चालू है।

जीव का लक्षण चैतन्य है, ज्ञानादि का उपयोग है। वह इसी मे होता है, अन्य मे नही। इसीलिए यही एक चेतन द्रव्य है अन्य सब जड द्रव्य है। काल का लक्षण वर्तना है. वह वस्तु मे नया पुराना भावी अतीत आदि रूपों का परिवर्तन करता है। वस्तु का

होना वही है, तब भी एक घण्टे के बाद उसे जो पुरानी कहेंगे। वह काल द्रव्य के आधार पर उसे एक घण्टा पुरानी कहेंगे।

इस तरह लक्षणों के विचार से पता चलता है कि छहों द्रव्यों में से एक एक द्रव्य का लक्षणकार्य स्वयं ही कर सकता है, दूसरा द्रव्य नहीं। यह सूचित करता है कि छहों द्रव्य भिन्न-भिन्न है और एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। इन लक्षणों पर बहुत कुछ चिन्तन किया जा सकता है।

(ii) **आकृति (संस्थान)** : संस्थान याने आकृति मुख्यतः अजीव पुद्गल की रचनाओं का आकार ही है, इस बात का यहां—इनमें चिंतन किया जाता है। उदाहरण गोले का आकार, ढाल की तरह गोल, त्रिकोण (त्रिभुज) चतुर्भुज या लकड़ी जैसा लम्बा आदि आकार मुख्य है। बाकी अन्य गौण आकारों का पार नहीं है। जंगल में कैसी कैसी विचित्रता होती है। पुद्गल के आकार ही जीव के आकार गिने जाते है। जीव और शरीर का आकार समचतुरस्र संस्थान, न्यग्रोध संस्थान, सादि-वामन, कुब्ज, और हुंडक कुल ६ संस्थान होते हैं। क्रमशः (१) पद्मासन से बैठे हुए व्यक्ति का दाहिने घुटने से बायें कन्धे तक का अन्तर, एवं बाय से दाहिने कन्धे तक का अन्तर, दो घुटनों का अन्तर, और ललाट से नीचे दोनो पैरो के मध्य भाग तक का अन्तर, ये चारो समान होते है। (२) न्यग्रोध मे वट वृक्ष की तरह नाभि से ऊपर का शरीर लक्षण तथा प्रमाण वाला होता है, (३) 'सादि' मे इससे उलटा यानि (नीचे का लक्षण प्रमाण युक्त), (४) 'वामन' मे सिर गला, हाथ, पैर ही लक्षण प्रमाण वाले, (५) कुब्ज मे ये खराब, परंतु छाती पेट आदि अच्छे और (६) हुंडक मे सर्व अवयव प्रमाण व लक्षण रहित होते हैं। शरीर तथा तत्सम्बन्धी जीव के इन संस्थानों का चिंतन करना चाहिये। धर्मास्तिकाय का आकार लोकाकाश के जैसा है। लोकाकाश का आकार नीचे उलटी छाब जैसा, मध्य मे

खंजरी जैसा तथा ऊपर सपुट (मिट्टी के एक दीपक पर दूसरा उलटा दीपक) जैसा होता है जिसमे क्रमश: नीचे से ऊपर तीनो हिस्सो मे अधोलोक (नरक) मध्यलोक (मृत्युलोक) तथा ऊर्ध्वलोक (स्वर्गादि) है । काल का आकार मनुष्य क्षेत्र याने अद्धा क्षेत्र जैसा है (अद्धा=काल) क्यों कि काल मनुष्यलोक मे स्थित सूर्य चन्द्र की गति के आधार से गिना जाता है ।

(iii) **आसन्न याने आधार** · छ द्रव्यो के रहने का आधार क्या है ? यह सोचना है । इसमे व्यवहार नय (दृष्टि)से लोकाकाश स्वयं धर्मास्तिकायादि अन्य पांचो द्रव्यो का आधार है । क्योकि वह क्षेत्र रूप है, अन्य द्रव्य उसमे स्थित होने से क्षेत्रीय है । अथवा निश्चय दृष्टि से तो प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप मे ही रहते है, क्योकि दूसरे में रहने पर यह प्रश्न होता है कि वे आधार पर सर्वांश मे रहते है या अंश मे ? सर्वांश से रहे तो तद्रूप बन जाने की आपत्ति आती है । अश में रहे तो पुन. प्रश्न उपस्थित होगा कि वस्तु यदि अश मे रहती है तो उस अश के सर्वांश मे रहेगी या अंश मे ? इस तरह सोचने से व्यवस्था नही रहती । इसलिए यह कहना चाहिये कि वस्तु दुसरे मे न रह कर अपने ही स्वरूप मे रहती है । यह स्वस्वरूप ही आधार है । इस तरह व्यवहार तथा निश्चय से आधार का चितन करें ।

(iv) **विधान याने प्रकार** · इसमे छ द्रव्यो के आवातर भेदो को विचारें । उदा० धर्मास्तिकाय के प्रकार . १. अखड धर्मास्तिकाय स्कध, (२) धर्मास्तिकाय का देश (हिस्सा), ओर (३) धर्मास्तिकाय का प्रदेश याने छोटे से छोटा अश । इसी तरह अधर्मास्तिकाय आकाश और जोव के भी भेद होते है । तो पुद्गल मे स्कध, देश, प्रदेश उपरात परमाणु भी एक भेद है । स्कध से छूट कर अलग हुआ प्रदेश परमाणु कहलाता है । यह तो एक

तरह से भेद (प्रकार) की बात हुई। इसके अलावा जीव और पुद्गल के अनेक तरह से भेद होते हैं। उदा० जीव में मुक्त और संसारी, त्रस और स्थावर, एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय. पचेन्द्रिय तथा इन प्रत्येक के उत्तर भेद आदि का चिन्तन करना है। इसी तरह पुद्गल में औ....,दारिक वर्गणा. वैक्रिय वर्गणा, आहारक तैजस ..., भाषा; श्वासोच्छ्वास; मन, तथा कार्मण वर्गणा....आदि। इन प्रकारों का चिंतन यह सब 'संस्थानविचय' धर्मध्यान में आता है।

(v) प्रमाण : छः द्रव्यों के प्रमाण का चिंतन करें। प्रमाण याने परिमाण या साधक युक्ति। इस का चिंतन करना। उदा० परिमाण में, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और जीव ये चारों समान नाप के असंख्य प्रदेशी है। तब भी जीव शरीर के प्रमाण में छोटा बन जाता है। अलबत्ता, इसमें एक भी प्रदेश कम न होकर उन सब का संकोच होता है, इतना ही। बाकी देव जैसे भी जब दूसरा शरीर याने उत्तर वैक्रिय शरीर बना कर बाहर भेजते हैं, तब मूल (असली) शरीर के आत्म प्रदेश लंबे विस्तृत बन कर अखण्ड संलग्न रहते हैं। बीच के अन्तर में भी आत्मप्रदेश रहते हैं। केवलज्ञानी समुद्घात करे तो एक समय के लिए समस्त लोकाकाश में उनके आत्मप्रदेश व्याप्त हो जाते हैं। पुद्गल में एक परमाणु से लेकर अनन्त प्रदेशीय स्कंध हैं, परन्तु ज्यादा से ज्यादा वह लोकाकाश के असंख्य आकाश प्रदेश में समा जाय उतने ही नाप का होता है। अब दूसरा अर्थ सोचें।

प्रमाण याने ६ द्रव्य की साधक युक्ति

उदा० धर्मास्तिकाय के लिए यह सोचें कि 'स्वाभाविक गति वाला परमाणु तथा जीव लोकाकाश से बाहर क्यों नहीं जाता? तो वहां मानना पड़ेगा कि गति सहायक कोई तत्त्व सिर्फ लोकाकाश में ही है, पर बाहर नहीं है अर्थात् बाहर अवकाशदान करने वाला द्रव्य

आकाश तो है पर गतिसहायक धर्मास्तिकाय द्रव्य नही है, अतः बाहर गति नही है यह मानना पड़ता है। अन्यथा परमाणु आदि अनन्तानन्त काल मे अनन्तानन्त आकाश के भीतर कही के कही बिखर जाने मे वर्तमान व्यवस्थित जगत जो दिखाई देता है, वह किस तरह होता ? इसी तरह अधर्मास्तिकाय की साधक दलील यह है कि जैसे अशक्त मनुष्य लकडी के सहारे खडा, आधा खड़ा या खड़े पैरो से ऊकडूं बैठ कर स्थिर रह सकता है, वैसे ही लोक में जीव या पुद्गल भिन्न भिन्न स्थिति में स्थिर रह सकते हैं, वह किसके सहारे ? कहना ही पड़ेगा कि अधर्मास्तिकाय के सहारे। जीव द्रव्य को साधक युक्ति मे तो अनेकानेक है। उदा०

(१) 'मैं' ऐसा सवेदन कौन करता है ? देह से भिन्न आत्मा पर देह नही। यदि ऐसा न होता तो जहां "मैं ऐसा मूर्ख नहीं कि ज्यादा खाकर मेरा शरीर बिगाड़ूं",यह सोचा या कहा जाता है वहां यह सोचना चाहिये था कि 'मैं ऐसा मूर्ख नही हूं कि ज्यादा खाकर मैं बिगड़ूं।'

(२) इसो तहर 'मैं रोग से या घाव से पीडित हूं, पर समता व समाधि से सुखी हूं' यह भाव शरीर कैसे कर सकता है ? शरीर तो रोग से पीडित व दुःखी ही है सुखी कहा है ? भिन्न आत्मा ही, यह ख्याल कर सकता है।

(३) इसी तरह, सबमे प्रिय कौन ? शरीर नही पर आत्मा। इसी लिए तो मौक़ा पर घोर अपमान या बेइज्जती होने पर दुःख से छूटने के लिए जीव अपने पैसो आदि को जाने देता है, यहां तक कि अपने शरीर का भी नाश कर देता है। इसी तरह आत्मा की साधक अनेकानेक युक्तियां सोची जा सकती है।

(vi) **पर्याय** : छः द्रव्यों के उत्पाद स्थिति भंग (नाश) आदि पर्यायो का चितन करना। पर्याय याने अवस्था। इसमे छहो द्रव्यो मे सर्वव्यापी समान पर्याय याने अवस्था तो उत्पत्ति स्थिति

नाश की मिलती है। श्रीतत्त्वार्थ महाशास्त्र (अ० ५ सू० २९) कहता है कि 'उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त सत्' याने सत् मात्र उत्पत्ति नाश और स्थिरता वाला होता है। ये छहों द्रव्य सत् हैं। अतः ये छहों इन तीनों पर्यायों से युक्त है। प्रश्न यह उठता है कि—

एक ही पदार्थ में उत्पत्ति स्थिति नाश तीनों कैसे ?

प्रश्न— एक मे तीनो एक साथ कैसे रहें ? क्योंकि उत्पत्ति युक्त याने उत्पन्न, नाश मे युक्त याने नष्ट, और स्थिति युक्त याने स्थिर। तो जो उत्पन्न हो वही नष्ट किस तरह और वही पहले से स्थिर भी किस तरह हो सकता है ?

उत्तर— किसी अपेक्षाविशेष से एक ही वस्तु उत्पन्न होती है और अन्य विशेष अपेक्षा से वही वस्तु नष्ट भी होती है और अपेक्षाविशेष मे स्थिर भी हो सकती है। उदा० राजा के दो लड़कों के लिए खेलने का एक सोने का छोटा कलश था। उसमें एक लड़का कहीं बाहर गया तब दूसरे लड़के ने कहा 'मुझे खेलने के लिए मुकुट चाहिये।' तो राजा ने किसी व्यक्ति के साथ उसी कलश को भेजकर सोनी के यहां उसे गलाकर मुकुट करवा के मंगवाया। इसमे स्वर्ण नामक वस्तु स्थिर है, पर वही कलश के रूप मे नष्ट हो गया है और वही मुकुट के रूप मे उत्पन्न हो गया है। एक ही पदार्थ मे तीनो अपेक्षा से तीनो पर्याय है। इसीलिए तो जब बाहर गया हुआ लड़का वापस आकर यह देखता है तो वह कलश का प्रेमी होने से नाराज होता है और उसी समय दूसरा लड़का मन-पसन्द मुकुट बना हुआ होने से खुश होता है। पर पिता राजा स्वर्ण स्थिर रहा हुआ होने से मध्यस्थ है। एक ही समय पर राजा व उसके दो पुत्र तीनो की वृत्तियें भिन्न भिन्न होने के पीछे कोई कारण अवश्य है और वे कारण भिन्न भिन्न होने से ही भिन्न भिन्न वृत्तियें होती हैं। दिखने में कारणस्वरूप वस्तु चाहे एक ही दिखाई दे,

परन्तु यह मानना पड़ेगा कि एक ही वस्तु जो कलश रूप थी, वह नष्ट होने से पहला खेद करता है, वही मुकुट रूप हो जाने से दूसरा खुश है और वही स्वर्ण रूप में कायम है अतः राजा को कुछ भी खोने या कमाने का न होने से वह मध्यस्थ रहता है। कहा है :—

घट-मौली-सुवर्णार्थी नाशोत्पत्ति-स्थितिष्वयम् ।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥
पयोव्रती न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरस व्रतो नोभे तस्मात् तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥

अर्थ.—घटार्थी मुकुटार्थी व सुवर्णार्थी घटनाश, मुकुटोत्पत्ति तथा सुवर्ण स्थिति मे शोक, हर्ष और माध्यस्थ्य भाव का अनुभव करते है वह सहेतुक है। (तीनो भाव के हेतु वहा एक में ही उपस्थित हैं।)

'मुझे दुध ही चाहिये' ऐसे व्रत वाला दही नही खाता। 'मुझे दही ही चाहिये' ऐसे व्रत वाला दूध नही खाता तथा 'मुझे अगोरस ही चाहिये' ऐसे व्रत वाला दूध दही दोनो नही खाता। अतः (निश्चित होता है कि) गोरस तत्त्व त्रितयात्मक है; अर्थात् गोरस दूध भी है, दही भी है और गोरस भी है। दूध था तव दही न था, दही बना तव दूध नही रहा, पर गोरस तो पहले भी था और अव भी है। इस तरह एक ही पदार्थ त्रितयात्मक वना।

नित्य द्रव्य में भी उत्पत्ति नाश किस तरह ?

प्रश्न— धर्मास्तिकायादि नित्य द्रव्यो मे उत्पत्ति स्थिति नाश किस तरह होता है ?

उत्तर— वह इस तरह कि धर्मास्तिकायादि कोई भी द्रव्य वर्तमान समय से सम्वद्ध के रूप मे बना हुआ है याने उत्पन्न है;

अतीत समय-सम्बद्ध के रूप मे नही रहा याने नष्ट है, तब भी मूल धर्मास्तिकाय के रूप मे खडा है, कायम है। अतः इसका अर्थ यह हुआ कि कोई भी पदार्थ अमुक समय के साथ सम्बन्ध हुआ इस अपेक्षा से उत्पन्न है, अब अतीत समय-सम्बन्ध नही रहा इस अपेक्षा से नष्ट है और मूल द्रव्य की अपेक्षा से कायम है। कहा है :-

सर्वं व्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः ।
सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजाति – व्यवस्थानात् ॥

अर्थः—समस्त वस्तुव्यक्ति में प्रतिक्षण निश्चित प्रकार की विभिन्नता आती रहती है, तब भी उस मे अनेकव्यक्तिता नही होती, एकव्यक्तिता ही है; क्योकि इसमे कमीवेशी होने पर भी आकार व जाति वही व्यवस्थित है, कायम है। अथवा आकार और जाति की स्वतन्त्र व्यवस्था है, याने आकार बदलता है, जाति नही बदलती। जाति न बदलने से व्यक्ति वही खडी रहती है और उसमे आकार बदलने से उसके स्वरूप पर्याय-अवस्था भिन्न भिन्न होती है।

उदा० धर्मास्तिकायादि उस उस क्षण-सम्बद्ध वस्तु के रूप मे भिन्न भिन्न होने से उसमे प्रतिक्षण निश्चित प्रकार की भिन्नता आई, तब भी इसका विशिष्ट आकार और धर्मास्तिकायता रूप जाति तो ज्यो की त्यो खडी है, इसमे इसमे एक-व्यक्तित्व है, अनेक-व्यक्तित्व नही। इसीलिए सोना कलश, मुकुट, कठी, कड़ा आदि रूप मे बदलने पर भी व्यक्ति वही सोना ही है, क्योकि उसमे असल सोने का आकार, याने स्वर्णपन का माल वजन चमक आदि, कायम (स्थिर) हैं, साथ ही स्वर्णत्व की जाति भी कायम है अर्थात् वह सोना है ऐसा व्यवहार खड़ा ही है। सोने की जाति नही बदली। अथवा आकार कलश, मुकुट आदि बदलने पर भी स्वर्ण जाति वही रहती है। ऐसा ही प्रत्येक व्यक्ति मे है। तात्पर्य यह कि एक ही व्यक्ति

मे उत्पत्ति नाश व स्थिरता तीनो पर्याय रहते है। ऐसे ही अन्य पर्याय उदा० अगुरु लघु पर्याय, अनुवृत्ति पर्याय, व्यावृत्ति पर्याय आदि अनन्त पर्याय होते हैं। द्रव्यो मे उनका चितन हो सकता है। ऐसे विशाल दृष्टि से वस्तु के विविध पर्यायों का चितन करे तो इष्ट सयोग व अनिष्ट वियोग के बारे में होने वाले आर्त्तध्यान से बच सकते है।

२. पंचास्तिकायमय लोक पर चिंतन

'अरे! यह लोक जिनेश्वर भगवान ने कैसा अनादि अनन्त पचास्तिकायमय बताया है।' 'लोक' याने ज्ञान में जो कुछ दिखाई दे (आलोकित हो) वह सब, अर्थात् समग्र विश्व। अनन्तज्ञानी वीतराग तीर्थङ्कर भगवन्तो ने विश्व का यथास्थित स्वरूप बताया है, वह यह कि विश्व पांच अस्तिकायमय है—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय। इस तरह चितन करें।

५ अस्तिकायों की दृष्टान्त से समझावट

जिस तरह आख वाले को वस्तुदर्शन करने मे दीपक सहायक है, इसी तरह जीव पुद्गल को गति करने मे धर्मास्तिकाय सहायक है। जैसे बैठने की इच्छा वाले पुरुष को स्थिर बैठने मे भूमि सहायक है, वैसे जीव और पुद्गल को स्थिति या स्थिरता करने मे अधर्मास्तिकाय सहायक हैं। जिस तरह घड़ा बेर के रहने के लिए स्थान देता है, वैसे ही जीवादि चारो अस्तिकाय को आकाश रहने का स्थान देता है। जीव ज्ञान स्वरूप है, सर्व भाव का ज्ञाता है, कर्म का भोक्ता व कर्ता है। भिन्न भिन्न अनेक जीव संसारी और कोई मुक्ति रूप मे है यह जिनागम मे कहा है। तो पुद्गल स्पर्श, रस, गंध, वर्ण शब्द स्वभाववाला और इसी से मूर्तस्वभाव तथा सयोजन और

विभाजन से उत्पन्न होने वाला है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। उदा० दो परमाणु के संयोजन से द्वयणुक द्रव्य बना। अब वह परमाणु द्रव्य नहीं रहा। पर उसमे पुन. अवयव या विभाजन हो तब वे पुन: दो परमाणु बनेंगे। 'बनेंगे' अर्थात् उत्पन्न होगे। अस्ति का काय याने प्रदेशो का समूह। इन पाचों मे प्रत्येक मे देश प्रदेश है और प्रदेश छोटे से छोटा सब से बारीक अंश है। इसमे पूरा द्रव्य प्रदेश-समूहात्मक है याने (प्रदेश=अस्ति तथा काय=समूह) अस्तिकाय है। इस तरह काल के सिवाय पाचां द्रव्य स्वतन्त्र अस्तिकाय हुए।

प्र० काल अस्तिकाय क्यों नहीं ?

उत्तर— अस्तिकाय ऐसी वस्तु है कि जिसमे प्रदेश-समूह एक साथ होते है, एक ही समय में वह एक विसमूह देखा जा सकता है। परन्तु काल तो जब कभी देखें तब वर्तमान एक ही समयरूप प्राप्त होता है। उसके पूर्व के समस्त अतीत समय नष्ट होने से वर्तमान समय के साथ एकत्रित नही दिख सकते। साथ ही बाद के समय से लेकर भावी अनन्त समय अभी उत्पन्न ही नही हुआ, इससे वर्तमान मे वह भी एकत्रित हुआ नही मिल सकता। इस तरह कभी भी काल के अनेक समय इकट्ठे प्राप्त न होने से उसे अस्तिकाय कैसे कहा जा सकता है ?

प्रश्न— चाहे एक समयरूप काल हो, पर विश्व मे पचास्तिकाय के अलावा उसका अलग नष्ट नही गिनने का क्या कारण है ?

उत्तर— कारण यह है कि पचास्तिकाय मे वह समाविष्ट है। इससे वह भिन्न द्रव्य नही। वह इस तरह से है कि काल का कार्य वस्तु मे नयापन, पुरानापन आदि पर्याय खड़ा करने का है। परन्तु वस्तु मे जैसे उन उन कारणो से दूसरे पर्याय खड़े होते हैं, वैसे ही सूर्य चन्द्रादि की क्रिया के सम्बन्ध से काल पर्याय याने एक-

सामयिक द्विसामयिक ...आदि और नया पुरानापन आदि पर्याय उत्पन्न होते हैं, और पर्याय द्रव्य मे भेदाभेद सम्बन्ध से आश्रित हैं, अत. द्रव्य से कथंचित् अभिन्न याने एकरूप होने से काल का नम्बर अलग न गिन कर विश्वान्तर्गत बताए हुए द्रव्य-पर्याय मे उसका समावेश गिन लिया।

ऐसा पचास्तिकायमय लोक अनादि-निधन अर्थात् आदि और निधन (नाश, अन्त) रहित है। अनादि कहने से इस बात का निषेध किया कि 'लोक (विश्व जगत कभी भी ईश्वर से रचित होता है।' ईश्वर रचना का निषेध इस लिए कि उससे अनेक आपत्ति खडी होती हैं।

जगत् कर्ता ईश्वर के सिद्धान्त में आपत्तियें :

(१) यदि ईश्वर की रचना के पहले कुछ नही था, तो उपादान कारण विना जगत रूपी कार्य कैसे बना ? (२) यदि कहो कि 'उपादान परमाणु थे' तो निमित्तभूत कारणों के विना कार्य कैसे हुआ ? (३) ईश्वर ने किस प्रयोजन से रचना की ? (४) अच्छे बुरे की रचना होने से ईश्वर रागी द्वेषी सिद्ध नही होगा ? (५) रचना के लिए पहले तो ईश्वर का शरीर ही कैसे बना ? और वह कितना बडा होगा ? (६) ईश्वर ने जीव भी बनाये, ऐसा मानने से प्रारम्भ मे दु खी और कुकर्मी बनाने वाला ईश्वर कितना अधिक तामसी व निर्दय ? इत्यादि अनेक आपत्तियें खड़ी होने से 'जगत ईश्वर ने बनाया ?' का सिद्धान्त युक्ति रहित सिद्ध होता है और अमान्य बन जाता है।

अत: कार्यकारण-भाव के अटल सिद्धान्त से तथा 'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सत:' अर्थात् जगत मे कोई भी भाव पहले सर्वथा असत् नही था, तथा सत् का सर्वथा अभाव याने नाश

कभी नहीं होगा। इस सिद्धान्त से पंचास्तिकाय लोक अनादि अनंत सिद्ध होता है।

'लोक' के नामादि ८ निक्षेप

'लोक' का अनेक तरह से दर्शन होता है, इनसे वह अनेक-स्वरूप का है : उदा० श्री 'आवश्यक निर्युक्ति' शास्त्र के 'चतुर्विंशति स्तव' नामक अध्ययन में कहा है —

नाम ठवणा दविए खित्ते काले भवे अ भावे अ।
पज्जवलोगो अ तहा अट्ठविहो लोगनिक्खेवो॥

अर्थ:—नामलोक, स्थापना लोक, द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काल-लोक, भवलोक, भावलोक और पर्यायलोक ये ८ निक्षेप 'लोक' के हैं। अर्थात् लोक के ८ विभाग है या ८ प्रकार से है। १. नामलोक याने जिसका नाम 'लोक' रखा वह, वह कौन है ? (यह क्या है ?) उत्तर में 'लोक' कहा जावेगा। परन्तु यह नाममात्र से लोक हुआ। २. 'स्थापनालोक' किसी चीज में लोक की स्थापना की जाती है। उदा० १४ राजलोक के नकशे में बनाया जाता है कि यह इतना लोक है और बाकी का अलोक है। (३) द्रव्य लोक याने द्रव्य रूप लोक; सब जीव अजीवरूप द्रव्यों को कहा जाता है। (४) क्षेत्र लोक : क्षेत्र रूपी लोक समस्त लोकाकाश को कहा जाता है और अनन्त आकाश भी क्षेत्रलोक है, क्यों कि आकाश क्षेत्र रूप है, चाहे उस सब का उपयोग न भी हुआ हो, होता हो। यहां 'लोक' याने अवलोकित हो, ज्ञान से जाना या देखा जाय वह। (५) काललोक : एक समय से लेकर पुद्गल परावर्त तक के काल को कहा जाता है। (६) भव लोक : याने वर्तमान भव में रहे हुए चारों गति के जीव जिसे भोग रहे हैं वह। (७) भाव लोक. याने औदयिक, औपशमिक,

क्षायिक, क्षायोपशयिक व पारिणामिक और सान्निपातिक इन ६ प्रकार के भावो को कहते है। ('औदयिक' भाव याने कर्म के उदय से आत्मा मे उत्पन्न होने वाला परिणाम इत्यादि। 'पारिमाणिक' याने जीव का अनादि सिद्ध जीवत्व भव्यत्वादि परिणाम। सान्निपातिक याने औदयिकादि पाच भावो मे से जीव, याने जीव मे जितने भावो का सद्भाव हो वह।) (८) पर्यायलोक याने जीव अजीव द्रव्यो के गुणपर्याय भावो का होना वह। ये सब पर्याय अनन्तानन्त है, वह भी लोक। 'लोक' याने 'अवलोकन' हो सके वैसी वस्तु या पदार्थ, अत वह उक्त आठ प्रकार से है।

ऐसा लोक अनादि काल से चला आता है और अनन्त काल रहेगा, ऐसा जिनेश्वर भगवान ने कहा है।

प्रश्न— पूर्व श्लोक मे 'जिनदेशित' कह कर जिनेश्वर भगवन्त ने उपदेश दिया है तो कहा ही है। उसका यहा भी सम्बन्ध है, तो यहां पुनः 'जिणक्खाय' पद से यही वस्तु कही है, यह पुनरुक्ति दोष नही है ?

उत्तर— नही। 'जिणक्खाय' पद को पुनः लगाने का अर्थ श्री जिनेश्वर भगवान के प्रति और उनके शब्दो के प्रति आदर बताने के लिए है। यहा आदर यह है कि (i) अहो! प्रभु कैसे करुणावान हैं कि उन्होने यह भी कहा! तथा (ii) अहो! पचास्तिकाय लोक और नाम आदि आठ प्रकार के लोक भी श्री जिनेश्वर भगवन्त ने ही कहा है!' ऐसे आदर से सम्यग्दर्शन निर्मल होता है। इससे वैसा आदर करवाने का सुन्दर लाभ देने वाला पद पुन कहा जाय तो भी उसमे पुनरुक्ति दोष नही है।

पुनरुक्ति दोष कहां कहां नहीं ?—

अनुवादादर वीप्सा भृशार्थ विनियोग हेत्वसूयासु ।
ईषत्संभ्रम विस्मय गणना स्मरणेष्व पुनरुक्तम् ॥

अर्थः– [1]अनुवाद, [2]आदर, [3]वीप्सा, [4]अत्यन्ततार्थे, [5]सौदा, [6]हेतु, [7]ईर्ष्या, [8]न कुछ, [9]संभ्रम, [10]विस्मय, [11]गिनती तथा [12]स्मरण य पुनः बोलने से पुनरुक्ति दोष नहीं होता ।

उदा० (१) '१२ महिने का वर्ष होता है', इसमें वर्ष शब्द अनुवाद के लिए है अतः उसका अर्थ भी १२ महीने ही होने पर भी पुनरुक्ति दोष नहीं है । (२) आदर के लिए, 'भाई' तुम आये सो अच्छा हुआ, और देखो न ! भाई ! तुम्हारे विना यह कार्य कौन कर सकता है ?' इसमें दूसरी वार 'भाई' के सम्बन्ध में पुनरुक्ति दोष नहीं है । (३) 'जाओ, जाओ, देखने जैसा है ।' इसमें जाओ का दो वार कहना वीप्सा कहलाता है । वह जाने का महत्त्व बताता है । इसमें भी पुनरुक्ति दोष नहीं है । (४) मनुष्य बात बात मे मान करता है, मान विना चलता ही नहीं ।' इसमें मान ज्यादा (भृश) करता है, यह बताने के लिए ही पहले वाक्य के उपरात दूसरा वाक्य इसी अर्थ में कहा, इससे इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं है । इसी तरह इन अन्य प्रसगों मे भी पुनरुक्ति दोष नहीं गिना जाता जैसे (५) व्यापार मे सौदा करने में एक बात कई बार बोली जाती है । (६) किसी प्रतिपादन को बराबर ठसाने के हेतु अनेक बार बताया जाता है । लडके को कहा जाता है . 'देख बहुत नहीं खाना, इससे शरीर बिगड़ता है, बीमारी आती है, काम रुकते हैं । (७) ईर्ष्या में मनुष्य एक ही बात बार बार कहता है : उस सेठ का रौब कैसा है ? किसी से मिलता ही नहीं ! किसी के साथ बात ही नहीं करता । उसे बुलाओ न, बोलता है ? नहीं, अक्षर भी नहीं बोलेगा ।

'(८) ईषत् याने न कुछ (जरा) बताना हो उदा॰ वीर प्रभु के १२॥ वर्ष छद्मस्थ काल में कुछ निद्राकाल मे २ घड़ी; याने कहो कि प्रमाद ईषत्, कुछ नही, साढे बारह वर्ष सतत अप्रमाद।' (९) संभ्रम याने अपूर्व हर्ष मे पुनरुक्ति; उदा॰ माँ पडोसिन से कहती है : मेरा पुत्र पहले नम्बर पास हुआ। एक भी लडके को आगे नही आने दिया। सबसे ज्यादा मार्क ले आया। (१०) विस्मय से उदा॰ 'प्रभु की आज की आंगी कैसी अद्भुत! कैसी अपूर्व! पहले ऐसी आंगी कभी नही देखी।' यह बोलने में पुनरुक्ति दोष नही है। (११) वस्तु की गिनती मे उदा॰ २४-२४ के ढेर बनाने हो तो १, २, ३, ४.. आदि अंक बार बार बोले जाते है। (१२) गाथा याद करनी हो, रटना हो तो उसे ही बार बार बोला जाता है। इन सब मे पुनरुक्ति दोष नही माना जाता। इस तरह प्रस्तुत मे 'जिनाख्यात' पद आदर का कारण होने से उसमे पुनरुक्ति दोष नही है।

क्षेत्रलोक पर चिंतन :

अब क्षेत्रलोक बताते हैं। अधोलोक, मध्यलोक व ऊर्ध्वलोक; इस तरह क्षेत्रलोक है। इस क्षेत्रलोक में सोचने का क्या क्या है वह कहते हैं:-(गाथा ५४)

क्षेत्रलोक के चिंतन में रत्नप्रभादि पृथ्वी, घनोदधि आदि वलय, द्वीप, सागर, नरकावास, विमान, भवन, व्यंतरनगर आदि की आकृति का विचार करें।

पृथ्वियों में : यहां से नीचे नीचे धर्मा, वंशा, शैला, अंजना, रिष्टा, मघा, माघवती, ये सात नरकवश की रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा व तमस्तमःप्रभा नामक पृथ्वी, रोटी की तरह गोल सात पाताल भूमि है। पहली पृथ्वी की मोटाई १,८०,००० योजन है, उसके नीचे नीचे की उससे

कम कम योजन मोटी और प्रत्येक लोकाकाश के अन्त तक विस्तृत तथा नीचे और चारो ओर पास मे धनोदधि आदि वि-यो मे आवेष्टित है। इन सात पृथ्वियो क उपरान्त एक पृथ्वी १४ राज-लोक के याने लोकाकाश के सिरे (ऊपर) पर ५ अनुत्तर विमान से १२ योजन ऊची है। यह ईषत् प्राग्भारा याने सिद्धशिला नाम की और स्फटिक रत्न की है। वह भी रोटी जैसी गोल किन्तु बीच मे ८ योजन मोटी और वहा से धीरे धीरे पतली बनती जाती है जिसमे बिलकुल किनारे पर तीक्ष्ण होती है। उसका विस्तार (लम्बाई चौडाई याने व्यास) ४५ लाख योजन है। उतने ही प्रमाण वाले ढाई द्वीप के किसी भी स्थान से जीव मोक्ष प्राप्त करके वहा से सीधी गति मे ऊचे जाकर सिद्धशिला के ऊपर लोक के अन्त भाग में स्थिर होता है।

वलय प्रत्येक पाताल भूमि के नीचे और चारो ओर उसे आवेष्टित करके रहे हुए घनोदधि, घनवात और तनवात हैं। उनमे पहला वलय जमे हुए बर्फ जैसा, उसके नीचे दूसरा जमे हुए वायुरूप और उसके नीचे सूक्ष्म वायुरूप होता है। ये वलय थाली जैसे है और एक थाली मे दूसरी थाली रखी हो उस तरह है, एक मे दूसरी, दूसरी मे तीसरी। तीसरी घनोदधि; फिर उसमे रोटी जैसी पृथ्वी जो पूरी थाली मे भरी हो। ऐसे ३-३ वलय प्रत्येक पाताल पृथ्वी के नीचे है, अत कुल २१ वलय हुए।

द्वीप . बीच मे जम्बू द्वीप रोटी जैसा गोल है और प्रमाण अगुल क नाप से १ लाख योजन लम्बा चौडा याने व्यास वाला है। इस द्वीप के चारो ओर लवण समुद्र चूडी के आकार का है और २ लाख योजन चौड़ा है। उसके चारो ओर घातकी खण्ड भी चूडी के आकार का तथा ४ लाख योजन चौड़ा है। फिर उसके चारो ओर समुद्र द्वीप समुद्र द्वीप आते है जिसमे अन्तिम द्वीप

स्वयंभू रमण द्वीप है। प्रत्येक का नाप पूर्व पूर्व से द्विगुणा-दुगुना चौड़ा है। वह अन्तिम द्वीप असख्य लाख योजन है, वह अन्तिम द्वीप असख्य लाख योजन का है; क्योंकि कुल द्वीप असख्यात है। इसमे मध्य के जम्बू द्वीप+धातकीखड+२॥ पुष्करवर द्वीप=२॥ द्वीप इतना बडा मनुष्यलोक है। १६ लाख योजन का मोटा पुष्कर-वर द्वीप चूडी जैसा है, उसमे ८-८ लाख योजन के दो भाग करने वाले मानुषोत्तर पर्वत की रेखा पूरे द्वीप मे चारो ओर गोलाकार है। उसके अन्दर की ओर के हिस्से में २॥ द्वीप हैं और उसमे ही मनुष्य रहते हैं। जम्बूद्वीप मे भरत, महाविदेह और वन आदि ६ क्षेत्र है और इन प्रत्येक के बीच मे लम्बे पर्वत हैं जो ६ हैं। जम्बू-द्वीप के बीच मे एक लाख योजन ऊचा मेरु पर्वत है। जम्बूद्वीप के दोनो ओर पूर्व पश्चिम धातकीखड तथा पुष्करार्ध मे प्रत्येक इसी तरह होने से कुल ५ मेरु, ५ भरत, ५ ऐरावत तथा ५ महाविदेह आदि है।

समुद्र : दो लाख योजन लवण समुद्र से लेकर असंख्य योजन के अन्तिम स्वयभू रमण समुद्र तक असख्य समुद्र है। इसमे एक तरफ गाव व दूसरा तरफ राम जैसी बात है। लवण २ लाख का तो बीच मे जम्बू १ लाख का, धातकी खड ४ लाख का तो बीच मे लवण जम्बू मिल कर ३ लाख और जम्बू के दोनो तरफ के लवण का नाप गिनें तो ५ लाख याने जम्बू १ लाख तथा दो तरफ का लवण कुल ४ लाख मिलकर ५ लाख योजन हुए। अत: धातकी-खड ३ लाख योजन ज्यादा चौडा। बस, इसी तरह अन्तिम स्वयभू रमण समुद्र दोनों तरफ मिल कर जितना है, उससे बीच के कुल द्वीप समुद्र दोनो ओर के मिल कर कुल केवल ३ लाख योजन कम होते है।

नरक नारकी जीवो के उत्पन्न होने के नरकावास जिस

अचित्य अहेतुक पदार्थ है। अग्नि की ज्वाला का स्वभाव ऊपर जाने का क्यो ? और वायु का स्वभाव तिरछा जाने का क्यो है ? उसका जवाब यही है कि वह वस्तु स्वभाव है अस्तु।

रत्नप्रभादि पृथ्वी घनोदधि के आधार पर है। वह फिर तनोदधि के ऊपर है। तो वह तनुमात पर अवस्थित है। पर्वत तथा समुद्र तो पृथ्वी पर अवस्थित है। भारी वायु पर हलके रजकरण आदि ऊपर रह जाते है, जिसके हट जाने पर वे रजकण नीचे गिर जाते है।

आकाशादि के आधार पर इस तरह रहना शाश्वत काल से है। इसी तरह तनवात पर तनवात पर घनवात, घनवात पर घनोदधि तथा उसके ऊपर पृथ्वी . यह व्यवस्था भी शाश्वत है। इसमे कोई फर्क नही पड़ता। 'सस्थान विचय' मे इस सब का चितन हो सकता है। अब जीव पदार्थ पर का चितन बताते है। (गाथा ५५)

४. जीव पदार्थ पर चिंतन

जीव वस्तु पर चितन के यहां ६ प्रकार बताये है : वे इस तरह है.—लक्षण, कालस्थिति, शरीर भिन्नता, अरूपिता, कर्तत्व तथा भोक्तृत्व। इन प्रत्येक पर निम्न प्रकार से चितन किया जा सकता है —

१. लक्षण : जीव का लक्षण उपयोग है। यह ज्ञानदर्शन दो प्रकार से है : ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग।

प्रश्न— ज्ञानदर्शन को उपयोग क्यों कहते है ? '३५=मायीप्येव योग=मिलना याने जो गाढरूप से जुड़े, वह उपयोग' यदि इस अर्थ मे ज्ञान दर्शन जीव के साथ गाढरूप से जुड़ने के कारण उसे उपयोग

कहा जाय तो पुद्गल मे भी रूप रसादि गुण गाढ रूप से जुड़ते हैं तो इससे क्या रूप रसादि को उपयोग कहोगे ?

उत्तर— 'उपयोग' का यहा यह अर्थ नही है। पर 'उपयोग' याने जिसके द्वारा दूसरे मे निकटता से तन्मयता से जुडना हो वह। आत्मा को ज्ञानदर्शन से उसके विषय मे ऐसा जुडना होता है। अर्थात् विषय को तन्मयता से देखता है जानता है। साराश, ज्ञान-दर्शन 'उपयोग' इस लिए है कि इससे जीव दूसरे विषय मे उपयुक्त याने जाग्रत सावधान या जानकार बन जाता है। किसी जड को दूसरे का कोई विचार ही नही है, दूसरे की जाग्रति या जानकारी नही है, कुछ पता ही नही, ध्यान ही नही है। इससे उसमे उपयोग नही है। तो छोटी चींटी जैसे जीव को चलते हुए यह पता चल जाता है कि यह पानी आया, तो वह निवृत्त हो जाती है, वह उसमे आगे नही बढेगी। सिद्ध के जीवो को पूरे जगत का पता चलता है; मात्र उन्हे रागादि न होने से वे उसमे प्रवृत्ति या निवृत्ति नही करते! किसी जड को दूसरे का कुछ पता नही चलता। दर्पण को भी कुछ समझ मे नही आता; उसमे पडने वाला प्रतिबिम्ब तो मात्र छायाणु का सक्रमण है। अतः जड के गुण को उपयोग नही कहा जा सकता।

यह उपयोग दो प्रकार से है। १. साकार, २. निराकार। साकार याने ज्ञानोपयोग, निराकार याने दर्शनोपयोग। यहा 'साकार'=ज्ञान यह विशेष उपयोग है और 'निराकार'=दर्शन यह सामान्य उपयोग है। वस्तु के दो स्वरूप है (१) सामान्य और (२) विशेष। ऐसी ही दूसरी वस्तुओ के साथ का समान भाव सामान्य। उदा॰ दूसरे पार्थिव पदार्थों के समान घडा भी पार्थिव है, अतः घड़े की पार्थिवता सामान्य कही जाती है तो दूसरो से भिन्नता विशेष है। उदा॰ इसी घडे का घडापन अन्य

पार्थिव कुण्ड आदि पदार्थों से भिन्न है। अतः घड़े का घड़ापन उसकी विशिष्टता कही जायगी। फिर दूसरे घड़े के समान इसमें घड़ापन सामान्य है, पर अन्य घड़ो की अपेक्षा उसकी अमुक बनावट, अमुक मातिकी अमुक स्थान आदि धर्म भिन्न है, अतः वे धर्म इस घड़े का विशिष्ट स्वरूप कहे जावेंगे। बस वस्तु को विशेष रूप मे देखना वह विशेषोपयोग साकार उपयोग याने ज्ञान कहलाता है और सामान्य रूप से देखना वह सामान्य उपयोग, निराकार उपयोग याने दर्शन कहलाता है।

साकार उपयोग : यह आठ प्रकार का है। मतिज्ञानादि ५ तथा मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान व विभग ज्ञान ये ३ मिलकर कुल ८ हुए। (इसमे अज्ञान याने ज्ञान का अभाव नही पर मिथ्याज्ञान याने मिथ्या दृष्टि का ज्ञान)।

निराकार उपयोग : यह चार प्रकार का है। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन व केवल दर्शन। श्री तत्त्वार्थ शास्त्र (अ० २ सू० ९) में कहा है 'सद्विविधोऽष्ट चतुर्भेदः' अर्थात् उपयोग दो प्रकार का साकार व निराकार और वह क्रमशः ८ और ४ भेद से है। यह उपयोग ही जीव का लक्षण है। उसका चिंतन करे।

२. काल स्थिति : यह जीव की अनादि अनन्त है, शाश्वत नित्य है। कभी भी जीव बिलकुल ही नया उत्पन्न हुआ ही नहीं; वैसे ही अत्यन्त नष्ट भी नही होता। अलबत्ता, उसमे पर्यायो के परिवर्तन होते रहते है। एक जन्म के बाद मृत्यु, पुनः जन्म, फिर मृत्यु; अभी मनुष्य फिर देव, अभी ससारी फिर मुक्त। ऐसे भिन्न भिन्न बदलते हुए पर्यायो की अपेक्षा से जीव अनित्य है। पर इन सब पर्यायों मे जीव के रूप मे तो वह कायम ही रहता है। उसके प्रवाह से नित्य है। इस पर से वर्तमान जीवन ही देख कर

बैठे रहना, उसके ही सुख सन्मान का विचार करना यह अज्ञान दशा है। जीव के लिए तो अनन्त भूतकाल बह गया, उसने तो कई सुख सन्मान तथा दुःख के पर्वत देख लिये। यहा क्या नया है कि उसमे मोहित हो गये ? फिर जीव के लिए भावी अनन्तकाल तो खड़ा ही है। उसे सक्षिप्त वर्तमान के ही मोह खातिर क्यो बिगाड़ा जाय ? इस तरह जीव की शाश्वतता का विचार किया जाय। फिर जीव काया से भिन्न होने का विचार करे !

३. काया से भिन्नता : जीव एक स्वतन्त्र द्रव्य है। जैसे ओदारिक काया याने हम जो शरीर धारण कर रहे है वह योग्य वस्तुओं जैसे घर पैसे चाज वस्तु आदि से बिलकुल भिन्न है; इसी तरह अन्दर रहा हुआ आत्मा भी इस योग्य शरीर से बिलकुल भिन्न वस्तु है। शरीर योग्य होने से ही घर की तरह उसे मैले से उजला, दुर्बल से सबल करके उसे भोगा जाता है। उसमे आनन्द का साधन बनाया जाता है। तो उसका भोक्ता जीव भिन्न सिद्ध होता है। अन्यथा शरीर स्वय आपको क्या भोगे ? इसी तरह कार्मणकाय अर्थात् कर्म के संग्रह से भी जीव बिलकुल भिन्न है, क्योकि वह जीता है, जीयेगा, जीता था अतः वह जीव कहलाता है। 'जीव' शब्द की यह व्युत्पत्ति शरीर को लागू नही होती। क्योकि वह तो अन्त मे निश्चेष्ट हो जाता है और फिर उसका तो नाश हो जाता है, फिर जीने की क्रिया कहा से रहेगी ? इस तरह शरीर से बिलकुल भिन्न स्वतन्त्र जीव होने का सोचे।

४. अरूपिता : जीव अरूपी है, अमूर्त है, रूप, रस आदि गुणो से रहित है, अत. सिद्धशिला के ऊपर जहा मुक्त सिद्ध बना हुआ एक जीव है, वहा दूसरे अनन्त मुक्त जीव रहे हुए है। अमूर्त होने से जैसे दिमाग मे एक ग्रन्थ का ज्ञान समा सकता है, वैसे ही मोक्ष स्थान छोटा होने पर भी वही एक ही स्थान पर

अनन्त मुक्त जीव समा जाते हैं। कोई भी जीव किसी अन्य जीव को बाधा नहीं करता। ये सिद्ध अरूपी होने से ही उन पर अब कर्म, शरीर आदि किसी का भी लेप नहीं लगता। अरूपी जीव पर संसार में तो इसलिए लेप लगता है कि जीव के ऊपर अनादिकाल से कर्म के लेप का प्रवाह चला आ रहा है; इससे लेप पर लेप लगने में विरोध नहीं आता वहा आत्मा रूपारूपी है। फिर सर्वथा अरूपी हो जाने पर भी लेप लगता ही नहीं।

आत्मा की इस असली अरूपिता का समरण हो जाय तो फिर (१) उसका उसे महत्त्व लगने से जड़ रूपी पदार्थ उसे 'कुछ नहीं' लगेंगे। कहा मेरी शुद्ध निर्मल अक्षय अजर अमर अरूपिता और कहा जड के परिवर्तित होने वाले नाशवन्त बेहूदे रूप रस आदि? इसमे मैं क्यों मिल जाऊ? इसे किस लिए महत्त्व देकर यह सुन्दर यह खराब ऐसे भाव करूं? इस तरह जड के प्रति उदासीनता उत्पन्न करने वाली यह अरूपिता की समता है। (२) रूपी जड़ के लेप के कारण शुद्ध अरूपिता ढक गई है। साथ ही अनन्त सुख भी दब गया है। अतः रूपी जड तो आत्मा का दुश्मन है। तो दुश्मन के माल विविध रूप आदि में अच्छा बुरा क्यों लगे? दुश्मन के माल के प्रति तो नफरत व उदासीनता ही होनी चाहिये। इस तरह रूपी के सामने स्वकीय भव्य अरूपिता का चिंतन करे।

५. स्वकर्म कर्तृत्व : ऐसा शरीर से भिन्न यह आत्मा ससार मे है, वहां तक ज्ञानावरणादि कर्म का कर्ता है। कर्म बन्ध के कारणो का सेवन करे अत: स्वाभाविक ही कर्म बांधता है। ये कारण जैसे कि हिंसादि पाप को त्याज्य न मानना आदि मिथ्या-दृष्टि, पाप की छूट होना अविरति, राग-द्वेषादि कषाय, तथा हिंसादि पापों का आचरण स्पष्ट दिखता है। कारण हो तो कार्य होगा ही, यह स्वाभाविक है। अत. वह कार्य याने कर्म आत्मा स्वयं

(१) **स्वकर्म कर्तृ त्व**:—ऐसा शरीर से अतिरिक्त आत्मा जहा तक समार मे है वहा तक वह ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का कर्ता है। कर्मबन्ध के कारणो का सेवन करे तब सहज है कि कर्मबन्ध हो। ये कारण–,उदा० (१) हिंसादि पापों (आश्रवो) को त्याज्य न मानना ऐसी मिथ्यादृष्टि, (२) पाप करने की छूट हो अर्थात् पाप न करने को प्रतिज्ञा न हो यह अविरति, (३) राग-द्वेषादि कषाय, तथा (४) योग यानी हिंसादि पापों की प्रवृत्ति,— ये जीवन मे चलते है यह स्पष्ट दिखता है। फिर कारणो के होने से कार्य का होना सहज है। इस तरह जीव इन कारणो के सेवन से कार्य 'कर्म' को उत्पन्न करता है, 'कर्म' का कर्ता बनता है। उन कारणो को बिलकुल छोड़ दे तब कर्मकर्तृत्व बन्द हो जाता हैं। व क्षण मे मोक्ष होता है।

सांख्यदर्शन.—आत्मा को सदा के लिए अत्यन्त शुद्ध कूटस्थ नित्य मानता है, अतः कर्मों का कर्ता नही मानता। किन्तु यह मानना गलत है, क्यो कि आत्मा अगर कर्मों का कर्ता नही, तब तो उस के साथ कर्मों का सम्बन्ध भी नही, फलतः उसका संसार नही। कारण, कर्मसयोग यह संसारावस्था है व कर्म वियोग यह मोक्षावस्था है। जीव को यदि ससार ही नही, तब मोक्ष किस का करना है? मोक्ष करने योग्य है, मोक्षोपदेशक शास्त्रों है, एवं तदर्थ आराध्य मार्ग भी है इससे सूचित होता है कि आत्मा का मोक्ष अब तक नही हुआ है, किन्तु समार चालू है अर्थात् कर्मसयोग चालू है। इसका कर्ता आत्मा स्वय ही है। कोई अन्य व्यक्ति आकर आत्मा के उपर कर्मों को नही चिपका देता है, किन्तु आत्मा खुद ही कर्म के कारणो के सेवन द्वारा अपने साथ कर्मों क सम्बन्ध का सृजन करती है।" इस प्रकार कर्मकर्तृत्व का चिन्तन करे। पुनः कर्म-भोक्तृत्व सोचे,—

(२) **कर्म भोक्तृत्व**:—जीव स्वकर्मो का भोक्ता है।

खुद से किये कर्म खुद को भोगने पड़ते है। वर्तमान मे जीव मे अज्ञान है यह क्या है? अपने ज्ञानावरणीय कर्मो का फलभोग। आख काम नही देती, निद्रा, आती है, यह क्या है? दर्शनावरणीय कर्म का फलभोग। जीव को राग-द्वेष, काम-क्रोध-लोभ आदि होते है यह क्या है? स्वकीय ही कर्मो का वेदन। स्वय ही किये कर्म स्व को ही भोगने पडे यह युक्तियुक्त है। उधर व्यापार कोई करे और नुकसान दूसरे को हो यह नही बनता। फोड़ा जिसको, उसको पीडा भोगनी पडती है। जानते है कि सीताजी का यहा कोई अपराध नही; फिर भी उन का क्यों अपयश व हकालपट्टी हुई? कहिए, उनकी आत्मा के द्वारा पूर्व भव मे उपार्जित कर्म के जरिये वैसा स्थिति हुई। हा, पूर्वभव मे ही कर्म का प्रतिक्रमण-प्रायश्चित से नाश कर दिया होता, तो यहा दु:खद कर्मफल भोगना नही पडता। शास्त्र मे कहा है, प्रतिक्रमण, तप, या फलभोग के द्वारा ही कर्मो का नाश होता है, कर्म से मुक्ति मिलती है। कर्मो का आत्मा पर सम्बन्ध हुआ यह मानो फोड़ा हुआ। वह जब पकता है तब उसकी पीडा अनुभव मे आती है। यही कर्म का फल भोग है। इस प्रकार फलभोग अपने ही कर्मो का होता है। साराश कर्म है वहा तक कर्म-भोक्तृत्व है, एवं फलभोग से कर्म नष्ट होता है। यह अगर सोचा जाए, तो दु:ख में आर्तध्यान नही होवे, दूसरे पर द्वेष नही होगा, एव सुख मे वस्तु पर मोह आदि रुक जायेंगे।

जीवतत्त्व के सम्बन्ध मे इन लक्ष आदि मुद्दाओ से चितन करने पर मन तन्मय एकाग्र बने वहा 'सस्थान विचय' नाम का धर्मध्यान होता है। (गाथा ५५) अब 'ससार' पर चितन बताते है। (गाथा-५६, ५७)

अब ससार पर चितन बताते है:—

५ संसार चिंतन

ऐसे शरीर से बिलकुल ही स्वतंत्र आत्म द्रव्य का स्वोपार्जित कर्मों के योग से ही ससार उत्पन्न होता है। कर्म का प्रवाह अनादि काल मे चालू है, तो समार भी अनादि काल से चला आता है। "ससार याने समरण पर्यटन भटकन' कहा? जन्म-मरण, गति कर्म, योग, पुद्गल-सबध, रागादि अशुभ भाव, सुख-दुःख आदि मे। स्वकर्म जनित यह ससार है। उसका चिंतन निम्न प्रकार से होता है।

ससार एक समुद्र जैसा है। समुद्र मे पानी बहुत है वैसे संसार मे जन्म जरा मरण अत्यन्त है अत कहिए जन्मादि रुप पानी इसमें है। समुद्र का पैदा (पाताल) भी ऐमा है कि जिसमें से अगाध पानी आता ही रहता है, कभी भी पानी आना बद नही होता। इसी तरह ससार मे क्रोधादि कषाय रुपी पैदा भी होता है कि उसमे से अगाध जन्मादि बहते ही रहते है। फिर ससार समुद्र मे सकडो व्यसन याने आपत्ति रुपी श्वापद है, जलचर जंतु हैं। आपत्ति पीड़ा देने वाली होने से उन्हे श्वापद की उपमा दी है।

यहां गाथा मे 'सावयमण' पद मे 'मण' शब्द है। यह देश्य शब्द है, इसका अर्थ 'वाला' होता है। सावयमणं याने श्वापद वाला कहा है कि 'मगु अत्थमि मुणिज्जह आल इल्ल मण च मणुअं च'। 'मत्वर्थ' मे याने सस्कृत मे जहा मतु'-मन् वत् प्रत्यय लगता है, वहा प्राकृत मे आल, इल्ल, मण, मगुय प्रत्यय आते हैं। जैसे दीन दयावान के लिए 'दीनदयाल' शब्द का उपयोग होता है, वैसे गर्ववान्, गर्विष्ठ के लिए 'गव्विल्ल', श्वापदवान्' के लिए 'सावयण' का उपयोग होता है।

पुनः ससार समुद्र मे मोहनीय कर्मरूपी आवर्त्त हैं, भ्रमर है; क्यो कि जहाज यदि भ्रमर मे फसा तो वह वही का वही गोल

गोल भटकता रहेगा याने चक्कर काटता रहेगा। इसी तरह मोहनीय कर्म भी जीव को भ्रम में या चक्कर में चढ़ाता है, मिथ्यातत्त्व में फसाया रहता है। जीव हिंसादि पाप से सुख लेने जाता है पर दुःख मिलता है; अतः मानता है, कि यह तो अमुक कारण हुआ, अमुक बिगड़ा अतः दुःख आया। अतः अब बराबर ध्यान रख कर हिंसा आदि पाप करने दे। इस तरह हिंसादि पापः के चक्कर में चढ़ता है। फिर संसार समुद्र महा भयंकर है, जैसे विराट समुद्र में भय उत्पन्न होता है वैसे ही विराट संसार के अंग अति भयकारक बनते हैं। फिर समुद्र में वायु से प्रेरित बड़ी बड़ी 'लहरें' या तरंगें उठती हैं, व उनकी परंपरा चलती है वैसे ही संसार में ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से प्रेरित अज्ञान आदि के कारण संयोग वियोग की परंपरा चलती है।

प्रश्न— किसी वस्तु के साथ संयोग और फिर उसके साथ वियोग तो दूसरे दूसरे कर्मों के आधीन है, तो यहां ज्ञानावरणीय कर्मोदय से प्रेरित कैसे कहा?

उत्तर—संयोग वियोग होने मात्र से दुःखद नहीं होते, किन्तु उनके इष्ट अनिष्टता की बुद्धि होने से वे दुःखद बनते हैं और वह बुद्धि अज्ञान के कारण वैसी होती है। उदा० नीरस खानपान का संयोग हुआ, तो 'इनमें राग नहीं होने से भयंकर कर्म बंध रुक गया, 'यह बहुत लाभ हुआ' ऐसा न लगकर 'यह अनिष्ट संयोग हुआ' ऐसा अज्ञान से लगता है। ऐसे तो कितने ही अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग तथा इष्ट संयोग और अनिष्ट वियोग रूपी तरंगें अज्ञान रूपी वायु से चलते ही रहते हैं।

पुनः यह संसार सागर कैसा है? 'अणोरपार' अर्थात् जिसका आदि नहीं, अंत नहीं ऐसा अनादि अनंत है। आदि याने प्रारंभ इसलिए नहीं कि आदि मानने से यह भी मानना पड़ता है कि

उसके पहले संसार नही था याने आत्मा बिलकुल शुद्ध था। तो फिर प्रश्न उठता है कि ऐसे आत्मा का यकायक ससार खडा होने का क्या कारण हुआ ? कारण बिना कार्य नही होता यह सनातन सिद्धान्त है।

प्रश्न—कोई कार्य यो ही हो गया, ऐसा नही होता ?

उत्तर—यदि प्रारम्भ होने का कार्य यो ही हो गया मान ले, तो प्रश्न उठेगा कि (१) वह तभी क्यो हुआ ? इससे पहले या इससे बाद मे क्यो नही ? फिर (२) यदि शुद्ध का भी संसार प्रारम्भ हो जाय तो भविष्य मे भी मोक्ष पाने के बाद भी पुनः ससार के प्रारम्भ होने का भय क्यो नही रहेगा ? कार्य कारण से ही हुआ मानने वाला तो कह सकेगा कि जीव अत्यन्त शुद्ध हो जाने के बाद कारण नही रहने से अब कभी भी उसे ससार नही होगा। तो पहले तो जब भी पूछा कि 'ससार कैसे ?' तो यही कहा जायगा कि उसके पहले के कारणो से। इस तरह पूर्व पूर्व (पहले) कारण होगा ही; अतः ससार का प्रवाह अनादिकाल से चालू है, यह सिद्ध होता है।

तो किसी जीव के ससार का तो अन्त होता है, परन्तु समग्र रुप से देखते हुए जीव अनतानत काल तक अशुद्ध रहने वाले है, इसमे अनत है।

प्रश्न—क्या ससार कभी भी खाली नही होगा ?

उत्तर—नही। जीव इतने अनतानत है कि कभी भी वे सब मोक्ष मे जा नही पायेगे यह समझ लेने के लिए इतना ही विचार काफी होगा कि आज तक मे कितना समय बीत गया ? उसकी मर्यादा या उसकी गिनती नही की जा सकती कि इतना गया। क्यो कि काल की आदि नही है कि अमुक समय से ही काल का प्रारंभ हुआ। इससे जैसे काल आदि से रहित है, अनादि है,

इसी तरह मोक्ष मे जाने का भी आदि रहित याने अनादिकाल से चालू है। क्यो कि उससे पहले और उससे भी पहले धर्म स्थापित किया हुआ था तभी तो जोव उसका आलम्बन लेकर मोक्ष मे गये। ऐसा तीर्थ स्थापित करने वाले तीर्थंकर भी तभी हुए कि जब वे उससे पहले के किसी तीर्थ मे आराधना कर चुके होगे। ये पूर्व तीर्थ के स्थापक भी उससे पहले के किसी तीर्थ के आलंबन से पहले आराधना करके ही हुए होगे। इस तरह तीर्थ तथा मोक्ष मे जाने का दोनो ही अनादि से चलता रहा है। तो अनादि काल का तो कोई नाप ही नही। इससे इतने अमर्यादित समय से जीव मोक्ष मे जाते हो, तब भी ससार खाली नही हुआ यह हकीकत वर्तमान स्थिति बता रही है। तो अमर्यादित समय मे जो नही हुआ वह अब मर्यादित समय में हो जावेगा? आदि रहित 'अमर्यादित' भूतकाल मे कितने सारे जीव मोक्ष मे गये होगे? तब भी जैन शास्त्र कहते है कि एक निगोद के जीवो की सख्या का अनंतवा की संख्या मे ही जीव मोक्ष मे गये है। तो जब ऐसे नापरहित अमर्यादित काल के भी इतने ही मुक्त, तो अब इसके बाद के अमुक काल मे कितने जीव मुक्ति मे जावेंगे? बीते हुए काल के मुक्त जीवो का अनतवा हिस्सा ही न? इससे संसार कैसा खाली होगा? "ससार अनादि अनत है?' ऐसा सोचे।

ससार अशुभ है: – अशुभ याने अशोभन, असुन्दर' ससार मे कोन सी वस्तु सुन्दर है? प्रशस्त है? यह सोचे।

प्रश्न—तो क्या ससार में देव गुरु धर्म तीर्थ तथा शास्त्र आदि सुन्दर वस्तुएं नही है?

उत्तर—जरूर सुन्दर है, पर वे ससार की वस्तुएं नही है। वे ससार को उखाड़ने वाली मोक्ष मार्ग की वस्तुएं है। संसार की वस्तु तो संसार में भटकाने वाले आहार, विषय, परिग्रह परिवार

कषाय तथा मिथ्यात्वादि है। इसमे क्या सुन्दरता या अच्छापन है? तो ससार की वस्तु जन्म मरण गति परिवर्तन आदि मे भी क्या अच्छापन है ? ससार स्वरूप से, कारण से, और कार्य से सभी तरहे से खराब है। क्योकि उसमे आत्मा की सचमुच में विडम्बना ही है। इस प्रकार चितन करें। इनकी अनादि अनतता और अशुभता के चितन मे तन्मयता होने से सस्थान-विचय नामक धर्मध्यान होता है।

६. चारित्र पर चिंतन

अब इस ससार को निवारण करने वाले चारित्र के बारे मे चितन किस तरह करना चाहिये सो कहते हैं।

चारित्र जहाज किस तरह से हैं? ससार समुद्र जैसा है। तो उसे तैरने के लिए समर्थ यदि कोई जहाज हो तो वह चारित्रात्मक महा जहाज है। इसका कारण स्पष्ट है। जिस रास्ते से संसार उत्पन्न होता है, उससे विपरीत रास्ते से ही मोक्ष प्राप्त होगा। ससार असयम, अविरति हिसादि पापो की छूट और मिथ्या प्रवृत्ति के कारण होता है; तो उसका अत सयम, विरति, सम्यक् प्रवृत्ति स्वरूप चारित्र से होता है।

सम्यक्त्व बंधन:— अब ससार पार करने के लिए यह चारित्र महा जहाज है। जैसे जहाज मे लकडी के टुकड़ो को जोडने वाले बधन है, वैसे ही यहा चारित्र मे सम्यग् दर्शन रूपी बन्धन है। यह होने से ही चारित्र टिकता है। अभव्य जीव चारित्र के महाव्रत लेते है, तब भी सम्यग् दर्शन के अभाव से उनमे चारित्र का छठा गुणस्थानक न होकर मिथ्यादृष्टि का पहलागुणस्थानक का होता है।

चारित्र की निर्दोषता:- चारित्र अनघयाने निर्दोष होता है। इसमे सर्व पापो का प्रतिज्ञाबद्ध त्याग होता है। साथ

ही कषाय की तीन चोकडी जिसने दबा दी है तथा चौथी मद चौकडी बाकी है, वह उस क्रोध मान आदि का उपयोग प्रशस्त रूप से करता है। अर्थात् असयम-प्रमादादि के प्रति क्रोध, द्वेष, साधुत्व का गौरव, खुमारी .. आदि। इसी से कहा जा सकता है कि चारित्र मे दोष नही रहे।

ज्ञान कप्तान.—जहाज के लिए कप्तान की आवश्यकता होती है वैसे यहा चारित्र मे ज्ञानात्मक कप्तान है। चारित्र लेने के बाद ग्रहण-शिक्षा और आसेवन-शिक्षा द्वारा जैसे ज्ञानवृद्धि होती है, वैसे वैसे चारित्र अधिकाधिक निर्दोष रूप मे तथा चढते हुए सवेग रग मे और अधिकधिक सूक्ष्मता मे प्रगतिशील होता है। साराश यह कि ज्ञान चारित्र के आगे बढाता है, ज्ञान उसका नेतृत्व करता है।....

इस तरह चारित्र के बारे मे सोचे।

संवर ढक्कन:— चारित्र जहाज को सवर रूपी ढक्कनो से छिद्र रहित कर दिया गया है। सवर याने आश्रवनिरोध। आत्मा मे इन्द्रियों के विषयों की लगन, कषाय, अव्रत आदि आश्रव है, वे छिद्र है। इनके द्वारा कर्मरज आ आ कर आत्मा मे जमा होती है। इन आश्रव छिद्रों को समिति, गुप्ति, परिषह-सहन, क्षमा आदि १० यतिधर्म आदि से बन्द किया जाता है। इसी का नाम संवर है। इसी से कर्मरज का आत्मा पर चिपकना रुक जाता है।

तपरूपी वायु:— चारित्र जहाज को तेजी से चलने के लिए तपरूपी वायु से वेग मिलता है। अनशन, उनोदरी आदि बाह्यतप, और प्रायश्चित्त विनय आदि आभ्यंतर तप दोनो चारित्र को इस तरह से वेग देते हैं कि इससे बाह्य वृत्तियो के दबने से तथा श्रुत (शास्त्र) रटने आदि की सत्प्रवृत्ति खूब रहने से बची

हुई चौथी चौकडी के कषाय भी अधिकाधिक पतले होते जाते है ! यही चारित्र का वेग है ।

वैराग्य मार्गः— ऐसा चारित्र वैराग्य के मार्ग पर ही चलता है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण वीतराग दशा चाहिये, वह विराग-भाव की साधना से खड़ी होगी । अतः विराग को मार्ग कहा। इस मार्ग से वीतराग दशा और फिर मोक्ष-नगर पहुँचा जा सकता है। चारित्र राग के नही, परन्तु इस विराग के मार्ग पर चलता है। इसी तरह अन्य तो वहुतो का त्याग है, किन्तु आहार, वस्त्र, पात्र, मुकाम आदि का जो उपयोग है वह भी विरक्त दशा से । संसारी को तो घर, दुकान, परिवार व पैसा आदि सव राग के मार्ग पर ही ले जाते है; उसे चलना पड़ता है।

चारित्र में कैसे व्यवसाय से स्थिरता ?

'विस्त्रोतसिका' की तरगो से चारित्र क्षोभरहित है। 'विस्रोतसिका' याने जैसे समुद्र मे जहाज को उलटे रास्ते ले जाने वाली तरगे आती है, वैसे ही मन को उन्मार्ग की ओर खीचने वाला दुध्यान या अपध्यान। यही मोक्ष-प्राप्ति के वीच मे अशुभकर्मो रूपी विघ्नो के समूह को खडा करते है । पर चारित्र में शुभ व्यवसाय भरपूर होने से दुर्ध्यान तरगे रुक जाती है । याने उससे चारित्र विचलित नही होता, क्षोभ प्राप्त नही करता। An idle mind is devil's work shop. खाली दिमाग शैतान का घर है। खाली मन पिशाची विचार करता है। इसलिए चारित्र जीवन मे ८ प्रहर मे से २ प्रहर निद्रा, तथा १ प्रहर गोचरी-भ्रमण-ग्रहण, भोजन तथा स्थँडिल भूमिगमन आदि के लिए; कुल ३ प्रहर छोड़कर बाकी पाचो प्रहर शास्त्र स्वाध्याय के रखे गये है। इसी के वीच मे प्रतिक्रमण आवश्यक क्रिया तथा योग क्रिया कर ली

जाती है। शास्त्र व्यवसाय इतने अधिक समय चलते रहने से मन उसी मे लगा रहने से दुर्ध्यानादि विकल्पो से विचलित न हो यह स्वाभाविक है।

१८००० शीलांग की गिनती

यह चारित्र जहाज महा किमती १८००० शीलांग रूपी रत्नों से भरा हुआ है। शीलांग याने शील के सद् आचार के अंग, यानी अवांतर प्रकार। वह पृथ्वीकायादि आरम्भ-त्याग आदि १८००० हैं। जैसे पृथ्वीकाय, अप्काय, तैजसकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, ये ५ स्थावरकाय जीव तथा बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौरिन्द्रिय ये ३ विकलेन्द्रिय, जीव मिलकर ८ तथा पचेन्द्रिय जीव और अजीव मिला कर कुल १० का आरम्भ, समारम्भ, हिंसा न करे यह शीलांग कहलाता है। इसमे अजीव आरम्भ के त्याग का अर्थ कोई निरर्थक प्रवृत्ति जड के बारे मे भी नही करना। उदा० वस्त्र जैसे मिला हो वैसा ओढे, पर उसे फाडना, सीधा करना आदि परिकर्म नही करना। इस तरह से बेकार एक तृण भी तोड़ना नहीं या मार्ग मे जाते हुए बगीचा आदि देखना भी नही, यह १० प्रकार का आरंभ त्याग हुआ।

यह १० प्रकार का प्रत्येक आरम्भ त्याग १० प्रकार के क्षमादि यतिधर्म को सम्हालते हुए करना है। इसमे क्षमा, मृदुता, ऋजुता, निर्लोभता आदि ४ तथा संयम, सत्य, शौच (पवित्रमन) ब्रह्मचर्य, अकिंचनता (अपरिग्रह) मिलकर ५ तथा तप आते हैं। प्रत्येक पृथ्वीकायादि का समारम्भ त्याग क्षमा से पाले, नम्रता से पाले, .. तप से पाले, ये दसो आरम्भ त्याग इस तरह से पालना चाहिये। अतः कुल १०×१०=१०० शीलाग हुए।

अब इन १०० मे से प्रत्येक पांचों इन्द्रियो के संयम सहित करना होता है। उदा० पृथ्वीकाय जीव को रक्षा क्षमा के साथ करना

होता है, वह स्पर्शेन्द्रिय का संयम रखकर, रसनेन्द्रिय का सयम रख कर,.... आदि पूर्व के सौ प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय संयम के साथ जोडने से १००×५=५०० प्रकार मे शीलाग हुआ। वह भी आहार, विषय, परिग्रह व निद्रा या भय नामक चार सज्ञाओ के निग्रह के साथ पालन करना चाहिये। अतः ५०० में से प्रत्येक प्रकार आहार-सज्ञा आदि के निग्रह के साथ, विषय संज्ञा के निग्रह के साथ,. इस तरह मिलकर कुल ५००×४=२००० शीलाग हुए।

ये भी प्रत्येक प्रकार मन से, वचन से तथा काया से पालन करना चाहिये। अतः आहार सज्ञा निग्रह, स्पर्शेन्द्रियादि सयम व क्षमा आदि रखने के साथ पृथ्वीकाय हिंसा मै मन से नही करूगा। इस तरह मन से २००० प्रकार हुए। इसी तरह वचन से तथा काया से दो दो हजार मिल कर कुल २०००×३=६००० शीलाग हुए।

इसी तरह मात्र 'करु नही' ऐसा नही, किन्तु करवाऊ भी नही और अनुमोदन भी नही करु। इस तरह उपरोक्त मन वचन काया के ६०००×३=१८००० शीलांग हुए। यो दूसरी तरह से भी १८००० शीलॉग होते है। चारित्र जहाज मे ये सब रत्न भरे हुए है। ये महा किमती रत्न है क्योकि इनसे हो *ऐकान्तिक और आत्यन्तिक सुख मिलता है। (इसे सरलता से याद रखने का सूत्र है- 'आय कइ संयोग'=आरम्भ १०×यति धर्म १०×करण ३×इन्द्रिय ५×सज्ञा ४×योग ३=१०००)

ये १८००० शीलाग रत्न भरे चारित्र जहाज पर आरूढ हुए मुनि रूपी व्यापारी मोक्ष नगर की ओर जा रहे है। 'मन्यते जगत्

---

*ऐकान्तिक' याने सुख ही सुख, दुख का लेश मात्र भी नही। 'आत्यन्तिक' याने अन्त को अतिक्रान्त किया हुआ याने उल्लघन किया हुआ अर्थात् शाश्वत।

त्रिकालावस्थाम् इति मुनिः।' कहीं भी राग द्वेष न हो, इसलिए जगत के पदार्थों की भूत भविष्य वर्तमान तीनों काल को अवस्था याने पर्यायों का मनन करे वह मुनि। चाहे जैसे अनुकूल या प्रतिकूल जड़ पदार्थ सामने आवे या अनुकूल या प्रतिकूल वर्ताव करने वाले जीव मिलें, परन्तु 'वह वर्तमान अवस्था से विपरीत, बीभत्स या अच्छी मनपसन्द अवस्था भूत या भावी में वह जड़ या जीव मे है', उस ओर विचार रखने से राग द्वेष या हर्ष शोक ऊठ नहीं सकता। ऐसे मुनि ये व्यापारी इसलिए कहलाते हैं कि वे अच्छी तरह से आय व्यय तथा नफा नुकसान अच्छी तरह समझ सकते है। (१) कहा उत्सर्ग मार्ग में लाभ और अपवाद मार्ग में नुकसान ? तथा कहाँ किस प्रकार के उत्सर्ग पकडे रखने मे लाभ मामूली व नुकसान पारावार है ? और वही अपवाद पकडने मे नुकसान मामूली, परन्तु परिणाम मे लाभ अपार? यह समझने में अति निपुणता से सोचकर प्रवर्तित होते है। अत. मुनि व्यापारी हैं।

ऐसे ये मुनि शीलांग-रत्न भरे चारित्र जहाज से थोडे ही वक्त में और किसी भी प्रकार के अन्तराय बिना मोक्षनगर तक यानी परिनिर्वाणनगर पहुंच जाते है। इस प्रकार संस्थान विचय ध्यान का चिन्तन करे। (गाथा-६०)

७. मोक्ष पर चिन्तन

यह परिनिर्वाण याने सब ओर से परम शान्ति रूप मोक्षनगर कैसा है ? वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र रत्नत्रय के विनियोगात्मक है। 'विनियोग' याने क्रियाकरण। इस रत्नत्रयी के क्रियाकरण से मोक्ष उत्पन्न होता है व अनन्त रूप होता है। अतः मोक्ष को रत्नत्रय विनियोगात्मक कहा। मोक्ष अवस्था खड़ी करने वाला कौन ? रत्नत्रय का आचार-पालन। क्योकि जीव की मोक्ष अवस्था अनन्त

ज्ञान दर्शन चारित्रमय है। उसे प्रकट करने के लिए उसी को आंशिक रूप से उघाडना पडता है। वह उसके आचार पालन से होता है। ऐसा मोक्ष ऐकांतिक है, एकांत भावी है, अर्थात् उसमे सम्पूर्ण शुद्ध ज्ञानादिमय अवस्था प्रकट होने की वजह उसमें लेशमात्र भी अज्ञान मोह आदि का मिश्रण नही है। फिर वह निरावाध है। अर्थात् उसमें इतना ज्यादा अनन्त सुख है कि उसमे अब कोई वाधा पीडा या रुकावट नही है। अज्ञान पीड़ाकारी तत्त्व कर्म-आवरण सर्वथा नष्ट हो जाने से अब अज्ञान या पीडा कहा से खडे होंगे या रह सकेंगे ?

यह मोक्ष अवस्था स्वाभाविक है, जीव का स्वाभाविक रूप है। मोक्ष होने के पहले वह स्वरूप प्रकट दीखता नही था उसका कारण तो यह है कि कर्म के आवरणो से आच्छादित हो गया था। वाकी मोक्ष की अनन्त ज्ञानादिमय स्थिति वाहर से लाने की नही होती, वह तो असल मे आत्मा मे है ही, स्वाभाविक है, कृत्रिम नही है।

प्रश्न— तो परिश्रम करने से ज्ञान आता है वह कैसे ?

उत्तर यह ज्ञान 'आता है' याने अन्दर से वाहर आता है। आत्मा मे असल मे पडे हुए ज्ञान पर जो आवरण है, वह परिश्रम से जैसे जैसे हटता जाता है, वैसे वैसे ज्ञान बाहर खुला होता जाता है, परन्तु वाहर से कुछ नया लाने का नही होता।

फिर यह मोक्ष निरुपम सुखमय है, क्यों कि उस सुख की उपमा नही है। ससार के सुख तो संयोग-जन्य है, उसके साथ इस असांयोगिक आत्मसुख की किस तरह तुलना की जा सकती है ? सम्पूर्ण आरोग्य के सुख की रोगी अवस्था मे कुपथ्य सेवन के आनंद के साथ कैसे तुलना की जा सकती है ? सासारिक सुख विषय-

किं बहुणा, सव्वं चिय जीवाइपयत्थ-वित्थरोवेय ।
सव्वनयसमूहमयं झाएज्जा समय - सब्भावं ॥६२॥

अर्थः—ज्यादा क्या कहे ? जीवादि पदार्थ के विस्तार से युक्त (ऐसा) सर्व नयों के समूहात्मक सिद्धान्त (शास्त्र) के पदार्थ का ध्यान करे। (चिन्तन करे।)

सयोग के आधीन हैं, परवश है, परिस्थिति सापेक्ष हैं। यही का यही विषय-संयोग उपस्थित होने पर भी परिस्थिति बदलने पर वही दु.खरूप लगता हैं। उसका सुख गया ! तब यह मोक्ष का सुख तो अपना (स्वय का-आत्मा का) स्वाभाविक स्वरूप होने से और सर्व संयोगो के नष्ट होने से प्रकट हुआ होने से वह शाश्वत रहता है। अतः यह कहा कि मोक्ष अक्षय सुखस्वरूप है। ऐसे मोक्ष का चिन्तन करे।

'सस्थान विचय' नामक धर्मध्यान मे क्या क्या सोचा जाय, किस किस पर ध्यान किया जाय, वह विस्तार से बता कर अब उसका उपसहार करते हैं।

विवेचन :

ज्यादा कहने से क्या ? सस्थान विचय नामक धर्मध्यान मे सिद्धान्त के (शास्त्र के) पदार्थ का ध्यान चिन्तन करे अर्थात् जिनागम मे कहे हुए किसी भी पदार्थ का एकाग्र भाव से चिन्तन करे वही यह धर्मध्यान होता है।

उत्तर – इस चितनीय जिनागमोक्त पदार्थ मे क्या क्या आता है ? और वह कैसे स्वरूप मे सोचा जाय ?

उत्तर—जिनागमोक्त पदार्थो मे जीव अजीव आश्रव बंध संवर निजरा व मोक्ष नामक वस्तुओ का विस्तार है। और वह द्रव्यास्ति

काय पर्यायास्तिकाय आदि नयसमूहमय है। इस रूप मे उनका चितन करना है।

जिनागम में जीवादि का विचार किस तरह

कोई भी जैन शास्त्र लो, तो उसमे जीवादि वस्तु मे से किसी वस्तु का विचार अवश्य किया हुआ मिलेगा। उदा० प्रथम 'आचारांग' शास्त्र मे मुनि का आचार बताने के लिए जगत मे कैसे कैसे जीव होते है, उन्हे कैसे कैसे शस्त्र लगने से दु.ख होता है, और उसकी अहिंसा कैसे पाली जाय वह बताया है। तो यह जीव वस्तु का विचार हुआ। इसी तरह इन शस्त्रो का उपयोग करने से दिल मे कैसे कलुषित भाव काम करते है, तथा दूसरे भी कैसे कषाय, स्वजन मोह, परिसह-विह्वलता आदि अशुभ भाव रुकावटक रते है, यह बताया। यह आश्रव वस्तु का विस्तार है। इसी तरह अन्य भगवती पन्नवणा आदि शास्त्रो मे पदार्थ व्यवस्था बताई है, वह जीव या अजीव वस्तु का विस्तृत विचार है। ऐसे ही छेद ग्रन्थो में संवर वस्तु का तथा अन्य कईयो मे बंध का, निर्जरा का या मोक्ष का विचार है। जैन शास्त्रो की दृष्टि से विश्व मे पदार्थ ही सात हैं, अत जैन शास्त्र के इस पदार्थ के विस्तार मे से किसी भी वस्तु का चितन या ध्यान इस प्रकार मे करना होता है।

अपाय-विपाक-विचय अलग क्यों बताये ?

प्रश्न— इस तरह तो संस्थान विचय मे रागादि अपाय और ज्ञानावरणीय कर्मों का विचय याने परिचय अर्थात् अभ्यासमय चिन्तन समा विष्ट हो जाता है, तो फिर अपाय-विचय और विपाक-विचय ये दो भेद अलग क्यो बताये हैं ?

उत्तर—बात ठीक है कि संस्थान विचय के समुद्र जैसे विषयो मे अपाय और विपाक का विचार समा जाता है; तब भी उसे

अलग करके बताने का कारण प्रत्येक के उद्देश्य की भिन्नता है ऐसा लगता है। (१) संस्थान-विचय में तो जिनागमोक्त पदार्थ का वस्तु-स्वरूप में विचार किया जाता है जिससे मन की चंचलता तथा असद् विचारधारा मिट जाय। (२) तब अपाय-विचय में तो जीव रागादि आश्रवों के सेवन में खिंचा न जाय बह न जाय या बहता हुआ वापस आ सके, इसके लिए रागादि में कैसे कैसे भयंकर अनर्थ है, कटु परिणाम हैं, उनके भय के साथ उनका चिन्तन है, भय दिखलाने वाला चिन्तन है। (३) इसी तरह विपाक-विचय में, जीव अच्छे बुरे इन्द्रिय-विषयों के आने या जाने पर, एवं रोग, वेदना, पराभव आदि होने पर, हर्ष खेद आदि असमाधि में न गिर जाय इसलिए, उदासीन भाव के साथ या उदासीन भाव की प्राप्ति करवाने वाले कर्म विपाक का चिन्तन है; क्योंकि यह अच्छी बुरी प्राप्ति मुख्यतः कर्म-विपाक के आधीन है, कर्म विपाक की पीड़ा है, विडम्बना है। इसमें विह्वल क्या होना था? इसमें दिलचस्पी लिए बिना हम तटस्थ भाव से उसका दर्शन करें, कर सकें, इसलिए उदासीन बनने के लिए विपाक-विचय ध्यान है।

सारांश यह, कि संस्थान-विचय में शास्त्रोक्त जीवादि पदार्थों के चिन्तन से मन को स्थिर करने की गिनती है तो अपाय-विचय में मिथ्यात्व, इन्द्रिय-विषय, रागद्वेष अशुभ योग आदि आश्रवों का भय रख कर मन को इन आश्रवों से बचा कर स्वच्छ समता-सम्पन्न रखने का उद्देश्य है और विपाक-विचय धर्मध्यान में आपत्ति संपत्ति के समय समाधि स्वस्थता रखने का हिसाब है। यों अपाय विपाक संस्थान विचय, तीनों प्रकार के ध्यान से मन स्वच्छ स्वस्थ स्थिर बनाने का उद्देश्य है।

ऐसे विभिन्न उद्देश्यों की गिनती से ध्यान के भिन्न भिन्न प्रकार हुए। इस दृष्टि से सन्मतितर्क महाशास्त्र की टीका में वादी पंचानन

श्री अभयदेव सूरिजी महाराज ने तथा 'शास्त्र वार्ता समुच्चय' महाशास्त्र के विवेचन मे महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने धर्मध्यान के १० प्रकार बताये हैं।

धर्म ध्यान के १० प्रकार

धर्म ध्यान के १० प्रकारो मे यहा कहे हुए आज्ञाविचयादि ४ प्रकारो के उपरात जीव, अजीव, भव, विराग, उपाय तथा हेतु विचय नामक ६ गिने है। अलबत्ता, पूर्वोक्त संस्थान विचय मे इन छ. का विचार आ जाता है, परन्तु यो तो अपाय तथा विपाक का भी विचार उसमे समा जाता है, तब भी पहले कहे अनुसार विशिष्ट उद्देश्य से अपाय विपाक की तरह ही इन जीव अजीवादि का विचार है। दसो प्रकार का विचार यहा संक्षेप मे उसके भिन्न भिन्न उद्देश्य दिखाने के साथ बताया जाना है।

(१) **आज्ञा विचय** मे यह सोचना चाहिये कि 'अहो! जगत मे हेतु उदाहरण, तर्क आदि होने पर भी हमारे जैसे जीवो के पास बुद्धि का वैसा अतिशय नही है, तो आत्म-प्रत्यक्ष की तो बात ही क्या? इससे आत्मा को लगने वाले कर्म, परलोक, मोक्ष, धर्म अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थ स्वत: देखने या जानना समझना बहुत कठिन हैं। तब भी ये पदार्थ परम आप्त पुरुषो के वचन से जाने जा सकते है। ऐसे परम आप्त पुरुष एक मात्र वीतराग सर्वज्ञ श्री तीर्थंकर भगवान होते हैं। अहो! उनके वचनो ने इन पदार्थों पर कितना सुन्दर प्रकाश डाला है। उन्हें झूठ बोलने का अब कोई कारण नही है। इससे उनके वचन उनकी आज्ञा टकसाली सत्य है। उनका कथन यथास्थित ही है। अहो! कैसी कैसी अनन्त कल्याण-रूप तथा त्रिलोकप्रकाशक, सूक्ष्म सद्भूत पदार्थ बोधक, सन्मार्ग-देशक, विद्वत् जन मान्य और सुरासुरपूजित उनकी आज्ञा!

यह चिंतन अनुचिंतन से सकल सत्प्रवृत्ति के प्राणभूत श्रद्धा का प्रवाह अखण्ड बहता रहता है।

२. अपाय विचय : 'अहो ! अशुभ मन वचन काया और इन्द्रियों की विशेष प्रवृत्तियें अर्थात् विशेष कोटि के अशुभ विचार वाणी वर्तन और रागादि से भरे इन्द्रिय-विषय सम्पर्क से निष्पन्न भव-भ्रमणादि अनर्थों को मैं क्यों अपने ऊपर लूं ? जैसे किसी को बहुत बडा राज्य मिल जाय तब भी भीख मांगने की मूर्खता करे, वैसे मोक्ष मेरी पहुँच मे होने पर भी संसार में भटकने की मूर्खता मैं क्यों करूं ? ऐसी शुभ विचारधारा से दुष्ट दोषों के त्याग का चित्तपरिणाम जागता है।

३. विपाक विचय : कर्म की मूल उत्तर प्रकृति के मधुर व कटु फल का विचार, शुभ अशुभ कर्म के विपाक स्वरूप अरिहंत प्रभु की समवसरणादि सम्पत्ति से लेकर नरक की घोर वेदनाओं के उत्पन्न होने का विचार, तथा कर्म का विश्व पर एक छत्री साम्राज्य होने का विचार करना चाहिये जिससे कर्मफल की अभिलाषा दूर हो तथा अशुभ कर्मों के फल के समय समता-समाधि रहे।

४. संस्थान विचय : मे १४ राजलोक की व्यवस्था का चिंतन करें। इसमे अधोलोक उल्टी बाल्टी, या उल्टी बास्केट (नेतकी) जैसा, मध्यलोक झालरी जैसा तथा ऊर्ध्व लोक खडे ढोल या शराव संपुट जैसा है। अधोलोक मे परमाधामी आदि सहित तीव्र त्रासनायक सात नरक पृथ्वी है और ऊर्ध्व लोक में शुभ पुद्गलो की विविध घटना है। उसका तथा सकल विश्व मे रहे हुए, शाश्वत अशाश्वत अनेकविध पदार्थों आदि का चिंतन करना चाहिये। इस ध्यान से चित्त को विषयांतर से

जाने से तथा चंचल व विह्वल होने से रोका जा सकता है।

५ जीव विचय : जीव का अनादिपन, असंख्य प्रदेशमयता, साकार निराकार उपयोग, किये हुए कर्मों का भोगना, आदि स्वरूप का स्थिर चिंतन किया जाता है। यह जड़ काया आदि पर नहीं किन्तु आत्मा पर ममत्व करवाने मे उपयोगी है।

६. अजीव विचय : धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, उनके गतिसहायकता, स्थितिसहायकता, अवगाहना, वर्तना, परिवर्तन, रूप रसादि गुण तथा अनन्त पर्यायरूपता का चिंतन करना। इससे शोक, रोग, व्याकुलता, नियाणा (निदान) और देहात्म-अभेद का भ्रम आदि दूर होता है।

७. भव विचय : अहो ! कैसा दु खद यह ससार ! जिसमे (१) स्वकृत कर्म के फल भोगने के लिए बार बार जन्म लेना पडता है। रहेंट के चक्र की तरह मल मूत्रादि अशुचि भरे माता के पेट के खड्डे मे कई बार गमन आगमन करना पडता है, और (२) स्वकृत कर्म के दारुण दु.ख भरे भोगो मे कोई मदद नही करता; तथा (३) ससार मे सम्बन्ध विचित्र बन्धते है। माता पत्नी बनती है, पत्नी माता बनती है... आदि। धिक्कार है ऐसे ससार भ्रमण को। ऐसा चिंतन ससार खेद व सत्प्रवृत्ति उत्पन्न करता है।

८. विराग विचय : 'अहो ! (१) यह कैसा कथीर सा शरीर जो गदे रज रुधिर मे से बना, मल मूत्रादि अशुचि से भरा हुआ तथा शराब के घड़े की तरह इसमे जो डाला उसे अशुचि बनाने

वाला है। मिष्टान्न को विष्ठा तथा पानी तो क्या, अमृत को भी पेशाब बना देने वाला है। ऐसा यह शरीर सतत इसके नवों द्वारों से अशुचि बहाता रहता है। (२) वह विनश्वर है, स्वयं रक्षाहीन है, और आत्मा के लिए भी रक्षण स्वरूप नहीं है। मृत्यु या रोग के हमले के समय माता, पिता, भाई, बहिन, पत्नी, पुत्र, पुत्री कोई भी इसे बचा नहीं सकता। तो इसमें मनोहर क्या रहा ? (३) शब्द रूप रस आदि विषय भी देखें तो उनके भोग जहरी किंपाक फल खाने की तरह फलत: कटु, फिर सहज विनाशी, उपरान्त पराधीन हैं। सतोषरूपी अमृतास्वाद के विरोधी है। सत्पुरुष उसे ऐसा ही बताते है। (४) विषयों से लगता सुख भी व लक लार वाला वस्त्र चाटने से दूध का स्वाद मानने जैसा कल्पित है। विवेकी को इसमे श्रद्धा नही होती। विरति ही श्रेयकारी है। (५) गृह वास तो आग से प्रज्वलित घर के मध्य भाग जैसा है, यहा जलती हुई इन्द्रियें पुण्य रूपी काष्ठको को जला देती हैं और अज्ञान परम्परा का धुंआ फैलाती हैं। इस आग को तो धर्म मेघ ही बुझा सकते है। अत: धर्म मे ही प्रयत्न करना योग्य हैं।' आदि राग के कारणीभूत विषयो मे कल्याण विरोध होने का चिंतन करे। इससे परमानन्द का अनुभव होता है।

९. उपाय विचय : 'अरे ! शुभ विचार वाणी वर्ताव को मैं कैसा विस्तृत करु कि जिससे मेरे आत्मा की मोहपिशाच से रक्षा हो।' इस सकल्पधारा से शुभ भोगो का चिंतन करें।

इससे शुभ प्रवृत्ति के स्वीकार की परिणति उत्पन्न होती है।

१०. हेतु विचय : जहा आगम में कहे गये हेतुगम्य पदार्थों पर विवाद खड़ा हो, वहा कैसे तर्क का अनुसरण करने से वह विवाद शांत हो, उसमे स्याद्वाद-निरूपक आगम का आश्रय एवं

वह भी कष-छेद-ताप की परीक्षा सहित करना लाभदायक है, यह सोचना चाहिये। किसी भी शास्त्र को स्वर्ण की तरह (१) कष-कसौटी परीक्षा मे लाना, याने यह देखना कि इसमे योग्य विधिनिषेध है?' तो जिनागम मे उदा० कहा-'तप स्वाध्याय ध्यान करें।' 'हिंसादि पाप न करें।' (२) छेद परीक्षा के लिए यह देखें कि 'इसमे विधि-निषेध को जरा भी बाधक न होकर उसके साधक आचार कहे है?' तो उदा० जिनागम मे कहा है: 'समिति गुप्ति आदि पचाचार पालें।' तो इसमे लेश मात्र हिंसा नही है और तप ध्यानादि विधिपालन की अनुकूलता है। (३) ताप परीक्षा मे यह देखें कि 'इसमें विधि निषेध और जिनागम के आचार के अनुकूल तत्त्व व्यवस्था है?' तो उदा० अनेकान्तवाद की शैली से जीव अजीव द्रव्यो की नित्या-नित्यता, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, द्रव्य पर्याय की भेदा भेदता आदि जो तत्त्व-व्यवस्था बताते हैं वह विधि निषेध तथा आचार के साथ सगतता वाली है। **इस चिन्तन से विशिष्ट श्रद्धा याने सम्यग् दर्शन की संगीन दृढता निर्मलता होती है।**

इन दसो प्रकार के चितन मे जहा मन की स्थिरता होती है कि वह तुरन्त धर्म ध्यान स्वरूप बन जाती हैं। सस्थान-विचय धर्मध्यान मे पहले कहा उस तरह विश्व के समस्त पदार्थ विषय बन जाते है।

इन पदार्थो का चितन सर्व नय समूहमय रूप से करना है, परन्तु एकात नय की दृष्टि से नही। क्योकि वैसा करने से दूसरे नय से सिद्ध होने वाले धर्म का अपलाप होता है। उदा० अकेले द्रव्यास्तिक नय से आत्मा का विचार करे तो आत्मा नित्य ही लगे। फिर दूसरे

पर्यायास्तिक नय की दृष्टि से वर्धमान आत्मा के अनित्यत्व धर्म का इन्कार करने जैसा होता है।

न्यायदर्शन, सांख्यदर्शन आदि वैसा करते है। वे आत्मा परमाणु आदि को मानते है परन्तु एकान्त नित्य मानते हैं। यह मानना भी किस काम का? उसका कल्पित एकान्त नित्य आत्मा या परमाणु जैसी वस्तु जगत मे है ही नही। इसीलिए सन्मतिशास्त्र की टीका मे विस्तार से युक्तिपूर्वक सिद्ध किया है कि उसके कहे प्रत्येक द्रव्य गुण कर्म आदि पदार्थ गलत है। सचमुच मे तो वस्तुमात्र में दो अश है। एक द्रव्याश दूसरा पर्यायाश। द्रव्याश याने ध्रुव अश और पर्यायांश याने अध्रुव अनित्य उत्पत्ति-विनाशशाली अश। आत्मा का आत्मत्व ध्रुव अश है और उसका मनुष्यत्व, देवत्व आदि अध्रुव अश है। मनुष्य या देव के रूप मे आत्मा नित्य नहीं कहा जा सकता। उदा० देव से मनुष्य के रूप मे उत्पन्न हुआ, वह आत्मा अव देव के रूप मे नही रहा। उसका देवरूप खतम हुआ। इस तरह पर्यायाश से आत्मा अनित्य हुआ। एक अणु भी उसके पुद्गल रूप के अश में ध्रुव है, पर जब वह दूसरे अणु के साथ जुड जाने से द्व्यणुक का रूप लेता है तो अब वह अणु नही कहलाता। इस तरह से वह अणुत्वांश से नष्ट तथा द्व्यणुकत्वांश से उत्पन्न हुआ कहा जायगा। इस तरह द्रव्यार्थिक नय तथा पर्यायार्थिक नय दोनो का साथ मे चितन करें तब पदार्थ को न्याय मिलता है और वह चितन यथार्थ गिना जाता है। ऐसे ही दूसरे भी व्यवहारनय, निश्चयनय, शब्दनय, अर्थनय आदि शास्त्र-कथित जीव अजीवादि विस्तार वाले पदार्थों का नयसमूहमय चितन करने से धर्मध्यान होता है। यह धर्मध्यान के ध्यातव्य विषय की बात हुई।

अब इस ध्यान के ध्याता कौन हैं वह बताते हैं:—

सव्वपमाय-रहिआ मुणी खीणोवसंतमोहा य ।
झायारो नाणधणा धम्मज्झाणस्स निद्दिट्ठा ॥६३।

अर्थ:—एवं प्रमाद से रहित मुनि तथा जिनका मोह क्षीण या उपशान्त होने लगा है (याने क्षपक या उपशमकनिर्ग्रंथ तथा अन्य भी अप्रमादि) ऐसे ज्ञान रूपी धन वाले धर्मध्यान के ध्याता कहे गये है ।

विवेचन :

धर्मध्यान के ध्यानी कौन ? याने यह ध्यान मुख्यत कौन कर सकने के अधिकारी है ? तो कहते है (१) मद्य, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा ये पाचो तथा अज्ञान, भ्रम, संशय, विस्मृति आदि आठ प्रमाद-से रहित मुनि अर्थात् सातवें अप्रमत्त गुणस्थान वाले मुनि और (२) मोहनीय कर्म की प्रकृतियो का उपशमन करने वाले या क्षय करने वाले निग्रंन्थ याने ८, ९, १०वें गुणस्थानी जो ज्ञान-धनी याने ज्ञानरूप धन वाले याने ज्ञानी हो वे धर्मध्यान के मुख्य अधिकारी है । इस तरह से जिनेन्द्र प्रभु तथा गणधरादि महर्षि कह गये है ।

सच्चा विद्वान कौन ?

प्रश्न— माषतुष मुनि मे विद्वत्ता कहा थी ? तो उन्हे धर्मध्यान किस तरह ?

उत्तर—पंचसमिति तथा तीन गुप्ति का ज्ञान रखने वाले और उसे जीवन मे बराबर उतारने वाले सम्यग्दृष्टि मुनि ही सच्चे ज्ञानी है । अन्यथा 'समकितविण नवपूरवी अज्ञानी कहेवाय' याने नव पूर्व तक पढे हुए भी समकित बिना अज्ञानी कहलाते है । नव पूर्व पढा हुआ समकित बिना अज्ञानी कैसे ? इस तरह—

'जहा खरो चंदण भारवाही, भारस्स भागी न हु चंदणस्स ।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो, भारस्स भागी न हु सुगईए ॥'

जैसे चन्दन का बोझ उठाकर ले जाने वाला गधा मात्र बोझ का ही हिस्सेदार होता है, चन्दन की सुवास व शीतलता का नहीं। (क्योंकि वह तो मात्र यही चाहता है कि वह बोझ कब उतरे ?) इसी तरह चारित्र आचरण रहित ज्ञानी भी बोझ का ही हिस्सेदार है, सद्गति का नहीं। (क्योंकि वह तो इतना ही देखता है कि 'यह ज्ञान कहां पर बाद मे उतारकर अपनी चतुराई बताऊं ?') ये शास्त्र वचन बताते है कि सम्यग् दर्शन और चारित्र बिना नौ पूर्व तक का ज्ञान धारण करने वाला भी अज्ञानी ही है। इस चारित्र में मुख्य मन वचन काया की गुप्ति याने सम्यक् प्रवृत्ति-निवृत्ति है। इसीसे अभवी तथा भवाभिनंदी जीव के बाह्य रूप से सख्त चारित्र-पालन की भी कीमत नहीं है। क्यों कि उसमे मनोगुप्ति ही नहीं है। वह चारित्र का भी संसारसुख के उद्देश्य से ही पालन करता है। अत उसका मन विषयराग से भरा होने से मैला है, सुगुप्त नहीं है। साराश यह है कि तीन गुप्ति का धारक है वही सच्चा ज्ञानी है, विद्वान है। अतः मापतुष जैसे अप्रमत्त मुनि भी विद्वान ही है और इसीलिए धर्मध्यान के अधिकारी है।

प्रश्न— श्रावक या प्रमत्त साधु को धर्मध्यान नही होता ?

उत्तर— शास्त्र कहता है कि छट्ठे 'प्रमत्त सयत' गुणस्थानक तक आर्त्तध्यान की मुख्यता रहती है, क्योकि प्रमाद दशा में रागादि का जोर रहता है और यह रागादि आर्त्तध्यान के पोषक है। उन्हे कभी धर्मध्यान आ जाय, पर प्रमाद के कारण बहुत टिकता नही, धाराबद्ध नही चल सकता। प्रमाद के जाने से ही मुख्यतः धर्मध्यान का अधिकारी बना जा सकता है। उसके पहले गौण यानी अभ्यासरूप से धर्मध्यान हो सके।

एए च्चिय पुव्वाणं पुव्वधरा सुप्पसत्थ संघयणधरा ।
दोण्ह संजोगाजोगा सुक्काण पराण केवलिणो ।।६४।।

अर्थ:—यही अप्रमादी मुनि शुक्ल ध्यान के पहले दो प्रकार के अधिकारी है, मात्र वे पूर्वधर तथा श्रेष्ठ वज्र ऋषभ नाराच संघयणधारी होने चाहिये। शुक्ल ध्यान के 'पराण' याने पिछले दो प्रकार के ध्याता तो सयोगी अयोगी केवलज्ञानी ही होते है।

प्रथम दो प्रकार के शुक्ल ध्यान के अधिकारी

अब शुक्ल ध्यान के प्रथम दो प्रकार के ध्याता भी समान रूप से ही अप्रमादि आदि है अत: आगे शुक्लध्यान के निरूपण मे उनका पुन. वर्णन न करना पडे, इसलिए सक्षेप के लिए यहा हो प्रसगवश उनको बताने के लिए कहते है.—

विवेचन :

पहले दो प्रकार 'पृथकत्व वितर्क सविचार' और 'एकत्व वितर्क अविचार' शुक्ल ध्यान के अधिकारी भी अप्रमादी तथा उपशामक आदि होते है। इस धर्मध्यान मे आगे वढने पर शुक्लध्यान हो सकता है। मात्र वे पूर्वशास्त्र के ज्ञाता होने चाहिये।

मापतुप मुनि को शुक्ल ध्यान कैसे ?

प्रश्न— मापतुप मुनि मरुदेवा माता आदि जैसो को पूर्वशास्त्र का ज्ञान कहा था ? तो क्या उन्हे शुक्ल ध्यान नही था ? नही था तो केवलज्ञान कैसे हुआ ?

उत्तर—उन्हें शुक्ल ध्यान हुआ था। क्यं कि उसके विना असख्य जन्म के एकत्रित किये हुए ज्ञानावरणीयादि घाती कर्म

सभी एक साथ नष्ट नही हो सकते। परन्तु वह ध्यान उन्हे सातवें अप्रमत्त गुणस्थानक मे नही, पर पीछे से ऊपर के गुणस्थानक मे आया था। कषाय की अत्यन्त मदता और सामर्थ्य योग के प्रभाव से उस प्रकार के ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हो जाने से, सूत्र से नही पर, अर्थ से 'पूर्व' शास्त्र का ज्ञान याने पूर्वशास्त्र मे कथित सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान प्रकट हो जाता है। किन्तु वह सातवें से ऊपर जाने पर ही। इसीलिए यहा टीकाकार महर्षि स्पष्टता करते है कि 'पूर्वधर' विशेषण पूर्व गाथा के मात्र 'अप्रमादि' पद मे ही जोड़ा जायगा। अर्थात् अप्रमादी पूर्वधर को शुक्ल ध्यान के पहले दो प्रकार होते है। याने अप्रमादी होने पर 'पूर्व' शास्त्र पढे हुए न हो तो वे मात्र धर्मध्यान कर सकते हैं शुक्ल ध्यान नही: यह शर्त क्षपक उपशामक निर्ग्रन्थ के लिए नही है। वे पूर्व' शास्त्र न भी पढ़े हो तब भी शुक्ल ध्यान के अधिकारी हैं। (अलबत्ता ऊपर कहा है वैसे उन्हे 'पूर्व' के मात्र पदार्थ का ज्ञान हो जाता है, तब भी वे 'पूर्वधर' अर्थात् १४ 'पूर्व' शास्त्र पढे हुए नहीं कहे जा सकते।) अत. मापतुष जैसे मुनि को, निर्ग्रन्थ क्षपक बनने पर, शुक्ल ध्यान आ जाता है।

इस शुक्ल ध्यान के ध्याता प्रथम 'वज्रऋषभ नाराच' सघयण के धारक होते है। क्योकि ऐसे उत्कृष्ट शरीर संघयण बल पर ही वैसा मनोबल और सूक्ष्म पदार्थ मे चित्त की स्थिरता आ सकती है। यह विशेषण सामान्य तौर पर समझना चाहिये। क्योकि उच्च ध्यान की योग्यता के लिए विशिष्टता इस पर न होकर 'पूर्व' धरता अप्रमाद तथा निर्ग्रन्थता पर है। वैसे यह सघयण तो सातवी नरक मे जाने वाले अधम आत्मा को भी होता है। तब भी यह विशेषण रखकर यह सूचित किया कि इससे नीचे के संघयण वाले को शुक्ल ध्यान नही होता।

तीसरे चौथे शुक्ल ध्यान के अधिकारी

जैसे शुक्ल ध्यान के पहले दो प्रकार पूर्वधर अप्रमत्त या क्षपक उपशामक को होते हैं, वैसे ही अन्तिम दो प्रकार क्रमशः दो प्रकार के केवली को होते हैं। अर्थात् (३) सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति शुक्ल ध्यान सयोगी केवली को तथा (४) व्युपरत क्रिया अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान अयोगी केवली को होता है। सयोगी याने विहार, उपदेश, गोचरी आदि काययोग वचनयोग वाले केवलज्ञानी मोक्ष प्राप्ति के पहले के अन्तर्मुहूर्त काल मे पहले योगो का निग्रह करके शैलेशी (मेरु जैसा निष्प्रकम्प आत्म-प्रदेश अवस्था प्राप्त करने के लिए वही तीसरा शुक्ल ध्यान धारण करते है और उसमे अयोगी बन जाने पर चौथा शुक्ल ध्यान करते है, जिससे सर्व कर्म का क्षय होता है।

ध्यानांतरिका : केवली अध्यानी

शास्त्र में यह उल्लेख मिलता है कि शुक्ल ध्यान के प्रथम दो भेद पसार कर तीसरे व चौथे की प्राप्ति के पहले ध्यानातरिका होती है। यह ध्यानातरिका याने पूर्वार्ध उत्तरार्ध शुक्ल ध्यान की मध्य अवस्था है। इसमे केवलज्ञान तो दूसरे भेद के अन्त मे उत्पन्न हो जाता है, अब वह अक्षय होता है। केवली शुक्ललेश्या वाले ही होते है। वेजब तक तीसरे सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति को प्राप्त नही कर लें, तब तक वे अध्यानी याने ध्यान रहित रहते है। उन्हे सब कुछ प्रत्यक्ष होने से तथा भावमन न होने मे कुछ भी अज्ञान चिंतन करने जैसा ही नही होता, अतः उन्हे ध्यान नही होता। तो फिर आगे जाकर उन्हे तीसरा चौथा शुक्ल ध्यान क्या? उसकी स्पष्टता बाद मे होगी। (इस पर से यह समझ मे आवेगा कि श्री तीर्थंकर परमात्मा की ध्यानस्थ मुद्रा वाली मूर्ति अपूर्ण अवस्था की मूर्ति है और

झाणोवरमे वि मुणी णिच्चमणिच्चाइभावणापरमो ।
होइ सुभाविय चित्तो धम्मज्झाणेण जो पुव्विं ॥६५॥

अर्थः—ध्यान चला जाय तब भी मुनि हमेशा अनित्यादि भावना मे विचरे और चित्त को उसमे भावित करता रहे ।

ध्यान रहित मध्यस्थ दृष्टि वाले नेत्र सहित मुद्रा वाली मूर्ति पूर्ण वीतराग सर्वज्ञ अवस्था की मूर्ति है ।।

१२ अनुप्रेक्षा

यह प्रासगिक बात हुई । अब मूल विषय धर्मध्यान के 'अनुप्रेक्षा' द्वार का अवसर आने से उसकी व्याख्या करने के लिए कहते हैं.—

विवेचन :

यहा अनुप्रेक्षा अर्थात् अनित्यादि भावना । उसका उपयोग इस तरह है : धर्मध्यान के उपरोक्त आज्ञा, अपाय, आदि मे से किसी विषय पर मन तन्मय लगाया, पर उसमे से मन चचल होकर ध्यान टूट जाय तब क्या करे ? इसके लिए यहा कहा है कि तब भी हमेशा मन को तुरन्त अनित्यादि भावना मे लगा देना चाहिये । 'तब भी' मे 'भी' का भाव यह है कि यो तो इन भावनाओ मे ही मन लगाये रखना चाहिये, किन्तु ध्यान के समय ध्यान खण्डित होने पर भी इन १२ भावनाओ मे मन को लगायें । अनित्य आदि मे आदि शब्द से अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आश्रव, सवर, निर्जरा, लोक, धर्म स्वाख्यात, बोधिदुर्लभ भावनाए समझने का है ।

१२ भावनाओ का स्वरुप 'श्री प्रशमरति' शास्त्र गाथा १५१ से १६२ मे बताया है उसका चितन इस प्रकार करें ।

(१) अनित्य भावना : सभी मनपसन्द सगे स्नेही जनो का सयोग, मनपसन्द समृद्धि, मनपसन्द शब्द रूप रस आदि विषयो के सुख और मनपसन्द सत्ता सन्मान आदि सम्पत्ति तथा आरोग्य देह, यौवन, आयुष्य सभी अनित्य है, नाशवन्त है। यदि उन पर जीव राग, ममता आसक्ति करेगा, तो इन सब के चले जाने पर कितना दु.ख होगा ? अविनाशी आत्मा इन नाशवन्त पदार्थो पर स्नेह क्यो करे ?

(२) अशरण भावना : जहा जन्म जरा मृत्यु का भय सिर पर मंडराता है, जहा अनेक प्रकार की व्याधियो की वेदना मे पीडा होती रहती है, ऐसे ससार मे जीव को शरण किस वस्तु का ? कौन उसकी रक्षा करता है ? जीवन मे सिर्फ एक बार और वह भी अनजान मे बाधे जाने वाले आयुष्य के समय यदि मन के भाव अशुद्ध रहे तो दुर्गति का आयुष्य बंध जाने से वही जन्म लेना पडता है। इसमे से अब अच्छी पत्नी, पुत्र या सम्पत्ति आदि मे से कौन शरण दे कर बचा सकता है ? एकमात्र जिनेश्वर भगवन्त के वचन बिना जीव को किसी का भी शरण नही है।

प्रश्न— तो क्या जिनेश्वर का शरण यहा के व्याधि, जरा, मृत्यु या रोग को रोक देता है ?

उत्तर—नही। पर यह शरण इसलिए है कि (१) इन सब आपत्तियो मे चित्त को वह समाधि-स्वस्थता देता है। क्योकि वह स्व पर का भेद समझाता है जिससे व्याधि आदि आपत्ति वे दु खरूप नही लगती। (२) फिर 'जितनी आपत्ति उतनी कर्मो की सफाई' उसका आनन्द रहता है। (३) साथ ही भविष्य मे जन्म जरा-मृत्यु आदि की पीडा का हमेशा के लिए अन्त लाता है।

(३) एकत्व भावना : इस ससार चक्र मे जीव को अकेले ही मरना पडता है, अकेले ही जन्म लेना पडता है, अकेले

है। नरक आदि गतियो मे जाना पडता है, और अकेले ही शुभ अशुभ कर्म बाधना व भोगना पडता है। तो फिर स्वात्मा का शाश्वतकाल का हित-साधन भी अकेले ही करना चाहिये। जैसे जन्म या मृत्यु आदि मे किसी के सहारे की आशा रखना निष्फल है, इसी तरह स्वात्महित-साधन मे भी दूसरे की आशा रखना बेकार है। कर्म भोगने मे अकेला रहना पड़ता है, अकेले रह सकते है, तो आत्म-हित साधना मे अकेले क्यो न रहा जाय ?

(४) अन्यत्व भावना : 'मैं स्वजन कुटुम्बियो से भिन्न हूँ। ऐसे ही परिवार से, वैभव से, तथा काया से भिन्न हूँ। ये सचमुच मै नही या मेरे नही है, याने मेरी या मेरे मालकी की वस्तुए नही हैं। तो फिर मुझे इनमे से किसी चीज का वियोग हो या इसमे कुछ टेढा मेढा हो, तो उसमे शोक खेद किस लिए करना चाहिये ? जैसे कही किसी का लडका मरने पर वह मेरा न होने से मै रोता नही हूँ शोक मे मग्न नही होता हूं तो फिर जो मेरा माना हुआ है पर सचमुच मे तो मेरा नही है, उसके मरने पर क्यों शोक करू ? यदि स्वजन शरीर आदि मेरे से बिलकुल अलग न हो तो मरने पर यह सब छोडकर मुझे अकेला ही क्यो जाना पडता है ? अत. मैं इन सब से बिलकुल भिन्न ही हूँ।' इस तरह अन्यत्व की मति जिसे निश्चल हुई, उसे शोक रूपी कलियुग नही लगता, या सताता नही है। भगवान श्री ऋषभदेव प्रभु के केवलज्ञान होने पर मरुदेवा माता पुत्र को देखने आई, वहा १००० वर्ष के वियोग के बाद पुत्र बुलाता नही, उसका शोक ऊभर आया, परन्तु वही अन्यत्व भाव मे चढने से माता को केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

(५) अशुचित्व भावना : 'यह शरीर इसमे डाले हुए अच्छे शुद्ध खानपान आदि को अशुचि याने गदा करने का सामर्थ्य रखता है। साथ ही यह असल मे गदे रजवीर्य से जन्म लेकर

उसे माता के गर्भ मे उत्तरोत्तर पोषण देने वाले पदार्थ भी गदे होते हैं, अतः वह स्वरूप मे भी गदा है। स्नानकर बाहर की अल्प समय की स्वच्छता का सतोष मान ले, इतना ही, बाकी उस समय भी अन्दर से तो सचमुच गदा ही है।' इस तरह का देह का अशुचि भाव समय समय पर सोचने जैसा है, इससे शरीर का मोह, विभूषा का मोह, स्त्री शरीर का राग . इत्यादि मंद पड़ते जायें।

(६) संसार भावना : 'इस ससार मे जीव एक भव मे माता होकर दूसरे भव मे पुत्री बनती है, बहन हो जाती है या पत्नी भी बनती है। तब एक समय पुत्र होकर दूसरे भव मे पिता, भाई या शत्रु भी बन जाता है। इस तरह किसे किस एक निश्चित रूप के कुटुम्बी के रूप मे लिये फिरे? और बेकार ममता करें? बेकार ममता करके पाप बढ़ाना? दुर्ध्यान करना? या देव गुरु धर्म भूलना?' इस भावना का फल यह है कि स्वजन ममत्व छूट जाता है और स्वजनो के खातिर देव गुरु व धर्म भूला नही जाय।

(७ आश्रव भावना : जो बिचारा मिथ्यादृष्टि है, सर्वज्ञ वचन की श्रद्धा रहित है, अविरत है, विरति याने प्रतिज्ञा-बद्ध हिसादि पाप के त्याग वाला नही है, विषयासक्ति, निद्रा, विकथादि प्रमाद वाला है और जिसे कषाय तथा त्रिदण्ड याने मन वचन काया के अशुभ योगो मे रुचि है ऐसे जीव को उतने प्रमाण मे आश्रव और कर्म लगते है। अफसोस कि आश्रव लगने से इस उच्च मानव भव मे वह कैसा सुन्दर सवर का मौका गुमाता है? कर्म लगने के बाद अहो! वह उसके कैसे दारुण विपाक को दीर्घ-काल तक भोगता है? अतः मैं आश्रव को रोकने मे प्रयत्नशील बनू। इसका फल आश्रव का डर तथा आश्रव का त्याग है।

(८) संवर भावना : 'मन वचन काया की जो वृत्ति कर्म के ग्रहण को रोकती है, वह संवर है। इसमे चित्त की सुन्दर

समाधि तथा वचन-काययोग की स्वस्थता रहती है। यह भाव कल्याणस्वरूप है, क्योंकि अन्त में सूक्ष्म काय योग की वृत्ति उत्पन्न होकर शैलेशीकरण की साधना करवा कर सर्व संवर याने सर्वथा कर्मबंध रहित अवस्था ला देता है।' श्रेष्ठ संवरदान करने वाले अनन्त अरिहन्त प्रभु ने यह फरमाया है। इस भावना में संवर की अनुमोदना तथा उसका आचरण आता है।

(९) **निर्जरा भावना** 'जैसे शरीर में संगृहित आम पित्तादि दोष का प्रयत्नपूर्वक विशेष शोषण किया जाय तो वह पच जाता है, जर्जरित होकर नष्ट हो जाता है, इसी तरह आत्मा पर संगृहित कर्मों को उपरोक्त संवर मार्ग भी तप सहित बनने से निर्जरा कर डालता है, क्षीण कर देता है ।' इस भावना से निर्जरा की तमन्ना जाग उठती है।

(१०) **लोक भावना** : लोक याने १४ राजलोक केऊर्ध्व, अधो तथा तिच्छालोक के विस्तार का चिंतन करना चाहिये। उसकी प्रमाण आकृति आदि तथा उसमे कहा कहा क्या क्या आया हुआ है तथा वहा सर्वत्र प्रत्येक स्थान पर हुए अनन्त जन्म मरण और उनमे हुई आत्मा की दुर्दशा आदि का चिंतन करना चाहिये। साथ में लोक मे रहे हुए अनेकविध रूपी पुद्गल द्रव्य और उनके अब तक के हुए तथा होने वाले उपयोगो का चिंतन करना चाहिये। इससे वैराग्य तथा समाधि की प्राप्ति होती है।

(११) **धर्म स्वाख्यात भावना** : 'अहो ! राग-द्वेषादि आंतर शत्रुओ को जीतने वाले श्री जिनेश्वर भगवन्तो ने कैसा अनन्य सुन्दर श्रुत धर्म व चारित्र धर्म बताया है। विश्व मे उसकी तुलना मे कोई नही है। उसके समान कोई सुन्दर कार्य नही है। जो इस धर्म मे रक्त रहे वे संसार-समुद्र को सरलता से तैर गये।' इस भावना से धर्म ऋद्धि बढती है।

(१२) बोधि दुर्लभ भावना : इस जगत में मनुष्य भव। उसमे भी १५ कर्म भूमियो मे तथा उसमे भी अनार्य देश या नीच कुल मे न होकर आर्य देश में जन्म। तथा उत्तम आर्य कुल में जन्म। तथा साथ मे अखण्ड पाचो इन्द्रिय, आरोग्य। उपरात दीर्घ आयुष्य। सभी उत्तरोत्तर एक एक से अधिक दुर्लभ है। इनकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। अरे! ये मिल भी जाय तब भी इसमें अच्छे कुल सस्कार तथा सत-समागम की रुचि प्राप्त होना अति कठिन है और उसके मिल जाने पर भी उनके पास शुद्ध धर्म तत्त्व का श्रवण प्राप्त करना कठिन है। अरे! यह सब होने पर भी बोधि याने जैन धर्म की प्राप्ति होना, उसका हृदय मे स्पर्श होना अत्यन्त महगी वस्तु है। इसके बिना तो आत्मा का उद्धार है ही नहीं। तब १४ राज-लोक मे कर्मवश और मोहमूढ बने जीवों की दशा देख कर, ऐसी सुदुर्लभ बोधि यहां अति सुलभ होने के सयोग मिलने पर भी, मैं उसे क्यो नही अपना लेता? इससे तो भवान्तर मे वह कितनी सुदुर्लभ बन जावेगी?

ध्यान धारा के टूटने पर तुरन्त ही इन १२ भावनाओ मे चित्त को लगा देना चाहिये।

१२ भावनाओं से लाभ

प्रश्न— १२ भावनाओ से क्या लाभ है?

उत्तर—इससे एक लाभ तो यह कि जगत के सचित्त अचित्त मिश्र पदार्थो पर से आसक्ति ममता व राग टूटता है, अनासक्त दशा आती है और दूसरे लाभ में भवनिर्वेद होता है व बढता जाता है। उदा० (१) 'अनित्य' भावना से 'सचित्त' याने पत्नी, पुत्र आदि चेतन पदार्थ, 'अचित्त' याने पैसा माल मिलकत आदि, तथा 'मिश्र' याने अलंकार सहित स्त्री आदि सभी अनित्य हैं, उठ कर

चले जाने वाले है, इत्यादि भावना बराबर करने से स्वाभाविक ही उन पर की आसक्ति मिटती है। (२) 'अन्यत्व भावना' मे अपनी खुद की काया ही अन्य व भिन्न लगने से उस पर से आसक्ति उठ जाती है। इसी तरह बारही भावना से विश्व के समस्त चराचर पदार्थ का पक्षपात याने आसक्ति टूट जाती है, टूटती जाती है। ससार ऐसे सब अनित्य पदार्थों से ही भरा होने से उस पर नफरत होती है, अरुच तथा व्याकुलता होती है। जैसे जैसे आसक्ति हटती जाती है, वैसे वैसे ससार तथा उसके औदयिक भावो पर अलिप्तता बढती जा कर मुनिधम ध्यान से च्युत होते ही यह लाभ करवाने वाली १२ भावनाओ मे अपने मन को पिरोदे तो अनभि· ष्वंग, भवनिर्वेद तथा अनासक्ति बढ कर पुन एकाग्रता बढ जाने से धर्मध्यान आ जाता है।

प्रश्न— धर्म ध्यान के हटते ही तुरन्त अन्य कुछ मन मे न आ कर ये भावना ही किस तरह आ जाय ?

उत्तर—जिसने पहले धर्मध्यान से अन्त.करण को अच्छी तरह से भावित कर दिया हो उसे इस धर्मध्यान के आज्ञा, अपाय, विपाक व संस्थान विषयो की रमणता ही ऐसी हो जाती है कि उस पर के ध्यानात्मक स्थिर चितन को खोने पर उसी मे के विषयो पर भावनात्मक विचारधारा चलने लगती है। १२ भावना के विषय धर्मध्यान विषय मे समा जाते है; अतः ध्यानभग होने पर मन स्वत उसमे जाता है। मात्र बार बार के चारो प्रकार के धर्मध्यान से चित्त को, दिल को हृदय को भावित कर देना चाहिये। चित्त इसी से पूर्ण रग जाना चाहिये। यह अनुप्रेक्षाद्वार का विचार हुआ।

लेश्या

अब लेश्या द्वार का विचार करते हैं:—

होंति कमविसुद्धाओ लेसाओ पीय-पम्ह-सुक्काओ ।
धम्मज्झाणोवगयस्स तिव्व - मंदाइ - भेयाओ । ६६॥

अर्थ:—धर्मध्यान मे रहे हुए को तीव्र, मन्द तथा मध्यम प्रकार की पीत पद्म व शुक्ल लेश्या होती है। वे क्रमशः अधिकाधिक विशुद्धि वाली होती जाती हैं।

विवेचन :

धर्मध्यान मे रहे हुए को कृष्णादि छ लेश्या में से ऊपर की की पीत पद्म व शुक्ल तीन लेश्या होती है। धर्मध्यान शुभ ध्यान होने से स्वतः ही इसमे चित्त निर्मल होता है जिससे कृष्ण नील कापोत नामक तीनों निम्न व अशुभ लेश्या का अवकाश नहीं होता। पर उपर की पीत पद्म शुक्ल नामक शुभ लेश्या को ही अवकाश रहता है। ये लेश्याए क्रमशः अधिक विशुद्धि वाली है। अर्थात् पीत लेश्या से पद्म लेश्या अधिक विशुद्ध और उससे भी शुक्ल लेश्या अधिक विशुद्ध होती है। ऊसमे अन्त्य लेश्या तीव्र, आद्य मन्द, और मध्यम लेश्या मध्यम प्रकार की होती है। ये प्रत्येक लेश्या भी एक ही मात्रा की नही होती, परन्तु चढती उतरती मात्रा वाली होती है। किसी को पीत लेश्या मन्द मात्रा मे होती है, तो किसी को मध्यम या किसी को तीव्र मात्रा मे होती है। एक जीव मे भी लेश्या मन्द मात्रा से शुरू होकर बढते बढते मध्यम और तीव्र मात्रा मे पहुँच जाती है, ऐसा भी होता है। धर्मध्यान मात्र आज्ञा, अपाय आदि का सुका चिंतन नही है पर भाव से आर्द्र चितन है; इससे शुभ लेश्या को यहां अवकाश है। इस लेश्या की मात्रा तीव्र मन्द आदि कही है इससे उसमे सामान्य रूप से जीव के तीव्र मन्दादि शुभ परिणामविशेष याने अध्यवसाय

आगम-उवएसाऽऽणा-णिसग्गओ जं जिणप्पणीयाणं ।
भावाणं सद्दहणं, धम्मज्झाणस्स तं लिंगं ।६७।।

अर्थ.—श्री जिनेश्वर भगवन्त कथित (द्रव्यादि पदार्थ) की आगम सूत्र, तदनुसारी कथन, सूत्रोक्त पदार्थ या स्वभाव से श्रद्धा करना यह धर्मध्यान का ज्ञापक चिह्न है ।

विशेष भी लिये जा सकते है कि जो लेश्या के पीछे काम करते हैं । यह लेश्या द्वार हुआ ।

धर्मध्यान के ज्ञापक चिह्न (लिंग)

अब लिंग द्वार का वर्णन करते है:—

विवेचन :

प्रथम लिंग श्रद्धा

जीव धर्मध्यान मे प्रवृत्त है, उसका प्रथम ज्ञापक चिन्ह यह है कि उसमें वीतराग सर्वज्ञ श्री तीर्थंकर भगवन्तो के द्वारा प्ररूपित धर्मास्तिकायादि छ. द्रव्यों और उसके गुण-पर्यायो की श्रद्धा हो । यह श्रद्धा आगम, उपदेश, आज्ञा या निसर्ग से खडी होती है । 'आगम'=सूत्र, 'उपदेश'=सूत्रानुसारी देशना,'आज्ञा'=सूत्रोक्तपदार्थ,'निसर्ग'=स्वभाव

१. **आगम** : याने जिनोक्त सूत्र पढे तब उसमे कथित जिनोक्त द्रव्यादि पदार्थो की श्रद्धा हो । यह आगम से श्रद्धा हुई कहलाती है । गोविन्दाचार्य हरिभद्रसूरि आदि को जिनागम पढ़ते पढ़ते श्रद्धा हुई ।

२. **उपदेश** : कइयों को जिनागम-अनुसारी उपदेश-देशना व्याख्यान सुन कर जिनोक्त तत्त्व की श्रद्धा होती है । मूल आगम, जिनागम तो कम लोगो को ही मिलता है, पर आचार्यादि का आगमानुसारी उपदेश सुनने का तो बहुत सो को मिल जाता है । वे इससे तत्त्व श्रद्धा वाले होते है ।

जिणसाहू गुणकित्तण पसंसणा-विणयदाण संपण्णो ।
सुअ-सील-संजमरओ धम्मज्झाणी मुणेयव्वो ॥६८॥

अर्थ.—जिनेन्द्र तीर्थङ्कर देव तथा मुनियो के (निरतिचार सम्यग् दर्शन आदि) गुणो का कथन, भक्ति पूर्वक स्तुति, विनय, उन्हे (आहारादि का) दान,-इनसे सपन्न और जिनागम, व्रत, सयम (अहिसादि) मे भाव से रक्त धर्मध्यानी होता है यह जानें ।

---

३. आज्ञा : जिनागम से जो 'आज्ञप्यन्ते' याने आज्ञा फरमाई जाती हैं वे जीवादि पदार्थ यही आज्ञा। इनसे श्रद्धा होती है अर्थात् (१) इन पदार्थों की वास्तविक व्यवस्था देख कर ही श्रद्धा हो जाती है अथवा (२) जगत के पदार्थों का व्यवस्थित विचार करते करते मिथ्यात्व कर्म का ऐसा क्षयोपशम हो जाए कि जिससे बराबर जिनोक्त तत्त्व की श्रद्धा हो जाती है। वल्कलचीरी को तापस-अवस्था मे वर्तनो की प्रमार्जना करते करते जिनोक्त सयम-मार्ग के पात्र आदि के पडिलेहन आदि की श्रद्धा हो गई। उसमे भावना पर चढते हुए पराकाष्ठा पर पहुंच गये जिससे केवलज्ञान हो गया ।

४. निसर्ग याने स्वभाव : स्वाभाविक रूप से मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के टूटते जाने से उसका क्षयोपशम हो जाय और जिनोक्त तत्त्व की श्रद्धा प्रकट हो, यह निसर्ग से सम्यग् दर्शन हुआ कहा जाता है। किसी जीव विशेप को वैसे निर्मल भावोल्लास से भाव की विशुद्धि बढने से ऐसा होता है ।

उपरोक्त चारों मे से किसी भी कारण से जिनोक्त तत्त्वों की श्रद्धा की जाती हो तो वह धर्मध्यान का लिग हैं। विद्वत्ता कितनी ही हो, नौ पूर्व तक का ज्ञान हो, किन्तु यदि यह श्रद्धा ही नही, तो विपाक, सस्थान आदि के विचार चाहे कितने ही बाल दिखावे, तव

भी वहा धर्मध्यान नहीं होगा। वस्तुतः पहले मूल में श्रद्धा होनी चाहिये। वह हो तभी समझा जायगा कि वहा धर्मध्यान है।

धर्मध्यान के दूसरे चिह्न

विवेचन :

जिसके चित्त मे धर्मध्यान प्रवर्तित हो, वह इन दूसरे चिह्नों से भी जाना जा सकता है। (१) पहला चिन्ह तो ऊपर कहा वैसे जिनोक्त भावो की श्रद्धा है। (२) धर्मध्यानी जिनेश्वर भगवान और निर्ग्रन्थ मुनियो के गुणों का कीर्तन प्रशंसा करता हो। इनमे (i) गुणो का नाम आदि ले कर कथन विवेचन करना वह कीर्तन; उदा० भगवान के ३४ अतिशय ऐसे ऐसे होते हैं। यह गिनाना कीर्तन है। और (ii) श्लाघ्य के रूप मे भक्तिपूर्वक स्तुति करनी प्रशंसा है। दिल मे उनकी ओर भक्ति उभर जाय और बोला जाय 'अहो! प्रभु का कैसा निरतिचार सम्यग् दर्शन, सम्यक् चारित्र! कैसे उपसर्ग सहे! साधु महाराज की कैसी सम्यक् श्रद्धा और उसके साथ तप संयम की साधना!' इस तरह कीर्तन प्रशंसा करता हो।

(३) इसी तरह (i) विचरते हुए जिनेन्द्र भगवान को आहारादि भावपूर्वक दान करे। (ii) स्थापना जिन की स्वशक्ति के लायक उत्तम द्रव्य से भक्ति पूजा करता हो। (iii) साधु साध्वी को आहार, वस्त्र, पात्र, मुकाम आदि का दान करता हो।

(४) देवगुरु का विनय करे। (i) भगवान पधारें तो सामने जाय, (ii) भगवान के पास जाते वक्त सचित्त (स्व उपभोग मे लेने के खान पानादि) द्रव्य का त्याग करके जाय तथा (iii) अचित्त (प्रभु की पूजा मे रखने योग्य पुष्प फलादि) लेकर जाय। (iv) उत्तरासंग ओढ़ कर जाय; (v) प्रभु को देखकर वहीं से अंजलि जोड कर सिर नंवा कर 'नमो जिणाणं' बोले (vi) देवदर्शनादि में

मन वचन काया से एकाग्र बने, इत्यादि प्रभु का विनय करता हो। इसी तरह मुनि महाराज का विनय करे। उनके आने पर खडा होना, जाने पर साथ मे कुछ दूर पहुँचाने जाना, उनको आसन देना, उनको सुखशाता पूछना, उनके वचन को 'तहत्ति तथास्तु' कह कर स्वीकारना आदि साधु विनय करता हो।

(५) इसी तरह श्रुतशील संयम से सम्पन्न हो। 'श्रुत' याने सामायिक सूत्र से लेकर १४वें पूर्व 'विन्दुसार' तक के आगम। 'शील' याने व्रत नियमादि चित्त-समाधि के साधन। (व्रत नियम समधि सदाचार का मन प बोझ न हा तो निरंकुश मन इष्ट विषयो की प्राप्ति न होने से या कम होने से असतुष्ट, अस्वस्थ रहता है तथा कषायो की छूट होने से भी अस्वस्थ असमाहित रहते है; अतः शील जरूरी है।) वैसे ही 'सयम' याने जीवहिंसादि पापो का त्याग। इन श्रुतशील सयम मे भाव से रक्त हो।

उपरोक्त चिन्ह जहा दृष्टिगोचर हो, वह व्यक्ति धर्मध्यान से प्रवर्तित होता है, ऐसा समझा जा सकता है। अन्तर मे धर्मध्यान बिना वह जिन-मुनि-गुणप्रशसा आदि करने का नही होता। इस पर से समझ मे आ सकता है कि जो इस प्रशंसादि के बदले निंदा आदि हो या मोह वश भक्त आदि की प्रशसा या सन्मान आदि चलता हो, तो वहा आर्त्तध्यान चलता है ऐसा माना जायगा। इसी तरह ये श्रद्धा गुणकीर्तन आदि चिन्हो मे प्रवृत्त ज्यादा हो, तो धर्मध्यान सरल हो जाता है।

प्रश्न— धर्मध्यान के स्वामी (अधिकारी) तो पहले अप्रमत्त मुनि आदि को कहा। तो धर्मध्यान उन्हें होता है। फिर यहा जो निसग श्रद्धा, देवगुरु-विनय आदि लिंग कहे, वे तो समकिती और देशविरति श्रावक तथा प्रमत्त मुनि को भी होते है। तो क्या उन्हे धर्मध्यान हो सकता है ?

अह खंति मद्दवऽज्जव मुत्तीओ जिणमयप्पहाणाओ ।
आलंबणाइं जेहिं सुक्कज्झाणं समारुहई ॥६९॥

अर्थ:—अब (आसन द्वार के बाद) जिन मत मे मुख्य क्षमा मृदुता ऋजुता निर्लोभता ने आलम्बन है। इससे शुक्ल ध्यान पर चढते है।

उत्तर—श्रुत-शील-सयम-रक्तता तक के सम्पूर्ण लिग तो अप्रमत्त मुनि को होते है। इस हिसाब से नीचे के गुणस्थानक वालो को धर्मध्यान मुख्यत. नही हो सकता। तव भी उपरोक्त श्रद्धादि अमुक लिगो के अनुसार प्रमत्त मुनि को भी धर्मध्यान गौण रूप से आ सकता है। इससे नीचे के समकिती श्रावक को अविरति होने से आर्त्तध्यान मे उसका ज्यादा खिचाव रहता है। अत: उन्हे आर्त्त की अपेक्षा धर्मध्यान वहुत ही अल्प जैसा होता है। यह लिग द्वार हुआ।

अव 'फल' कहने का समय आया। पर लाघव के हेतु से (थोड़ा लिखना पडे इसलिए) शुक्ल ध्यान के फल के अधिकार के वक्त ही वह भी कहेगे। इसके अलावा वाकी धर्मध्यान का विचार यहां पूर्ण हुआ।

४. शुक्ल ध्यान

अव शुक्ल ध्यान का वर्णन करने का समय है। शुक्ल शब्द की व्युत्पत्ति प्रारम्भ में कही है। शोक को नष्ट करे वह शुक्ल। इस शुक्ल ध्यान मे भी 'साधना' से लेकर 'फल' तक के १२ द्वारो से वर्णन किया गया है, विचार किया गया है। इनमे से भावना, देश, काल तथा आसन द्वारो मे धर्मध्यान से कोई फर्क नही है। अत: यहां उनका पुन: विचार नही किया जाता। उनको छोड़ कर यहा आलम्वन द्वार कहते हैं:—

शुक्ल ध्यान के आलम्बन

विवेचन :

आलम्बन द्वार का विचार करते हुए शुक्ल ध्यान के आलंवन-रूप, क्षमा, मृदुता, ऋजुता व मुक्ति है।

क्षमादि का स्वरूप

ये क्षमादि क्रोध, मान, माया, लोभ के त्याग रूप समझने के है। अर्थात् क्रोध-त्याग क्षमा है, मान-त्याग ही मृदुता है, माया-त्याग ही ऋजुता और लोभत्याग ही मुक्ति है। इसमे क्रोध आदि का त्याग दो तरह से है:—(१) उदय मे आने को तैयार क्रोध आदि मोहनीय कर्म के उदय का निरोध याने रोकना, तथा (२) उदीरणा किये गये क्रोधादि को निष्फल बनाना।

(१) क्रोधादि के उदय का निरोध (रोक) इस तरह है : उदा० अपने को किसी की तरफ से प्रतिकूल अनिष्ट होने का पता चले, जैसे खंधक मुनि को आ कर चाडालो ने कहा कि 'हमारे राजा के हुकम से हमे तुम्हारी चमडी उतारना है।' ऐसा सुनने मे क्रोध कषाय के दय मे आने की तैयारी गिनी जायगी। उसी समय उस उदय को शुभ विचारो से रोकने का प्रयत्न कर के उसे रोका जाय। यह उदयनिरोध किया कहा जावेगा। शुभ विचारणा कैसे करना वह आगे बताया जायगा।

(२) उदीरणाकृत क्रोधादि को इस तरह निष्फल करे। सामने वाले ने हमारे प्रति कोई प्रतिकूल वर्ताव किया, हमारा अनिष्ट किया-या नापसन्द बात की, तो तुरन्त ही दिल मे क्रोध भडक उठता है। यह क्रोध की उदीरणा अथवा उदय कहा जावेगा। अब इसे निष्फल करना याने क्रोधोदय के उपर उसका फल नही बैठने दें। उदा० अन्तर मे क्रोध भड़क उठने पर 'क्रोध से भरे हुए लंबे तर्क या लम्बी

विचारधारा चले, [२]बाहर आखें लाल हो, या [३]आखें ऊची चढ जाय, [४]मुह विगडे [५]मुंह आवेश वाला हो [६]होठ कापने लगें, [७]चाहे जैसे ककग शब्द या गाली बोले जाय, [८]मारने के लिए हाथ ऊचा किया जाय इत्यादि यह सब क्रोध का फल है। यह कुछ भी न होने दें, तो क्रोध को निष्फल बनाया कहा जा सकता है। इसके लिए भी इस तरह सोचना चाहिये।

चार कपायों के त्याग के लिए विचारधारा

१. क्रोध के उदय का निरोध तथा उदीर्ण क्रोध का निष्फलीकरण: इसके लिए इस तरह से सोचें:-

(१) 'जीव ! ध्यान रखना; यह बाहर का विगडा हैं या विगडेगा, वह तो तेरे अशुभ कर्मों के कारण; परन्तु अब क्रोध कर के तू अपनी आत्मा का परलोक मत विगाडना। वह तो तेरे हाथ मे नहीं था, यह तो तेरे हाथ मे है। (२) क्रोध करने से सामने वाले का क्रोध वढ कर आग भभक जावेगी, इससे हानि वढती है। (३) 'सव्वे जीवा कम्मवस' के अनुसार वह तो विचारा कर्मवश है याने कर्म के पराधीन है। उस पर गुस्सा क्या करना? वह तो दयापात्र है। अत उसकी करुणा करने जैसी है, उस पर गुस्सा करने जैसा नही है। क्योकि यो भी वह अयोग्य आचरण करने से कर्म का मार खायेगा। तो फिर उस पर ज्यादा जुल्म क्या करना? (४) मेरा बाहर का विगडा वह तो पर का विगड़ा, अपनी आत्मा का कुछ भी विगडा नहीं। उसका पुण्य, उसका धर्म और उनकी सत्तागत अनन्त ज्ञानादि-समृद्धि तो जो है, वह है ही। उसमे से सामने वाला कुछ भी विगाड नही सकता। तो फिर क्रोध क्यो करना? (५) क्रोध करने से महावीर प्रभु के सन्तानत्व को कलक लगता है। (६) अनमोल जिनशासन की प्राप्ति निष्फल हो जाती है।

(७' आज तक जो धर्म सेवन किया है, उसकी धर्म की समझ को हानि होती है। (८) मेरे से सौ गुनी, हजार गुनी अरे लाख गुनी आपत्तियो मे महापुरुषो ने क्रोध नही किया। महावीर प्रभु के कान मे कीलें लगाई गई, सुकोशल मुनि को सिंहनी ने फाड खाया, गज-सुकुमाल के सिर पर जलती हुई सिगडी रख दी गई, तब भी उन्होने लेशमात्र क्रोध नही किया। (९) अनन्त काल से अनेक अन्य भवो मे क्रोध को तथा क्रोध की सज्ञा को पुष्ट करता रहा हूँ तो अब इस ऊचे मानव भव मे भी पुन. उसे ही पुष्ट करुंगा तो फिर उसका शोषण करना, उसका ह्रास या कमी करना आदि किस भव मे करुगा? एवं कब करुगा? (१०) क्रोध से चडकौशिक के जीव-साधु की तरह भवो की परम्परा चलेगी वह कैसे निभाएगा? (११) क्रोध से मन तामसी बनता है, सत्त्व खो कर नि:सत्त्व बनता है, और तामस भाव का अन्य शुभ भावों पर खराब प्रभाव पडता है। साथ ही यहा सत्त्व की हानि होने पर महासुकृत के गुणस्थानक वृद्धि के तथा क्षपकश्रेणी-दायक परमसत्त्व जनित-अपूर्व करण महासमाधि के मूल स्वरूप (जड जैसे) सत्त्व पर कुठाराघात होता है। (१२) क्रोध करने से औदयिक भाव याने मोह की आज्ञा का पालन पोषण होता है, तो क्रोध को रोकने से सुन्दर क्षायोपशमिक भाव याने जिनकी आज्ञा के पालन का लाभ मिलता है। 'आदि विचार करने से, इन विचारो को अन्तर्भावित करने से क्रोध के उदय को रोका जा सकता है। (१३) 'सामने वाले ने कठोर शब्द कहा है न? गाली तो नही दी न? गाली दी, तो दूसरा तो कुछ नही बिगाडा न? बिगाड़ा भी है, तो प्रहार तो नही किया न? प्रहार किया है तो मुझे मार नही डाला न? यदि मार भी डालता है, तब भी मेरी धर्म की आतर परिणति का (या अंतर की धर्म परिणति का) तो नाश कर ही नही सकता। वह तो मैं अपने

हाथ से नष्ट करू तभी होगा। अन्य किसी की ताकत नहीं कि वह नष्ट करे। और वह सलामत है तो फिर मेरा वास्तविक कुछ भी नहीं बिगडता। तो मुझे किस लिए सामने वाले पर गुस्सा करना चाहिये ?' इस तरह सोच कर अन्दर के भभकते हुए क्रोध को निष्फल किया जा सकता है।

२. मान कषाय को रोकना : इस तरह मान कषाय को रोकने के लिए उपरोक्त बातो मे से कितने ही विचार काम आ सकते है। उन सब को यहा दोहराया नही जाता। उसके अलावा ये भी विचार किये जा सकते हैं। (१) अनन्तज्ञान, महान अवधिज्ञान या १४ पूर्व का श्रुतज्ञान तथा महागुण एव महाशक्ति धारण करने वालो ने या महासुकृत वालो ने भी अभिमान नही किया, तो मै किस बात पर अभिमान करु ? (२) अनन्त कर्मों से दबे हुए गुलाम जैसा मै किस मु ह से अभिमान करु ? (३) मैने ऐसे कौन से महासुकृत या महापरोपकार किये है ? कौन से ऐसे महान सद्गुण प्राप्त किये है ? कौन सी महा तप सयम की साधना की है ? मैंने अपनी कौन सी मनोवृत्तियो पर कौनसा विजय प्राप्त किया है ? तो फिर मुझे अभिमान करने का हक क्या है ? (४) यदि बाह्य वभव सत्तासन्मान आदि पर अभिमान होता है तो चक्रवर्ती के आगे वह किस गिनती मे है ? यदि आतरिक तप या ज्ञान पर होता है तो पूर्व पुरुषो की ज्ञान समृद्धि या तप समृद्धि के आगे वह किस गिनती मे है कि उसका अभिमान करु ? (५) राजा रावण की तरह अभिमान से अन्त मे गिरने का ही होता है, तो उससे तो मान न करने से ही शोभा और शान्ति रहती है आदि सोचकर मान मद अहकार को रोकना चाहिये। मन मे मान उठा हो, तो भी उसे सफल नही होने देना चाहिये। उस पर आखें चडाना, अभिमान के शब्द बोलना, सामने वाले का तिरस्कार करना, उसकी निदा करना,

स्वय की बड़ाई करना, मुखमुद्रा या चाल आदि गर्व भरे बने....' इत्यादि फल उत्पन्न होने नही देना चाहिये। इस तरह उदयप्राप्त मान को निष्फल किया जा सकता है।

३. माया के उदय को रोकना : इसमे भी पहले कहे गये कई विचार काम आते है। इसके अलावा भी यह सोचें – (१) माया ससार के भवो की जननी है। वह तो माता की तरह मेरे भवो को जन्म देगी। तथा मेरे दोषो का पोषण करेगी। (२) माया के सेवन मे पीछे से पछताने का कम होता है, इससे इसमे सम्यकत्व का ही नाश हो जाता हैं। (३ माया से सगे स्नेही आदि अपने ही लोगो का विश्वास व प्रेम खोने का होता है। साथ ही लोकविश्वास भी खो देता है। (४) माया के कारण स्त्रीवेद या तिर्यंचगति का उपार्जन होने से नीचे गिरना पडता है। (५) महाशक्ति सम्पन्नो ने भी आपत्ति रोकने के लिए माया नही की, उससे वचाव नही किया, तो मै क्यो माया करु ? इससे मुझे क्या वहुत वडा वचाव होने का लाभ मिलने वाला था ? (६) माया तो शराब जैसा व्यसन है, करते करते बढती जाती है। आदि सोचकर माया को और माया के फलस्वरूप वाह्य माया वाले शब्द आदि को रोका जा सकता है।

४. लोभ कषाय का त्याग : इसके लिए भी उपरोक्त कई विचार काम आ सकते है। इसके अलावा भी सोचें'– (१) लोभ, राग, ममता, तृष्णा, लालसा, आकर्षण, आसक्ति, लपटता आदि मे से किसी भी रूप मे जागता है, रहता है और वह आत्मा का शुद्ध गुण नहीकिन्तु विकार है, रोग है, उपाधि है तो मैं उसे क्यो अपनाऊ ? (२) अनन्त काल से मूल पाये में रहे हुए इसी लोभ से ही अनेकानेक दोषो का पोषण होता रहा है और उससे ससार लम्बा और लम्बा होता गया है। ऐसे को पहचान

लेने के बाद उनका सत्कार क्या? (३) 'इच्छा हु आगाससमा अणंतया,' लोभ का तो पार नहीं। लोभ का गड्ढा तो ज्यों ज्यों उसे भरते जाय, बढता जाता है (४) बाहर का लोभ करने से उनका मूल्यांकन हो कर अपनी आत्मा का मूल्यांकन कम होता है। मन को आत्मा की अपेक्षा जड का महत्त्व ज्यादा लगता है। आत्मा का महत्त्व कम गिनने से उसके हित का विचार भी गौण हो जाता है। (५) 'सर्व गुण विनाशको लोभ.', लोभ सर्व गुणों का नाशक बनता है। (६) पाप के बाप लोभ के कारण ही आरम्भ समारम्भ, शुद्ध चोरी आदि कितने ही पापाचरण होते हैं। इत्यादि सोचने से, उसकी भावना करने से लोभ के उदय को रोका जा सकता है। इसी तरह अन्तर में उदय हुए लोभ को निष्फल करने के लिए उसका लम्बा विचार ही न करें, और वाणी तथा काया एवं इन्द्रियों की लोभ तथा रागवश होने वाली प्रवृत्ति को रोका जाय।

इस तरह से क्रोध मान, माया लोभ का उदय-निरोध और निष्फलीकरण करने के रूप में उनका त्याग किया जाय यही क्षमा, मृदुता, ऋजुता व मुक्ति (निर्लोभ) है। ऐसी में ईर्ष्या, भय, असहिष्णुता, द्वेष, हर्ष, खेद आदि दोषों का त्याग करने का भी समझ लेना चाहिये। इस तरह क्षमा आदि के अभ्यास में आगे बढने से वे सिद्ध हो, तब वे शुक्लध्यान के लिए आलम्बनरूप बन जाते हैं। क्षमादि में स्थिर रहने से उनके अवलम्बन से शुक्ल-ध्यान में चढा जा सकता है, क्योंकि यह ध्यान सूक्ष्म पदार्थ के अत्यन्त स्थिर चिंतनरूप है। यदि इन क्षमादि की स्थिरता न हो अर्थात् क्रोधादि का बराबर दृढ त्याग न हो, तो क्रोधादि के उठने से वह ध्यान टिक नहीं सकता। अत. उनके सम्पूर्ण त्याग के आधार पर ही शुक्लध्यान हो सकता है।

ये क्षमादि याने क्रोधत्याग आदि कषायत्याग यह जिनमत.

तिहुयण विसयं कमसो संखिविउमणो अणुंमि छउमत्थो ।
झायइ सुनिप्पकंपो झाणं अमणो जिणो होइ ॥७०॥

अर्थ.—छद्मस्थ (असर्वज्ञ) आत्मा त्रिलोक के विषयों मे से क्रमशः (प्रत्येक वस्तु के त्याग पूर्वक) मन को संकुचित करके परमाणु पर स्थापित कर अतीव निश्चल बन करके शुक्लध्यान ध्यावे । (वह पहले दो प्रकार का होता है । अन्तिम दो प्रकार मे श्री जिन वीतराग सर्वज्ञ मन रहित होते हैं ।

जिनशासन मे मुख्य वस्तु है । क्योंकि जिनशासन कर्मक्षय के लिए ही है और कषायत्याग से ही कर्मक्षय सुलभ याने सरल बनता है । अत कर्मक्षय के सामर्थ्य की वजह क्षमादि याने कषायत्याग जिनमत मे प्रधान वस्तु है इसकी प्रधानता इसलिए कि चारित्र अकषाय रूप है और चारित्र से अवश्य मोक्ष होता है । इसलिए क्षमा आदि का आलम्बन साधन के रूप मे रखे वही शुक्लध्यान मे चढ सकता है, अन्य नही । इस तरह से शुक्लध्यान के बारे मे 'आलंबन' द्वार का विचार हुआ ।

शुक्लध्यान किस तरह ध्यावे ?

अब क्रम द्वार का समय है । इसमे शुक्लध्यान के पहले दो प्रकार मे क्रम पहले धर्मध्यान का विचार करते वक्त क्रमविचार मे बताया है । उसमे जो विशेष है वह यहा कहते हैः—

विवेचन :

छद्मस्थ जीव याने ज्ञानावरण आदि आवरण मे रहे हुए असर्वज्ञ जीव १४ पूर्व मे कहे हुए सूक्ष्म पदार्थो के चिंतन पर शुक्लध्यान मे चढ सकते है और उसके प्रथम दो प्रकारो का ध्यान

करते है। उसमें एकाग्रता इतनी ज्यादा होती है कि मन परमाणु पर स्थापित हो जाता है, परमाणु के चिन्तन में मन स्थिर हो जाता है।

प्रश्न – त्रिभुवन के विषयों में भटकता हुआ मन ऐसा एकाग्र कैसे बन सकता है?

उत्तर—ऐसे मन को त्रिभुवन के विषयों में से संकुचित कर दिया जाता है। यह संकुचित करने का कार्य क्रमशः किया जाता है अर्थात् मन एक एक विषय-वस्तु का त्याग करते करते आखिर परमाणु वस्तु पर आ कर विश्राम करता है, केन्द्रित हो जाता है।

(संकोच क्रिया की कल्पना इस प्रकार की जा सकती है। उदा० त्रिभुवन में ऊर्ध्व लोक मध्यलोक अधोलोक ये तीन लोक आते हैं। अब मन तीनों लोक के विचार में से मध्यलोक के विचार पर स्थिर किया जाए, यह इतना संकोच हुआ। इतने अंश पुरते के यह संकोच होने से मन अब ऊर्ध्व अधोलोक का विचार नहीं करता। अब केवल मध्य लोक पर केन्द्रित हुआ, स्थिर हुआ। यह स्थिरता निश्चित होने के बाद में मन उसमें से संकुचित होकर अन्य सब द्वीपसमुद्र छोड़ कर मात्र जम्बूद्वीप पर एकाग्र होता है। उसमें भी आगे बढ़ कर अन्य सब छोड़कर मेरु पर केन्द्रित होता है। उसमें भी मेरु के किसी ऊर्ध्व भाग पर, फिर उसमें भी रहे हुए अनन्त पुद्गलस्कन्धों को छोड़कर किस एक स्कंध पर मन स्थिर किया जाता है। उसमें से पुनः संकोच करके इस एक स्कंध के अनन्त अणुओं को छोड़ कर संख्यात अणुओं के किसी एक हिस्से पर तन्मय होना है। उसमें से भी संकुचित करके प्रत्येक अणु के किसी हिस्से पर, फिर उसमें से पाच पर, तीन पर और अन्त में एक परमाणु पर केन्द्रित किया जाता है। इस प्रक्रिया में आगे बढ़ते बढ़ते पहले पहले के विषय का संकोच याने त्याग हुआ, अतः बाद में उन विषयों का बिलकुल

ही ख्याल नहीं आना। जरा सा बारीक या पतला सा ख्याल भी नहीं। उदा० जब मध्य लोक पर मन केन्द्रित हुआ तो वहाँ अब यह लक्ष जरा भी नहीं कि यह लोक ऊपर नीचे के लोकों के बीच में रहा हुआ है। क्योंकि इसमें तो पुन ऊपर नीचे के लोक लक्ष में आ जाते है। ये नहीं आने चाहिये अत. उसके अल्पांश भी ख्याल रहित मात्र मध्य लोक पर ही मन केन्द्रित बनता है। आखिर एक परमाणु पर भी जब मन को स्थिर किया जाता है, तब यह ख्याल नहीं होना कि 'यह परमाणु आसपास के २-४-५ १००, सख्यात या अनन्त अणुओं के बीच में या किनारे पर रहा हुआ है।' नहीं, ये सब तो मन को सकुचित करने पर कम हो गये सो हो गये। अब तो सिर्फ किसी एक निश्चित परमाणु पर मन लग गया, चिपक गया। उसमें उसके वर्ण, रस गन्ध आदि पर्यायों में एक पर्याय से दूसरे पर्यायों पर मन जाता हो, उसे भी संकुचित कर के मात्र एक पर्याय पर मन को केन्द्रित करते है। यह तो मात्र एक कल्पना हुई ! बाकी सचमुच में जो सकोचन प्रक्रिया होती है, वह तो उसके अनुभवी जानते है।)

प्रश्न – इस तरह अणु पर मन को केन्द्रित करने का कार्य तो चौद पूर्वी महर्षि कर सकते है, तो क्या सभी चौदह पूर्वी महर्षियों को शुक्लध्यान होता है व उससे केवलज्ञान होता है ?

उत्तर—यह ध्यान अकेले चिंतन की ही वस्तु नहीं है। जहाँ पहले कहा है वैसे इसमें क्षमा आदि का आलम्बन करना होता है। उसके आलम्बन में अर्थात् आधार रख कर शुक्लध्यान में चढा जाता है। अत ज्यों ज्यों इन क्रोध लोभ आदि कषायों का त्याग अधिकाधिक प्रबल बनता जायगा, अधिकाधिक सूक्ष्म कषायों का भी त्याग होता जायगा, त्यों त्यों वह आलम्भन अधिकाधिक जोरदार किया गिना जायगा, और वह मन को शुक्लध्यान में आगे और आगे बढाने

वाला होगा। सभी चौद पूर्वियो मे यह सामर्थ्य नही होता, अतः ये सब इस तरह के शुक्लध्यान मे आगे बढ़ कर वीतराग सर्वज्ञ नहीं बन सकते। क्षमादि का ऐसा आलम्बन करने के लिए सामर्थ्ययोग की आवश्यकता होती है। इच्छायोग और शास्त्रयोग मे भी यह ज्यादा उच्च कोटि का योग है। यों तो तीर्थङ्कर भगवान स्वयं भी अपने चारित्र-साधना के काल मे कभी कभी 'भद्र प्रतिमा' महा-भद्रप्रतिमा' व 'सर्वतो भद्रप्रतिमा' नाम अभिग्रहविशेष मे रह कर सूक्ष्म ध्यान मे मन केन्द्रित करते है। परन्तु इसमे वहा केवलज्ञान प्रगट हो जाता हो, ऐसा नही होता। इसका कारण यही है कि क्षमादि का आलम्बन जितना पराकाष्ठा वाला, उच्च, व अन्तिम कोटि का चाहिये, वैसा अभी नही किया हुआ है। अभ्यास बढते बढते वह होता है, और इन क्षमा आदि का जोर बढाने के लिए तप-संयम की साधना के साथ साथ धर्मध्यान की बहुलता अरसकता रखने मे आती है। वह जब पराकाष्ठा पर पहुँचने की तैयारी होती है, तब शुक्लध्यान के पहले दो प्रकार का ध्यान खड़ा होता है और उसमे परमाणु पर संकुचित हो कर मन की स्थिरता होती है।

यह पहले दो प्रकार की बात हुई। वह छद्मस्थ को होता है। शुक्लध्यान के अन्तिम दो प्रकार जिन अरिहन्त को या केवलज्ञानी को अन्त मे ही आता है। वहा वे अ-मना याने मन रहित या मनो-योग रहित बन जाते है।

प्रश्न— केवलज्ञानी तो सर्वज्ञ होने से सब को ही प्रत्यक्ष देखते है, अत. उसने नही देखा वैसा तो कुछ होता ही नही, इससे कुछ भी चिंतन करने का बाकी नही रहता, तो मन का उपयोग न होने से वे अ-मना ही है न ? फिर 'अन्त मे' अ-मना बनने का क्यो कहा ?

उत्तर यह बात सच है कि उनका अपने लिए चिंतनशील मन नही है, किन्तु यदि कोई अनुत्तरवासी देव जैसे स्वर्ग मे बैठे बैठे

किसी तत्त्व के चिंतन में शंका जिज्ञासा होने से इन केवलज्ञानी को प्रश्न पूछते हैं। तब ये केवलज्ञानी भगवन्त इस शंका जिज्ञासा के उत्तर स्वरूप जो विचारधारा आवश्यक होती है वैसी विचार-धारा वाला मन बनाते हैं। इस के लिए मन का उपयोग है।

मन क्या है ? जैसे वाणी क्या है ? भाषा-वर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करके उस उस भाषा के रूप मे उनका परिणमन कर के छोडना याने बोलना; वैसे ही मनोवर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण कर के उनका मनरूप मे परिणमन कर के छोडना ही मन है। केवल-ज्ञानी उत्तर के रूप मे यह करते हैं, यह वह अनुत्तरवासी देव वहा बैठे बैठे अवधिज्ञान से देखते है और इस मन पर से अपना जवाब समझ जाते हैं। इस मन का यह निर्माण मनोयोग से होता है।

इस तरह केवलज्ञानी को अपने चिंतन के लिए नही, किन्तु ऐसे किसी को उत्तर देने के समय मनोयोग करना पडता है, उसमे मन होता है। किन्तु जब मोक्ष पाने के अति निकट काल मे मात्र ५ ह्रस्वाक्षर के उच्चार जितना समय बाकी हो, तब शैलेशी अवस्था आती है। इस शैलेशी की प्राप्ति होने के पहले के अन्तर्मुहूर्त काल मे शुक्लध्यान का तीसरा प्रकार अस्तित्व मे आता है। इसमें वे मनो-योग का निरोध कर के अ-मना बनते है, साथ मे वचनयोग-काय-योग का भी निरोध करते हैं तब शैलेशी अवस्था प्राप्त करते है, और इस अवस्था मे शुक्लध्यान का चौथा प्रकार 'व्युपरत क्रिया निवृत्ति' ध्यान आता है। साराश यह है कि शुक्लध्यान के अन्तिम दो प्रकारो मे से पहले प्रकार का ध्याता शैलेशी के पहले के अन्त-र्मुहूर्त मे और दूसरे प्रकार का ध्याता शैलेशी मे होता है।

मनः संकोच - मनोनाश के दृष्टांत

यहां प्रश्न होता है कि 'छद्मस्थ आत्मा त्रिभुवन मे भटकने वाले मन को संकुचित कर के अणु पर धारण करते हैं वह किस

जह मव्वसरीरगयं मंतेण विस निरुंभए डंके ।
तत्तो पुणोऽवणिज्जइ पहाणयर-मंत-जोगेणं ॥७१॥

तह तिहुयणतणुविसयं मणोविसं जोगमंतवलजुत्तो ।
परमाणुंमि निरुंभई अवणेइ तओ वि जिणविज्जो ॥७२॥

उस्सारियेंधणभरो जह परिहाइ कमसो हुयासुव्व ।
थोविंधणावसे सो, निव्वाइ तओऽवणीओ य ॥७३॥

तह विसइंधणहीणो मणोहुयासो कमेण तणुयंमि ।
विसइंधणे निरुंभइ निव्वाइ तओऽवणीओ य ॥७४॥

तोयमिय नालियाए तत्तायसभायणोदरत्थं वा ।
परिहाइ कमेण जहा, तह जोगिमणोजलं जाण ॥७५॥

अर्थ.—जिस तरह पूरे शरीर मे व्याप्त जहर मन्त्र द्वारा (संकुचित करके) डंक (दंश) प्रदेश मे लाया जाता है । (और तब) श्रेष्ठतर मन्त्र के योग से दंशस्थान से भी दूर किया जाता है, उसी तरह त्रिभुवन रूपी शरीर मे व्याप्त मन रूपी जहर को (जिनवचन के ध्यान रूपी) मन्त्र के सामर्थ्य वाला परमाणु मे ला देता है, (और फिर) जिन-केवलज्ञानी रूपी वैद्य उसमे मे भी (अचिन्त्य प्रयत्न से मनो विष को) दूर कर देता है । (गाथा ७३-) जैसे क्रमशः काष्ठ समूह दूर होने से अग्नि की लपटें कम होती जाती है और थोड़े से ईंधन पर थोड़ा सा अग्नि रह जाता है, और वह थोड़ा सा ईंधन भी दूर हो जाने पर अग्नि शांत हो जाता है, उसी तरह विषय रूपी ईंधन क्रमशः घटता जाने पर मन रूपी अग्नि थोड़ा हो विषय रूपी ईंधन पर संकुचित हो जाता है और उस थोड़े से विषय ईंधन से भी हटा लेने पर शांत हो जाता है । (गाथा ७४-) जैसे कच्चे मिट्टी के

घड़े मे या तप्त लोहे के बर्तन मे रहा पानी धीरे धीरे कम होता है, उसी तरह योगी के मन रूपी जल को जानो। (वह भी अप्रमाद-रूपी अग्नि से तप्त जीव रूपी बर्तन में रहा होने से घटता जाता है।)

तरह से, किस दृष्टांत से ? ऐसे ही केवली भगवान अब मन को हटा देते है, दूर कर देते है यह किस तरह ?'

इनका उत्तर देते है –

विवेचन :

मन को संकुचित करके अणु पर लाकर फिर सर्वथा हटा देने के तीन दृष्टांत बताये हैं: – (१) शरीर मे व्याप्त जहर (२) ईंधन पर का अग्नि तथा (३) कच्चे घड़े या गरम तप्त लोहे के बर्तन मे रहा हुआ पानी।

१ **विष-संकोच का दृष्टांत** :– किसी सर्पदंश आदि का जहर पूरे शरीर मे व्याप्त हो गया हो, परन्तु वहा कोई मन्त्रवेत्ता मन्त्र प्रयोग करता है, तो मन्त्र पढते पढते क्रमश. विष को देह के अंगों मे से संकुचित करते करते बिलकुल दंश के हिस्से पर ले आता है। फिर श्रेष्ठतर मन्त्र प्रयोग से उस दंश भाग मे से भी उसे दूर कर देता है, तब शरीर बिलकुल निर्विष व स्वस्थ बन जाता है। (किसी अन्य जगह गाथा मे 'मंत जोगेहिं' पाठ है। वहां श्रेष्ठतर मन्त्र और योग दो विषनाशक पदार्थ समझना। उसमे भी योग याने उस प्रकार की विशिष्ट औषधि का प्रयोग।) यह दृष्टात हुआ।

इसका उपनय इस प्रकार से है कि यहा मन संसार के अनेक मृत्युओ का कारण होने से जहर समान है। वह मन पूरे त्रिभुवन रूपी शरीर मे व्याप्त हो जाता है। अर्थात् त्रिभुवन को अपना (चिंतन का) विषय करता है। परन्तु क्रमश जहर उतारने वाले मन्त्रवेत्ता

की तरह जिनवचन के ध्यान रूपी मन्त्र के सामर्थ्य वाले छद्मस्थ उस मन को त्रिभुवन में से क्रमशः संकुचित करते करते सीधे सिर्फ एक परमाणु पर ला कर स्थिर कर के फिर उस परमाणु पर भी नहीं रहने देते। किन्तु वहां से भी दूर कर देते हैं, यह युक्तियुक्त है। जिन-केवलज्ञानी रूप श्रेष्ठ वैद्य फिर अचिन्त्य शैलेशीकरण के प्रयत्न से तीनों योगों को नष्ट कर देते है, यह भी युक्तियुक्त हैं।

२. अग्नि संकोच का दृष्टांत : इसी तरह जैसे बहुत सी लकड़ियों से बहुत बड़ी सी आग जल रही हो, उसमें से यदि लकड़े क्रमशः खींच लिये जाय, तो अग्नि कम होते होते अन्त में अल्प लकड़ियें रहने से अग्नि उतने में ही केन्द्रित हो जावेगा। फिर इतनी लकड़ियें भी खींच ली जावें, तो अग्नि बिलकुल खतम हो जावेगा।

इसी तरह मन भी दुःख-दाह का कारण होने से अग्नि जैसा है। वह त्रिभुवन के विषय रूपी लकड़ियों पर अत्यंत प्रज्वलित हो कर दिल में महा दाह पैदा करता है। मन जितना ज्यादा विषयों में मिलता हैं, मिश्रित होता है, उतने ही राग, द्वेष या चिंता ज्यादा भभकते है। इससे जीव को खूब जलना पड़ता है। अब शुक्लध्यानी इन विषयों में संकोच करता हैं और संकोच करते करते एक परमाणु रूप विषयइंधण पर्यन्त आ जाता है; अतः स्वाभाविक ही इतने पर ही मन स्थिर हो जायगा। फिर तो शैलेशीकरण के अचिन्त्य प्रयत्न से उस पर से भी मन को हटा लेने से वह मन रूप अग्नि विषय-रहित होने से शान्त हो जाय यह स्वाभाविक है।

३. पानी के ह्रास का दृष्टांत : जैसे कच्चे घड़े में पानी भरा हुआ हो, तो वह धीरे धीरे बाहर जमता जा कर (निकलता जाने से) क्रमशः कम होता जाता है। अथवा अग्नि से गरम किये हुए लोहे के बर्तन में से पानी का क्रमशः ह्रास होता

एवं चिय वयजोगं निरुंभइ कमेण कायजोगंपि ।
तो सेलेसीव्व थिरो सेलेसी केवली होइ ॥७६॥

अर्थ —इन विष आदि दृष्टांतो मे वाग्योग का निरोध करता है तथा क्रमश काय योग का भो (निरोध करता है ।) तब केवलज्ञानी मेरु की तरह स्थिर शैलेशी बन जाता है ।

जाता है; इसी तरह (अप्रमाद और ध्यान से कच्चे बने हुए संसारी जीव मे से मन रूपो पानी क्रमश कम होता जाता है अथवा) अप्रमाद रूपो अग्नि से तप्त हो गये जीव रूपी बर्तन मे से मन रूपी पानी क्रमश कम होता जाता है। अर्थात् बहुत से विषयो का विचार करने वाला मन, विषयो के सकुचित होने से अल्प विषय के विचारो वाला बनता है। यहा मन को पानी की उपमा इसलिए दी गई कि योगियो का मन पानी की तरह अविकल है अर्थात् द्रवणशील (पिघले हुए बर्फ की तरह) बहने लायक होता हैं।

इन दृष्टातो से 'मन को अन्त मे जिनवैद्य बिलकुल दूर कर देता हैं।' ऐसा कहा हे। इससे सूचित किया कि केवलज्ञानी महर्षि अन्त मे मनोयोग का निरोध करते हैं।

वचनयोग काययोग का निरोध

अब बाकी के योगो के निरोध करने की विधि बनाते हैं—

विवेचन :

पूर्व मे बताये हुए विष आदि दृष्टातो से जिस तरह मनोयोग का निरोध किया गया, इसी तरह वचनयोग का निरोध करते है और क्रमशः काययोग का भी निरोध करते है। इस तरह सम्पूर्ण तीनो योगो का निरोध हो जाता है तब वह केवली भगवान मेरु (शैलेश) की तरह स्थिर आत्मप्रदेश वाला शैलेशो बन जाता है।

ये 'योगनिरोध' पदार्थ श्री नमस्कार सूत्र की नियुक्ति में कहा हुआ ही है। तब भी यहां का प्रसग उसके वर्णन बिना खाली न रखने के लिए सका यहा थोडा वर्णन किया जाता है कि 'योग-निरोध' क्या है ?

इसमे तीनो योगो का स्वरूप यह है :

१. काययोग याने क्या ?

औदारिक आदि काया वाले जीव की वैसी वीर्य परिणति, वीर्य-परिणाम काययोग है। अर्थात् ससारी जीवो के शरीर के सहारे आत्मा मे जो वीर्य गुण स्फुरायमान होता है, उसका नाम काययोग है।

वीर्य यह आत्मपरिणाम क्यों ?

आत्मा मे ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि गुण आगन्तुक याने बाहर मे नये आ कर रहने वाले नहीं होते। किन्तु वे आत्मस्वभाव-भूत होते है। इससे ये गुण आत्मा से भिन्नाभिन्न होते है। याने कथचित् भिन्न, कथचित् अभिन्न। इसमे 'कथचित्' याने अमुक अपेक्षा से अभिन्न भी होने से वे ज्ञान-वीर्यादि गुण आत्मा स्वरूप ही है। जैसे तेल की छोटी बडी धार होती है, वह तेल से बिलकुल अलग कोई चीज नहीं है, किन्तु तेलस्वरूप ही है। तेल का ही एक परिणाम (परिणति) है, इसी तरह ज्ञान वीर्यादि गुण स्फुरें(प्रगट हो) वे भी वैसे वैसे आत्मपरिणाम या आत्मपरिणति है, याने उन उन ज्ञान वीर्य आदि मे परिणत बनने वाला आत्मा ही है।

वीर्य परिणाम से कैसे कैसे कार्य ?

आत्मा मे अपने स्वभाव भूत ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि अनेक गुण जैसे जैसे स्फुरित होते हैं, वैसे वैसे वह आत्मा का ही ऐसा ऐसा ज्ञानपरिणाम, दर्शनपरिणाम, वीर्यपरिणाम आदि अनेक आत्म-

परिणाम बनता जाता है। इसमे वीर्य परिणाम कोई हल चल करने, कोई आहार श्वास भापा मन लेश्या ग्रा द कई पुद्गल ग्रहण करने के लिए होता है। यह वीर्य परिणाम (वीर्य-प्रयत्न, परिश्रम) आत्मा की अपनो औदारिक आदि काया के सहारे होता है, काया के सहारे बिना नही। इसीलिए तो मोक्ष प्राप्त जीवो मे वीर्य गुण होने पर भी काया नही होने से हलन चलन या आहार कर्म आदि के पुद्गल ग्रहण करने आदि का कोई वीर्य परिणाम याने प्रयत्न नही होता। जब कि ससारी जीव को काया है। तभी उसके सहारे वैसे प्रयोजन से वीर्य गुण का स्फुरण होता है।

औदारिकादि ३ काया-

ससारी जीवो मे मनुष्य और तिर्यंच (एकेन्द्रिय से ले कर पचेन्द्रिय तक के जोवो के-ग्रोदारिक पुद्गल की बनी हुई याने औदारिक काया होती है। (२) देव नारको को वैक्रिय पुद्गलो की बनी हुई वैक्रिय काया होती है और (३) चौद 'पूर्व' शास्त्र के ज्ञान वाले महर्पि जब अपने पास की आहारक लब्धि से तीर्थङ्कर देव की समवसरण आदि ऋद्धि देखने के लिए या उनको प्रश्ने पूछने जाने के लिए आहारक पुद्गलो की काया बनाते हैं तब वह आहारक काया होती है।

काया आत्मगुण है, कायगुण नहीं

इन औदारिक-वैक्रिय-आहारक काया के सहारे हलन चलन या भापा आदि पुद्गल ग्रहण करने का प्रयत्न हो, याने आत्मवीर्य स्फुरायमान हो, उसे 'काय योग' कहते है। इससे काया मे प्रवृत्ति, व्यापार या क्रिया होती है इतना ही, पर उसमे मुख्य कारणस्वरूप तो काया की मदद से आत्मा मे स्फुरन होने वाला वीर्य ही है। यदि आत्मा काया को छोड़ जाय, तो फिर उस काया मे ऐसी कोई

प्रवृत्ति नही होती। अत योग मे मुख्य क्रिया नही किन्तु तदर्थं स्फुरित होने वाला आत्मवीर्य है अतः काययोग आदि आत्मा का ही गुणधर्म है। यह अलबत्ता औपाधिक है परन्तु इसमे आत्म-परिणाम हा विशेष है। इसीलिए यह काययोग आदि इ। 'आत्मा एक स्वतन्त्र वस्तु' होने का सबूत है। कारण यह कि भौतिककाया मे यह योग दिखाई नही देता। साराश यह कि औदारिक आदि काया के सहारे स्फुरित होने वाला वीर्य तथा वीर्य का आत्मपरिणाम ही काययोग कहलाता है।

(२) वचन योग याने क्या ?

अव इस काय योग से एक कार्य मानो भाषावर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करने का हुआ, तो इन भाषा द्रव्य के गृहीत पुद्गलो को वचन रूप मे परिणमित करके बाहर छोड़ना याने बोलना होता है। इस काय का प्रयत्न याने वीर्य-परिणाम ही वचन योग है। अर्थात् औदारिकादि काय-व्यापार से याने काययोग से गृहीत वचनद्रव्य-वाग्द्रव्य-समूह की मदद से होने वाला आत्मा का वीर्य-परिणाम ही वचनयोग है। अर्थात् काययोग की मदद मे गृहीत भाषा-पुद्गलो को भाषा के रूप मे परिणमन करके बाहर छोडने का याने बोलने का कार्य करने वाला आत्मपरिणाम ही वचनयोग है। यह कार्य भाषाद्रव्य के सहारे से स्फुरित होने वाला वीर्य करता है अत: वह वीर्यात्मक आत्मपरिणाम ही वचनयोग है।

(३) मनोयोग याने क्या ?

इस पर से यह समझा जा सकता है कि कुछ विचार करने के लिए पहले तो औदारिकादि काययोग से भाषावर्गणा की तरह मनो वर्गणा के पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं। फिर इस मनोद्रव्य के सहारे जो आत्मवीर्य स्फुरित होकर उसे मन रूप मे परिणमन कर के बाहर छोडता है, वह वीर्यपरिणाम ही मनोयोग है। इस

तरह से मनोयोग नाम के वीर्य-स्फुरण से मनोद्रव्य छोड़ना याने विचार रूपी कार्य करना होता है।

वाणी विचार के बारे में न्यायदर्शन की गलत मान्यता

वचनयोग से बोलने की तरह ही मनोयोग रूपी आत्मवीर्य की स्फुरणा से सोचने का कार्य होता है। जैसे बोलने के लिए भाषा-द्रव्य तथा वचनयोग वीर्य जरूरी है, वैसे ही सोचने के लिए मनो-द्रव्य तथा मनोयोगवीर्य जरूरी है। न्यायदर्शन वाले बोलने के लिए आकाश मे शब्दगुण पैदा करने का और सोचने के लिए अणु मन का आत्मा के साथ सयोग करने का मानते हैं, वह मान्यता इससे असत् सिद्ध होती है, बिलकुल बेढंगी सिद्ध होती है। नित्य मन तो एक ही प्रकार का है। वह नित्य आत्मा मे भिन्न भिन्न विचार किस तरह पैदा कर सकता है ?. आदि। अस्तु। औदारिक वैक्रिय आहारक शरीर के व्यापार से गृहीत मनोद्रव्य की मदद से होने वाला जीव-व्यापार याने स्फुरित वीर्यात्मक आत्मपरिणाम ही मनोयोग कहलाता है।

अब इन मनोयोग, वचनयोग तथा काययोग तीनो का नि धे कैसे करते है, सो कहते हैं।

योग-निरोध की प्रक्रिया—

समय की दृष्टि से जब परम पद मोक्ष प्राप्ति मे अन्तर्मुहूर्त की देर हो, उस समय योगनिरोध किया जाता है। वह भी भवोपग्राही अर्थात् भव का उपग्रह याने पकड कर रखने वाले अघातीकर्म वेदनीय, आयु, नाम व गोत्रकर्म सब की स्थिति केवलि-समुद्घात द्वारा या स्वतः स्वाभाविक ही समान हो गई हो तब योगनिरोध करते है।

केवली समुद्घात : यह केवलज्ञानी का कर्मस्थिति को समान करने का एक प्रयत्नविशेष है। इसमें अन्त मे केवलज्ञानी

शैलेशी के लिए योगनिरोध करते है, उसके पहले अन्य वेदनीयादि तीन कर्मों की स्थिति आयुष्य की बची हुई स्थिति (काल) के समान करने के लिए समुद्घात याने आत्मप्रयत्नविशेष करते है। इसमें पहले अपने आत्मप्रदेशो को ऊपर व नीचे लोकान्त तक विस्तृत करते है। दूसरे समय इन १४ राजलोक जितने ऊंचे एक दण्डस्वरूप बने हुए आत्मप्रदेशो को पूर्व-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण दो तरफ लोकांत तक विस्तृत करते है। अतः पहले समय दण्ड समान बने आत्म प्रदेशो को दो तरफ विस्तृत करके कपाट या लकड़ी के पट्टे (पटिया) जैसा बनाते है। तीसरे समय अन्य दो दिशाओं में दण्ड को विस्तृत करके कपाट रूप बने हुए पहले के आत्मप्रदेशों के साथ मिलकर एक मन्थान जैसा (ढवणी सा) बन जाता है। चौथे समय बीच के अन्तर मे रहे हुए खाली स्थानों को आत्मप्रदेशों से सम्पूर्ण भर देते है याने आत्मा सम्पूर्ण १४ राजलोक के लोकाकाश मे विस्तृत हो जाता है। समस्त लोकप्रदेशो को आत्मप्रदेश स्पर्श कर देते है। ऐसा होने के समय वेदनीयादि तीनो कर्मों की स्थिति बराबर आयुष्यकर्म की स्थिति के जितनी ही हो जाती है। फिर पांचवे, छठे. सातवें समय क्रमशः सकोच होते होते पुनः मन्थान, कपाट, दण्ड रूप बन जाते है और आठवें समय आत्मा पुनः शरीरप्रमाण हो जाता है।

इस तरह समुद्घात से कर्मस्थिति समान बन जाती है और किसी को प्राकृतिक स्वरूप से ही समान हो, ऐसा भी होता है। परन्तु योगनिरोध की क्रिया उसके बाद ही प्रारम्भ होती है।

पहले मनोयोग निरोध :

योग निरोध करने का कार्य काययोग से होता है। इनमें पहले मनोयोग का निरोध करते है। वह किस तरह किस प्रमाण से करते है। जो जीव अभी ही पर्याप्त संज्ञी बना हो याने जिसका कम

से कम मनोयोग हो, उसने जितने मनो द्रव्य लिप्त गए हो तथा उसे जितना मनोयोग–व्यापार हुआ हो, उससे असख्य गुना कम मनो-द्रव्य–व्यापार का प्रति समय निरोध करते है और वैसा करते करते असख्य समय हो जाने पर सम्पूर्ण मनोयोग का निरोध हो जाता है।

फिर वचन योग का निरोध करते हैं। वह भी ऐस ही काययोग से। इसमे निरोध का प्रमाण यह है। अभी ही वचन पर्याप्त बने वेइन्द्रिय जीव को प्रथम समय मे जो कम से कम वचनयोग हो, उससे भी असख्य गुना कम (असंख्य गुण हीन) वचन योग का प्रति समय निरोध करते चलते है। इस तरह असंख्य समय निकल जाने पर सम्पूर्ण वचनयोग का निरोध होता है।

फिर काय योग का निरोध करते हैं। उसका प्रमाण इस तरह है। कोई जीव सूक्ष्म निगोद (साधारण वनस्पनिकाय शरीर) मे उत्पन्न होता है। वहा जन्म के पहले ही समय उसे जो कम से कमकाय योग हो, उससे असख्य गुणहीन काययोग का प्रति समय निरोध करते हैं और ऐसा करते करते असख्य समय व्यतीत होने पर सम्पूर्ण काययोग का निरोध करते है।

काय के तृतीयांश का त्याग

काययोग निरोध करते वक्त जो आत्मप्रदेश अभी तक सपूर्ण शरीर मे व्याप्त थे, वे अब शरीर के तिहाई हिस्से को छोड देता है और ⅔ दो–तृतीयाश हिस्से मे ही व्याप्त होकर रहते हैं। इसका कारण यह है कि जिस समय काययोग के निरोध करने का आत्म-प्रयत्न चलता है, उस समय उस प्रयत्न मे शरीर के खाली हिस्सो मे आत्मप्रदेश घुमकर खाली हिस्से (पोले भाग या खड्डे आदि) के चारो ओर के हिस्से मे परस्पर अखण्ड सलग्न वन जाने से स्वाभाविक है कि अन्य जगहो से सकुचित हो कर वहा आते हैं।

इससे अन्त मे कुल तृतीयाश हिस्से मे से आत्मप्रदेश हट कर उतना शरीर का हिस्सा बिलकुल आत्मप्रदेश रहित हो जाता है।

ऐसे आत्मप्रदेश के सकोच के साथ असख्य समय मे काययोग का सर्वथा निरोध हो जाता है। तब सभी आत्मप्रदेश जो आज तक योगो के कारण कम्पनशील थे वे अब सर्वथा योगनिरोध हो जाने से बिलकुल निष्कप (निष्प्रकम्प) होकर स्थिर हो जाते है। और तब आत्मा शैलेशी भाव को प्राप्त होता है। कहा है : 'तो कयजोग निरोहोसेलेसीभावरणामेइ' अर्थात् योगनिरोध करने वाला तब शैलेशी भाव को प्राप्त होता है, यहा 'सेलेसी भावरणा' मे 'सेलेसी' शब्द प्राकृत भाषा का है, उसका अर्थ इस तरह बताया जाता है।

(१) 'सेलेस' याने 'शैलेश'। शिला याने पाषाण। शिला का बना हुआ शिलामय 'शैल' याने पर्वत। उनका ईश याने 'शैलेश' अर्थात् मेरु। आत्मा मे जो मेरु जैसी अचलता, निश्चलता आती है, आत्मप्रदेशो की स्थिरता निष्प्रकम्पता होती है, वही शैलेश। पहले जो अशैलेश होने से अब शैलेश जैसा होता है वह शैलेशी भवन कहलाता है। शैलेश जैसा करने को शैलेशीकरण कहते हैं। (उदा० कोई पदार्थ 'स्व' न हो उसे स्व जैसा किया जाय तो उसे 'स्वीकरण' किया कहते है।) इस तरह जो आत्म प्रदेश पहले अशैलेशी थे वे अब शैलेशी शैलेश जैसे याने शैलेशी हुए। आत्म प्रदेश शैलेशी याने आत्मा भी शैलेशी। (इस पर से आत्मा ने शैलेशी प्राप्त की कहा जाता है।)

(२) 'सलेसी' याने सेल जैसे, ईसी याने शैल जैसे ऋषि, स्थिरता होने से पर्वत बने हुए केवली महर्षि।

(३) सेलेसी' याने से+अलेसी' दो शब्दो की सन्धि मे 'अ' का लोप होने से सेलेसी शब्द बना। इसमे पहले जो कहा, 'कय जोगनिरोहो सेलेसी भावणामेइ' का अर्थ हुआ योगनिरोध करने वाला, 'से' याने वह अलेशी भावना

को पाता है । (मागधी भापा मे पहली विभक्ति मे 'अ' प्रत्यय होने से से अर्थात् वह जैसे 'समणे भगव महावीरे') अलेसी याने अलेशी अर्थात् लेश्या रहित । १३वें गुणस्थानक तक लेश्या होती है, क्यो कि लेश्या को योगान्तर्गत पुद्गल के साथ सम्बन्ध है और यहा १३वें तक ही योग विद्यमान है। फिर १४वें गुणस्थानक मे शैलेशी होने से योग नही है, तो लेश्या भी नहीं है । इससे वह आत्मा अलेशी याने प्राकृत भापानुसार 'अलेसी' बनता है ।

(४) 'सेलेसी' याने शील का ईश । यह अर्थ इस तरह हुआ । प्राकृत भापा मे शीलेश को 'सेलेश' कहते है अर्थात् शील के स्वामी । १४वें गुणस्थानक पर इन्द्रिय, कपाय, अव्रत, योग तथा क्रिया, इन पाच आश्रवो मे से एक भी आश्रव नही होता । सर्व आश्रवो का निरोध याने सर्व सवर हो गया । निश्चयनय के अनुसार 'सर्व सवर' ही शील याने 'समाधान' है अर्थात् आत्म प्रदेशो के आत्मस्वभाव का सम्यक् आधान है, सम्यक् स्थापन है। आत्मा का मूलभूत स्वभाव सर्व आश्रव रहितता, सर्व सवर, स्थिरता ही शील है। शील के स्वामी ही शीलेश और शीलेश शब्द को स्व-अर्थ मे, अपने अर्थ मे 'अ' प्रत्यय लगने पर प्रथम स्वर 'शी' में से 'ई' की वृद्धि होने से 'शी' का 'शै' होता है। इससे शीलेश याने शैलेश । यह शैलेश की अवस्था याने शैलेशी । प्राकृत मे उसे 'सेलेसी' कहते है। तात्पर्य यह कि यहा 'सेलेसी' शब्द का अर्थ 'सर्व सवर की अवस्था' हुआ ।

इस शैलेशी अवस्था को प्राप्त यह सर्व सवर निष्पत्ति और मोक्ष होने का मध्यकाल,–पाच ह्रस्व अक्षर बोले जाय उतना समय, उतने समय तक ही शैलेशी अवस्था रहती है। (फिर मोक्ष हो जाता है।) पाच ह्रस्व अक्षर अ इ उ ऋ लृ बोलने मे जितना समय लगता है, मात्र उतना ही समय शैलेशी अवस्था का याने १४वें गुणस्थानक का है ।

यह: शुक्लध्यान के अन्तिम दो प्रकार का उपयोग है। उसका क्रम इस प्रकार से है:–१३वें गुणस्थानक के अन्तिम हिस्से में काय-निरोध के प्रारम्भ से 'सूक्ष्म क्रिया अनिवृति' नामक शुक्लध्यान का तीसरा प्रकार शुरू हुआ। कहा है : 'तणुरोहारंभाओ झायइ सुहुम किरिय नियट्टि सो। वोच्छिन्न किरियमप्पडिवाइ सेलेसी काल मि॥' शैलेशी काल में 'व्युच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाति' नामक चौथा प्रकार काम करता है। शुक्ल ध्यान का तीसरा प्रकार तो काययोग निरोध करना प्रारम्भ करे तब से अर्थात् सूक्ष्म काययोग द्वारा बादर काय-योग का निरोध करना प्रारम्भ करे तब से होता है। इसीलिए यहां सूक्ष्म क्रिया योगक्रिया। सूक्ष्म काययोग अभी निवृत्त नहीं है। वह काम करता है; इसीलिए वह 'सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति' ध्यान कह-लाता है। तो चोथा प्रकार १४वें गुणस्थनक याने शैलेशी के समय होता है और वहां तो योगक्रिया -सर्वथा निरुद्ध है, हमेशा के लिए उच्छिन्न है, कभी भी अब इस 'व्युच्छिन्न क्रिया' अवस्था का प्रति-पात याने पतन याने अन्त नहीं होगा। इसलिए इस प्रकार को व्युच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाती कहते है।

शैलेशी में कर्मक्षय की प्रक्रिया इस तरह से है कि शैलेशी करने के पूर्व शैलेशी में खपाने योग्य कर्मों को समय समय के क्रम में व्यवस्थित (arrange) कर देते हैं। वह भी इस प्रकार से है : पहले समय में क्षपणीय (खपाने योग्य) कर्मदलिको से असंख्य गुना कर्मदलिक दूसरे समय के लिए और उससे भी असंख्य गुना कर्म दलिक तीसरे समय के लिए रखते हैं। इस तरह करते करते उत्तरोत्तर समयो में प्रत्येक समय के लिए असंख्य असंख्य गुने कर्मदलिकों की रचना होती है। इसे गुणश्रेणी कहते हैं। गुण याने उत्तरोत्तर असंख्य असंख्य गुने (दलिक) की श्रेणी याने पंक्ति। इस तरह असंख्य गुने कर्मदलिको की गुण श्रेणी से

पहले से रचे हुए (पूर्व रचित) कर्मदलिको को अब १४वें गुणस्थानक मे शैलेशी के प्रारम्भ से क्रमशः समय समय पर क्षय करते चले जाते है। वह भी उपान्त्य (उप+अत्य=अन्तिम से एक पहले=२ समय) समय तक पहुंचते पहुंचते लगभग सब कर्म दलिकों को खाली कर देते है और बाकी बचे हुए मे से कुछ यहां (उपान्त्य) खाली करते हैं और कुछ अन्तिम समय मे खाली करते हैं याने क्षय करते है। वह भी इस तरह से है·—मनुष्य गति, मनुष्य आनुपूर्वी, पचेन्द्रिय जाति, त्रसनाम कर्म, बादर नामकर्म, पर्याप्त, सौभाग्य, आदेय, यश नामकर्म मिलकर नामकर्म की ९ प्रकृतियें तथा मनुष्यायु कर्म, उच्च गोत्र कर्म, और शाता अशाता वेदनीय मे से कोई भी एक वेदनीय कर्म मिलकर बाकी के ३ अघाती कर्मो की ३ प्रकृतियें कुल मिलाकर १२ कर्मप्रकृति चरम समय में अजिन सिद्ध होने वाले को क्षय करने की शेष रहती है और जिनसिद्ध (तीर्थङ्कर बना कर सिद्ध होने वाले को जिन नामकर्म और मिलाकर कुल १३ कर्मप्रकृति चरम (अन्तिम) समय में क्षय करना होता है।

१४वें गुणस्थानक के अन्तिम समय में सर्व कर्म का क्षय हो जाने से अब आत्मा को कोई भी कर्म बाकी नही रहता अतः कर्म का उदय याने औदयिक भाव भी नही रहता।, अतः यहां सर्व कर्म क्षय के साथ ही भव्यत्व का भी नाश हो जाता है। क्योकि भव्य जीव तो मोक्ष-गमन की योग्यता वाला याने सर्व कर्म-क्षय की योग्यता वाला ही है। वह तो सूचित करता है कि जीव ने सर्व कर्म क्षय नही किया, परन्तु कर सकने की योग्यता उसमे है अर्थात् अभी सर्व कर्म क्षय नही किया किन्तु कर्म सत्तागत व उदय मे है। यह कर्मो का उदय वही औदयिक भाव है। वह है तभी तक ही भव्यत्व है। अतः अब यदि सर्व कर्म क्षय होने से औदयिक भाव व सत्तागत कर्म नही है तो भव्यत्व भी नही है। अतः सर्व कर्मों का अन्त होने पर भव्यत्व का भी

अन्त आता है। मात्र सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन सुख और सिद्धत्व ही बाकी रहते हैं, इनका अन्त नही होता। क्योकि ये सम्यक्त्वादि गुन तो आत्मा का मूलभूत स्वभाव है और संसार काल मे ये गुन मिथ्यात्व-मोहनीय आदि कर्मों से आवृत रहने वाले होने से अब सब कर्म क्षय से वे प्रकट होते है अतः क्षायिक सम्यक्त्वादि कहलाते है। ये अब सदा काल हमेशा के लिए प्रकट रहते हैं।

अस्पृशद् गति से सिद्धि गमन : अब जब कि १४वे गुणस्थानक के अन्तिम समय मे समस्त कर्मों का क्षय आ कर खड़ा हुआ कि तुरन्त ही उसके बाद के एक ही समय मे जीव ऋजु (सीधी) गति से सिद्ध होता है। अर्थात् लोकान्त मे स्थित सिद्ध-शिला के ऊपर पहुंच जाता है। वह यहा से छूट कर वहा पहुंचता है उसमे बीच मे दूसरे समय या दूसरे प्रदेश की स्पर्शना भी नही होती (स्पर्श नही होता)। अर्थात् यहा से छूटने के समय १४वें गुणस्थानक के पूर्ण होते ही, १४वें गुणस्थानक के अन्तिम समय के बीत चुकने के बाद का समय जो यहा से छूट जाने का है और ऊपर पहुंचकर सिद्धशिला पर आरूढ़ होने का जो समय है वे दोनो एक ही हैं। यहा से छूटने और वहा पहुँचने के समयो के बीच मे एक भी समय का अन्तर नही होता। इस तरह से उस जीव को अन्तिम समय मे यहा के आकाश प्रदेश की स्पर्शना और बाद के दूसरे ही समय ऊपर लोकात के आकाश प्रदेश की स्पर्शना। बीच किसी आकाश प्रदेश की स्पर्शना ही नहीं–स्पर्श नही। इस तरह से बीच के समयान्तर या प्रदेशातर का जब कोई स्पर्श ही नही होता। इस तरह की स्पर्शना-रहित गति से वह जीव ऊपर पहुंच जाता है अतः उस गति को अस्पृशद् गति कहते है। ऐसी गति से जाना होता है उसका कारण शुद्ध तथा कर्म से सर्वथा मुक्त बने हुए जीव का तथास्वभाव है।

प्रश्न— बीच के प्रदेश को स्पर्श किये बिना कैसे जा सकता है? और स्पर्श करे तो बीच मे समय भी लगे ही न?

उत्तर—नही, नही लगता। क्योकि जीव संसार-काल में सूक्ष्म एकेन्द्रिय अवस्था मे भी ऊपर जाता था, पर वह तो कर्म-प्रेरणा से जाता था, तब भी बीच के आकाश प्रदेशो की स्पर्शना नही थी तो अब तो सर्व कर्म बन्धन टूट जाने से हलका फूल सा बना हुआ सिद्ध जीव यहाँ से छूटते ही बाद के समय ऊपर पहुच जाता है उसमे क्या आश्चर्य?

साकारोपयोग से सिद्धि

प्रश्न— अब अकेला शुद्ध जीव ही है, कर्म बन्धन नही है, तो लोकान्तर पर जा कर क्यो रुकता है? उससे भी ऊपर क्यो नही जाय?

उत्तर— उसका कारण यही है कि लोकान्त से ऊपर गति-सहायक धर्मास्तिकाय तत्त्व नही है। यह तत्त्व तो केवल चौदह राजलोक-व्यापी अर्थात् लोकाकाश व्यापी ही है, अलोक-व्यापी नही है। तो गतिसहायक धर्मास्तिकाय के बिना अलोक मे किस तरह से गमन कर सके?

सर्व कर्म क्षय होते ही मोक्ष प्राप्ति होती है उस समय केवल-ज्ञान केवल दर्शन इन दानो मे से केवलज्ञान का ही अर्थात् साकार ही उपयोग होता है। यह नियम है कि सभी लब्धियें साकारोपयोग मे याने ज्ञानोपयोग मे ही प्राप्त होती हे, निराकार याने दर्शन उप-योग मे नही। अलबत्ता मोक्ष होने के दूसरे ही समय केवलदर्शन का उपयोग आ जाता है, तो उसके बाद के समय पुनः केवलज्ञान का उपयोग आता है। इस तरह अब शाश्वत रूप से हमेशा अनन्त काल तक समय समय पर ज्ञानोपयोग तथा दर्शनोपयोग दोनो एक के बाद एक होते रहते है। यह क्रम हमेशा चलता रहेगा।

उप्पाय ट्ठिइ भंगाइ पज्जयाणं जमेगवत्थु मि ।
नाणानयाणुसरणं पुव्वगय-सुयाणुसारेणं ॥७७॥
सविचारमत्थवंजण जोगतरओ तयं पढमसुक्कं ।
होइ पुहुत्त वितक्कं सविचार-मरागभावस्स ॥७८॥

अर्थ.—एक (अणु आत्मा आदि) द्रव्य में उत्पाद-स्थिति-नाश आदि पर्यायों का अनेक नयों से 'पूर्वगत' श्रुत के अनुसार जो चितन, वह भी पदार्थ, द्रव्य, शब्द (नाम) और योग (मनोयोग आदि) के भेद से 'सविचार' अर्थात् इन तीनों में एक पर से दूसरे पर संक्रमण वाला चिन्तन पहला शुक्ल ध्यान है। वह भी विविधता से श्रुतानुसारी होने से सविचार है और वह रागभाव रहित वाले का होता है।

शुक्ल ध्यान : (१) पृथक्त्व वितर्क सविचार

शुक्ल ध्यान का 'क्रम' द्वार पूरा हुआ। अब 'ध्यातव्य' द्वार का विचार करते हुए कहते हैं:—

विवेचन :

'ध्यातव्य' याने ध्येय अर्थात् ध्यान का विषय। शुक्ल ध्यान के चार प्रकार में पहले प्रकार का ध्येय विषय याने ध्यातव्य विषय एक द्रव्य के पर्याय हैं। यहां धर्मध्यान से शुक्ल ध्यान का विषय सूक्ष्म है अर्थात् 'एक द्रव्य' के रूप में किसी अणु द्रव्य के या आत्मादि द्रव्य के पर्याय पहले शुक्ल ध्यान के विषय बनते हैं। वे पर्याय हैं उत्पत्ति, स्थिति, नाश या मूर्तत्व अमूर्तत्व आदि। एक ही द्रव्य के पर्यायों का यह ध्यान द्रव्यास्तिक, पर्यायास्तिक या निश्चय व्यवहारादि नय के अनुसार होता है। उदा० द्रव्यास्तिक नय से वह

उत्पाद आदि पर्याय का द्रव्य से अभिन्न रूप से चिन्तन करता है। यह 'चिन्तन' चौदह 'पूर्व' नामक महाशास्त्र के अन्तर्गत आये हुए श्रुत के अनुसार होता है। इन पूर्वो मे पदार्थ का बहुत विस्तृत और सूक्ष्म कोटि का विचार किया गया है। इससे उसके आधार पर इस शुक्ल ध्यान के पहले प्रकार में द्रव्य पर्याय का सूक्ष्म चितन किया जाता है। यह 'पूर्व' शास्त्र के ज्ञाता ही कर सकते हैं।

प्रश्न— तो फिर, मरुदेवी माता, भरत चक्रवर्ती आदि तो ये शास्त्र पढ़े हुए नही थे। उन्हे किस तरह शुक्ल ध्यान हुआ ? शुक्ल ध्यान के बिना समस्त घाती कर्मो का क्षय और केवलज्ञान तो नही हो सकता।

उत्तर—बात सत्य है। मरुदेवी माता आदि को जो केवलज्ञान प्राप्त हुआ, वह शुक्ल ध्यान से ही, पर उन्हे वह दूसरे प्रकार से आया था। ((१) धर्म ध्यान की उत्कृष्टता के बल पर, और (२) भाव से ऊपर ऊपर के गुणस्थानक पर चढ जाने के प्रभाव वश। उन्हे ज्ञानावरणीय कर्म का तीव्र क्षयोपशम होने से 'पूर्व' शास्त्र में कहे हुए पदार्थ का बोध प्रकट हो गया। अतः यद्यपि वे 'पूर्व' शास्त्र के वेत्ता शब्द से वेत्ता नही थे, किन्तु अर्थ स वेता बन कर फिर उसके आधार पर शुक्लध्यान पर चढ गये।)

सविचार याने ?

यह पहले प्रकार का शुक्लध्यान सविचार होता है अर्थात् उसमे चिन्तन अर्थ, व्यंजन-योग मे से किसी एक पर से दूसरे पर 'विचार' याने विचरण वाला सक्रमण वाला होता है। 'अर्थ' याने वस्तु। 'व्यजन' याने उसका बोधक शब्द। उदा० उत्पत्ति वस्तु का बोधक शब्द 'उत्पाद', 'उत्पत्ति', निष्पत्ति आदि। योग याने मनो-योग, वचनयोग, काययोग। इन तीनो में विचरण-सक्रमण होता

जं पुण सुणिक्कंपं निवाय सरणप्पईं वमियचित्तं ।
उप्पाय ठिइ भंगाइयाणमेगंपि पज्जाए ॥७९॥
अवियार मत्थ वंजण जोगंतरओ तयं नितिय सुक्कं ।
पुव्वगय सुयालंवण मेगत्त वितक्कमविचारं ॥८०॥

अर्थ – हवा रहित स्थान मे रहे हुए स्थिर दीपक की तरह जो उत्पत्ति स्थिति नाश आदि मे से किसी एक ही पर्याय मे चित्त स्थिर हो, वह दूसरे प्रकार का शुक्ल ध्यान है। यह 'अविचार' याने अर्थ व्यजन योग के परिवर्तन वाले (से होने वाले) संक्रमण रहित तथा पूर्वगत श्रुत के आलंबन से होने वाला होने से (तथा एकत्व याने अभेद वाला होने से) 'एकत्व वितर्क अविचार' ध्यान है।

है। अर्थात् ध्यान अर्थ पर से व्यजन पर जाता है या योग पर जाता है। ऐसी वैकल्पिक अवस्था होती है। परन्तु अकेले 'अर्थ' का ही चिन्तन या अकेले 'व्यजन' का ही चिन्तन ऐसा नहीं।

'पृथक्त्व-वितर्क' यानि ? यह सविचार चिन्तन भी 'पृथकत्व' से होता है अर्थात् भेद से भिन्नता से होता है। (अर्थात् इस ध्यान मे ध्येय-ध्यान के भेद का अनुभव होता है।) दूसरे 'पृथकत्व' का अर्थ 'विस्तीर्ण भाव' भी करते हैं। (अर्थात् यह ध्यान सविचार होने से उसका विषय विस्तार वाला-विस्तृत होता है।) और 'वितर्क' याने 'श्रुत'। पहले कहे अनुसार 'पूर्व' गत शास्त्र के अनुसार यह ध्यान होता है।

सारांश यह कि यह ध्यान पृथकत्व वितर्क सविचार ध्यान है।

यह ध्यान किसको होता है ? यह ध्यान राग-भाव रहित व्यक्ति को ही आता है। जब तक अन्तरात्मा मे राग-परिणाम जागता हो, वहां तक इस प्रथम शुक्ल ध्यान के सूक्ष्म

पदार्थ का चिन्तन नही आ सकता। क्योंकि राग के कारण आत्मा का राग के विषयो की ओर आकर्षण है। अतः शुक्ल ध्यान के सूक्ष्म विषय में मन तन्मय या एकाग्र नही बन सकता।

(२) दूसरा शुक्ल ध्यान : एकत्व वितर्क अविचार

अब शुक्ल ध्यान का दूसरा प्रकार कहते है: –

विवेचन :

शुक्ल ध्यान का दूसरा प्रकार 'एकत्व वितर्क अविचार' नामक है। यह प्रकार पहले प्रकार से अत्यन्त निष्प्रकप अर्थात् स्थिर होता है। जैसे बिना हवा वाले घर के हिस्से मे रहे हुए दीपक की ज्योति जरा भी हिलती नही है, किन्तु एक ही स्थिर अवस्था मे रहती है, इसी तरह दूसरे शुक्ल ध्यान मे चित्त अत्यन्त स्थिर हो गया होता है। पहले प्रकार मे तो उत्पत्ति स्थिति नाश आदि वस्तु के पर्यायो मे से किसी एक पर्याय पर से दूसरे पर्याय पर चित्त जाता था, जब कि इसमे इनमे से किसी एक ही पर्याय पर चित्त स्थिर हो जाता है।

'अविचार' : इतना ही नही, पहले प्रकार मे चित्त अर्थ पर से शब्द पर या योग पर विचरण वाला याने सक्रमण वाला था, पर यहा अर्थ का व्यजन या योग मे सक्रमण नही होता। जिस किसी एक पदार्थ या शब्द या योग पर मन मे लीनता हुई वही हो गई। ऐसी चित्त की अत्यन्त स्थिरता होती है।

एकत्व वितर्क : इसमे 'एकत्व' याने अभेद से चिन्तन होता है। ('मैं इस पदार्थ का चिन्तन करता हूँ' ऐसा ध्याता ध्येय और ध्यान का भेदानुभव नही, इन भेदो को अलग करने का अनुभव नही, पर अभेदानुभव याने तीनो की एकरूपता हो जाती है। ध्यान मे विषय भी अलग प्रतीत नही होता, ध्यान से अपना ध्याता

निव्वाणगमण काले केवलिणो दरनिरुद्ध जोगस्स ।
सुहुमकिरियाऽनियट्टिं तइयं तणुकायकिरियस्स ॥८१॥
तस्सेव य सेलेसी-गयस्स सेलोव्व निप्पकंपस्स ।
वोच्छिन्नकिरियमप्पाडिवाइ ज्झाणं परमसुक्कं ॥८२॥

अर्थ:—जब मोक्ष प्राप्ति का समय निकट हो, तब केवलज्ञानी को (मनो योग वचन योग का सर्व निरोध करने के बाद) काययोग आधा निरुद्ध हो जाने पर सूक्ष्मकाय क्रिया रहने पर सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती नामक तीसरा ध्यान होता है। उनको ही शैलेशी पाने पर मेरु की तरह बिल्कुल स्थिर (निश्चल आत्म प्रदेश) होने पर व्युच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती नामक चौथा शुक्लध्यान होता है।

आत्मा भी अलग प्रतीत नहीं होता।) ऐसा ध्यान भी पूर्वगत श्रुत के आलम्बन से अर्थात् श्रुत मे कथित पदार्थ पर होता है। इसे 'एकत्व वितर्क अविचार ध्यान' कहते हैं। वह अभेद से अर्थ या व्यंजन (शब्द) के विचरण रहित याने संक्रमण रहित ध्यान है।

(३-४) तीसरे चौथे शुक्ल ध्यान का समय

अब जिस अवस्था मे तीसरा चोथा शुक्ल ध्यान होता है वह कहते हैं—

विवेचन :

पहले दो शुक्ल ध्यान करने के बाद उनके अन्त मे केवल ज्ञान प्राप्त होता है, आत्मा सर्वज्ञ बनती है। वहा उन्हे १३वा 'सयोगी-केवली' गुणस्थानक प्राप्त होता है। अब बाद का लगभग सभी आयुष्यकाल इस गुणस्थानक पर बिताते हैं। सिर्फ जब आयुष्य-काल की समाप्ति होने वाली हो और मोक्ष पाने की अत्यन्त निक-

टता आ गई हो, तब वे योगनिरोध की क्रिया करते हैं। इसमे काययाग से मनोयोग और वचनयोग का सर्वथा निरोध कर लेने के वाद जब काययोग भी करीब आधा निरुद्ध हो जाता है और मात्र सूक्ष्म श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म काय-क्रिया ही रह गई हो, वहा 'सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती' नामक तीसरा शुक्ल ध्यान आता है।

अनिवर्ती : सपूर्ण आत्मस्थिरता की ओर जाने वाले अत्यत प्रवर्धमान परिणाम से अब निवृत्त नही होने वाली अर्थात् सूक्ष्म मे से वादर मे नही आने वाली सूक्ष्मकायक्रिया को सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती कहते है। यह अवस्था ही ध्यान है जिसे तीसरा शुक्ल-ध्यान कहते है। यहा मन ही न होने से मन की एकाग्रता नही होती, तब भी इसे ध्यान क्यो कहा, यह आगे बतायेंगे।

यह ध्यान क्षण भर रहने के वाद यह सूक्ष्म काययोग अवस्था भी वन्द हो जाती है। क्योकि आत्मप्रदेशो को सर्वथा स्थिर निश्चल करने वाला अत्यन्त प्रवर्धमान पुरुषार्थ, वादर सूक्ष्म मनोयोग वचनयोग तथा वादर काययोग को बिलकुल रोक देने के वाद, अब सूक्ष्म काययोग को भी बिलकुल वन्द कर देने की तरफ आगे बढ़ रहा है। वह अब इस काययोग को सर्वथा रोक कर ही शात होता है। यह सब १३व गुणस्थानक के अन्तिम काल में होता है; जब कि १३वें गुणस्थानक का काल पूरा होते ही सर्वथा योगनिरोध आ कर खडा रह जाता है। यह होते ही १४वां 'अयोगी केवली' गुणस्थानक शुरु होता है।

अव सूक्ष्म काययोग-कायक्रिया भी नही है, अत: कोई भी योग नही है, अत वे केवलज्ञानी अयोगि केवली वनते हैं। वहा 'व्यवच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती' (व्युच्छिन्न-व्युपरत क्रिया अप्रतिपाती) नामक चौथा शुक्लध्यान शुरू होता है। 'व्यवच्छिन्न क्रिया'

पढमं जोगे जोगेसु वा, मयं वितियमेकजोगंमि ।
तइयं च कायजोगे, सुक्कमजोगंमि य चउत्थं ॥८३॥

अर्थः—पहला शुक्लध्यान एक या सर्व योग मे होता है। दूसरा एक (ही) योग मे होता है, तीसरा (सूक्ष्म) काययोग के समय, और चौथा अयोगी अवस्था मे होता है।

याने सूक्ष्म काययोग का भी जहाँ सर्वथा उच्छेद हो गया है, ऐसी अवस्था मे 'अप्रतिपाती' अर्थात् अटल (नही टलने वाले) स्वभाव वाली याने शाश्वत काल के लिए अयोग अवस्था कायम रहेगी।

इस तरह से १३वें के अन्त मे सर्वथा योगनिरोध हो जाने से मन-वचन काय-योग के कारण जो आत्म-प्रदेश स्पन्दनशील याने हलन चलन के स्वभाव वाले थे, वे अब बिलकुल स्थिर हो जाते हैं। अतः यहा आत्मा मेरु की तरह निष्प्रकंप-स्थिर हो जाती है। मेरु याने शैल (पर्वतो) का ईश शैलेश। शैलेश के जैसी स्थिर अवस्था यह शैलेशी अवस्था है। १३वा गुणस्थानक पूरा हो कर १४वें के प्रारम्भ मे यह अवस्था प्राप्त होती है। अतः कहा जाता है कि शैलेशी अवस्था प्राप्त इस केवलज्ञानी महर्षि को मेरु की तरह स्थिर होने से परम शुक्लध्यान याने 'व्युच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती' नामक अन्तिम ४था शुक्लध्यान आता है।

इस तरह चारो शुक्ल ध्यानो का वर्णन कर के अब उसी के सम्बन्ध मे शेष कथन करते हैं।

४. शुक्लध्यानों में योग

शुक्ल ध्यान के चार प्रकार बताये गये, इसमे पहला 'पृथक्त्व-वितर्क सविचार' एक मनोयोग आदि मे होता है या तीनो योग में

जह छउमत्थस्स मणो झाणं भण्णइ सुनिच्चलो संतो ।
तह केवलिणो काओ सुनिच्चलो भण्णइ झाणं ॥८४॥

अर्थ – जिस तरह से छद्मस्थ का मन सुस्थिर हो उसे ध्यान कहते है, वैसे केवलज्ञानी की काया का सुस्थिर होना ध्यान कहलाता है ।

होता है । यहां 'सविचार' याने सक्रमण वाला । योग से अर्थ मे सक्रमण नहीं किन्तु यदि योगान्तर मे सक्रमण हो तो अनेक योग होते हैं अन्यथा एक ही योग होता है । अत यहां एक अथवा अनेक योगो का सम्भव है । दूसरा 'एकत्व वितर्क अविचार' ध्यान सक्रमण रहित होने से वह मात्र किसी भी एक ही योग मे होता है । जिस मनोयोग या वचनयोग या काययोग मे लानना आ गई उसी योग मे यह दूसरे प्रकार का ध्यान होता है । परन्तु तीसरा 'सूक्ष्म क्रिया अनिवर्त्ती' ध्यान केवल सूक्ष्म काययोग मे ही होता है, क्यों कि वह ध्यान अन्य योगो के निरुद्ध हो जाने के बाद ह आता है । जब कि चौथा 'व्युच्छिन्न-क्रिया अप्रतिपाती' ध्यान तो अयोग अवस्था मे ही होता है, क्योकि समस्त योगो का सर्वथा निरोध हो जाने के बाद ही यह आता है । अतः यह ध्यान अयोग केवली को शैलेशी बनने पर होता है ।

मन बिना ध्यान कैसे होता है ?

अब ध्यान का विशेष अर्थ बताते हैं ।

विवेचन :

प्रश्न— केवलज्ञानी को होने वाले शुक्ल ध्यान के बाद के दो प्रकारों के समय तो मनोयोग ही नही है अर्थात् मन ही नही है, क्यो कि केवली अमनस्क होते है, तो फिर मन विना ध्यान किस तरह से ? 'ध्यै चिन्तायाम्' पाठ से 'ध्यै' पर से बने हुए 'ध्यान'

पुव्वप्पओगओ च्चिय, कम्मविणिज्जरण-हेउतो यावि ।
सद्दत्थ - बहुत्ताओ, तह जिणचंदागमाओ य ॥८५॥

चित्ताभावे वि सया, सुहुमोवरय-किरियाइ भण्णंति ।
जीवोपयोग - सब्भावओ भवत्थस्स झाणाइं ॥८६॥

अर्थ.--(१) पूर्व प्रयोग के कारण या (२) कर्म निर्जरा का हेतु होने से भी, अथवा (३) शब्द के अनेक अर्थ होने से, तथा (४) जिनेन्द्र भगवान के आगम का कथन होने से सूक्ष्म क्रिया और व्युच्छिन्न क्रिया,-मन वाला वहां चित्त न होने पर भी जीव का उपयोग-परिणाम (भाव मन) हाजिर होने से-भवस्थ केवली के लिए ध्यान स्वरूप कहलाती है।

शब्द का अर्थ तो मन से चिन्तन होता है, पर मन रहित वह चिन्तन-स्वरूप ध्यान कैसे हो सकता है ?

उत्तर यहां 'ध्यान' शब्द का अर्थ निश्चलता लेने का है, चाहे वह मन की निश्चलता हो या चाहे काया की निश्चलता हो, परन्तु वे दोनों ध्यान-स्वरूप ही है। इससे जैसे छद्मस्थ अर्थात् केवल-ज्ञानी नहीं बने हुए और ज्ञानावरणादि कर्म के उदय वाले जीव का मन-मनोयोग सुनिश्चल याने एक वस्तु पर स्थिर हो उसे ध्यान कहते हैं, इसी तरह केवलज्ञानी की काया-काययोग सुनिश्चल हो तो उसे ध्यान कहते है, क्योंकि दोनों में योग तो समान है। अतः यदि स्थिर मनोयोग ध्यान है, तो स्थिर काययोग भी ध्यान क्यों नहीं ?

अयोग अवस्था में ध्यान किस तरह से ?

चौथे प्रकार मे ध्यान किस तरह होता है यह कहते हैं।

विवेचन :

प्रश्न— ठीक है, तीसरे शुक्ल ध्यान के समय सूक्ष्म काययोग होने से 'कायनिश्चलता' स्वरूप ध्यान होगा, परन्तु चौथे शुक्ल ध्यान के समय तो सर्व योगो का बिलकुल निरोध याने अयोगी अवस्था है, वहा काया को स्थिर करने का भी कार्य नही है, तो फिर ऐसी अवस्था मे ध्यानरूपता किस तरह? ध्यान शब्द का अर्थ यहा कैसे घटता है? (घटित होता है?) यदि निरुद्ध काययोग है, ऐसा कहते हो तो अन्य भी निरुद्ध योगो के होने की आपत्ति उपस्थित होगी।

उत्तर—अनुमान प्रयोग मे इसमे ध्यानरूपता सिद्ध होती है। अनुमान मे पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टान्त चाहिये, तो यहा चार हेतुओ से अनुमान प्रयोग इस तरह होता है.—

'भवस्थ केवली की सूक्ष्म क्रिया और फिर बाद की व्युपरत क्रिया ये दोनो ध्यानस्वरूप है।' क्यो कि जीवोपयोग होने के साथ (१) पूर्व प्रयोग होने से, (२) कर्मनिर्जरा का हेतु होने से, (३) शब्द के अनेक अर्थ होने से, तथा (४) जिनचन्द्र का आगम-कथन होने से इसमे 'दो अवस्था' पक्ष है 'ध्यानरूपता' साध्य है और अन्य ४ हेतु हैं।

स्पष्टता : काययोग का निरोध करने वाले सयोगी केवली को या शैलेशी वाले अयोगी केवली को अलबत्ता चित्त याने मनोयोग नही है, द्रव्य मन नही है तब भी उन्हे क्रमशः जो सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती तथा व्युपरत क्रिया अप्रतिपाती अवस्था है वह निम्न कारणो से ध्यान कहलाती है:—

(१) पूर्व प्रयोग होने से . इसका दृष्टान्त कुम्हार के चक्र का भ्रमण है। जिस तरह से चक्र घुमाने वाले दण्ड की क्रिया बन्द होने के बाद भी दण्ड के पूर्व प्रयोग के कारण बाद मे

दण्ड के बिना भी चक्र भ्रमण चालू रहता है, इसी तरह मनोयोग आदि का निरोध होने पर भी आत्मा का ज्ञानोपयोग चालू है और भावमन है इसलिए वह ध्यानरूप है।

प्रश्न— यों तो मोक्ष जाने के बाद मे भी केवलज्ञान का तो उपयोग होता है तो क्या वह ध्यानरूप गिना जावेगा?

उत्तर नहीं ध्यान तो कर्मक्षय करने वाला एक कारण है। मोक्ष मे यह कर्मक्षय रूप कार्य करना शेष नही रहता, इससे वहा कारण भी नही होता, जब कि १४वें गुणस्थानक मे तो अभी कर्म बाकी है, उनका क्षय करने वाली जीवोपयोग-अवस्था को कारणस्वरूप ध्यान रूप कह सकते है।

(२) कर्म निर्जरा का कारण होने से : भवस्थ केवली की सूक्ष्म क्रिया व व्युच्छिन्न क्रिया की अवस्था को ध्यान कहते हैं। इसका दृष्टान्त क्षपक-श्रेणी है। जैसे क्षपक-श्रेणी मे घाती कर्मो का क्षय करने वाला पृथक्त्व-वितर्क सविचार आदि ध्यान है, वैसे ही यहा अघाती कर्म का क्षय करने वाली उक्त दोनो अवस्था को ध्यान रूप कहा जा सकता है।

(३) शब्द के कई अर्थ होने से : एक ही शब्द के कई अर्थ हो सकते है, इसलिए यहा 'ध्यान' शब्द का अर्थ उपयोग करने का विरोध नही है। उदा० 'हरि' शब्द के इन्द्र, बन्दर.. आदि अनेक अर्थ होते है। इसी तरह (१) 'ध्यै चिन्तायां' (२) 'ध्यै काय-निरोधे' (३) 'ध्यै अयोगित्वे' आदि अनेक धात्वर्थ से 'ध्यै' पर से बने ध्यान शब्द के स्थिर चिन्तन[1], कायनिरोध[2], अयोगी अवस्था[3] इत्यादि अर्थ हो सकते है। इससे सूक्ष्म क्रिया-व्युपरत-क्रिया की अवस्था को ध्यान कह सकते है।

(४) जिनचन्द्र का आगम वचन होने से : इससे भी यह अवस्था ध्यान कहलाती है। 'जिन' याने वीतराग

केवलज्ञानी, उनमे भी चन्द्र' जैसे श्री तीर्थंकर भगवन्त हैं। उनके आगम-शास्त्र आर्त्त आदि ४ प्रकार के ध्यान तथा उनमे भी शुक्ल-ध्यान के ४ भेद बताते हैं। अतः जिनागम वचन पर से भी शुक्ल-ध्यान के पीछले दो भेद ध्यानरूप सिद्ध होते हैं।

प्रश्न— क्या आगम कहता है इसलिए मान लेना चाहिये? तर्क से सिद्ध हो उसे ही तो मानना चाहिये न?

उत्तर - नही अतिन्द्रिय पदार्थ की सिद्धि केवल तर्क के बल पर नही हो सकती। कहा है —

आगमश्चोपपत्तिश्च सम्पूर्णं दृष्टि-लक्षणम् ।
अतीन्द्रियाणामर्थानां सद्भावप्रतिपत्तये ॥

अर्थात् --अतीन्द्रिय पदार्थों याने बाह्य इन्द्रियों से जो ग्राह्य नही हैं वैसे पदार्थों के यथार्थ ज्ञान के लिए आगम और तर्क दोनो चाहिये। ये दोनों मिल कर सम्पूर्ण पदार्थ दृष्टि पदार्थ बोधदायक बन सकते है अकेले तर्क से तो अतीन्द्रिय पदार्थ की सामान्य रूप से सिद्धि होती है किन्तु उसके अवान्तर विशेष तो जिसने प्रत्यक्ष देखा हो ऐसे आप्तपुरुष से व उनके वचन से ही जाना जा सकता है। उदा० बाहर दिखाई देने वाले धुएं पर से घर के अन्दर अग्नि होने का अनुमान होता है वह सामान्य रूप से हुआ। परन्तु वह अग्नि कितने प्रमाण मे है, कैसे काष्ठ आदि का है, उसकी ज्वाला कैसी है.... इत्यादि बातें अनुमान से नही जानी जा सकती। यह तो अन्दर बैठा हुआ व्यक्ति ही प्रत्यक्ष देख सकता है और उसके वचन से बाहर वाला जान सकता है। ऐसा ही आत्मा, कर्म, ध्यान आदि अतीन्द्रिय पदार्थों के बारे मे है। इससे सर्वज्ञ वचन से ही उसकी विशेषताएं जानी जा सकती हैं। इससे यदि वह कहते हैं कि सूक्ष्म-क्रिया अनिवर्ती और व्युपरत क्रिया अप्रतिपाती दोनो ध्यान रूप है',

तो हमे उस प्रकार से मानना चाहिये। वस्तु का सम्पूर्ण दर्शन करने के लिए आगम और तर्क दोनो जरुरी हैं। अत: सर्वज्ञागम का कहा हुआ मानो तभी अतीन्द्रिय पदार्थ बराबर समझे हुए गिने जायेंगे।

इससे यह सिद्ध होता है कि भवस्थ सयोगी या अयोगी केवल-ज्ञानी को यद्यपि मन नहीं है, तो भी उनको ज्ञानदर्शनोपयोग है इससे उनको यह सूक्ष्म क्रिया तथा व्युपरत क्रिया ये दोनों अवस्था ध्यानस्वरूप हैं।

यहा 'कम्मनिज्जरणहेउतो वा वि' कहा है, उसमे 'वा वि' याने च।ऽपि' मे 'च' तथा 'अपि' शब्द आये वहा 'च' शब्द से पूव के हेतु पर अनुपपत्ति याने प्रश्न की सम्भावना सूचित की और अपि शब्द से प्रस्तुत हेतु से समाधान सूचित किया। उदा० पहला हेतु 'पूर्वपयोग' बताया। उस पर प्रश्न खडा होता है कि 'जीव का ज्ञानोपयोग दण्ड रहित चक्र भ्रमण जैसा अल्पजीवी नहीं है वह तो वह तो मोक्ष होने के बाद भी कायम रहता है। तो क्या मोक्ष मे भी ध्यान होने का कहोगे ?' इस प्रश्न का समाधान दूसरे 'कम निज्जरण हेतु' से मिलता है। पूर्व प्रयोग उपरान्त कर्म निर्जरा क्रिया करने का कार्य मोक्ष में नहीं होता और यहा सूक्ष्म-व्युपरत क्रिया से होता है, अत. इसे ही ध्यान कहा जावेगा, पर मोक्ष के ज्ञानोपयोग को नहीं।

यहा इस बात पर भी यह प्रश्न होगा कि कम निर्जरा तो सूक्ष्म क्रिया के पहले भी चालू है, तो क्या समग्र १३वे गुणस्थानक का ध्यान अवस्था कहोगे ?' तो इसके समाधान के लिए तीसरा हेतु 'शब्दार्थ बहुत्व' रखा। इससे सूचित किया कि 'ध्यै' शब्द का 'एकाग चिन्तन', 'योगनिरोध' और 'अयोगित्व' आदि ही होने से योगनिरोध ध्यान बनता है, पर योगनिरोध के पूर्व की अवस्था

सुक्कज्झाण-सुभावियचित्तो चिंतेइ झाण-विरमेवि ।
णिययमणुप्पेहाओ चत्तारि चरित्त - संपन्नो ॥८७॥

अर्थः—शुक्ल ध्यान से चित्त को जिसने अच्छी तरह भावित किया है वह चारित्र सम्पन्न आत्मा ध्यान बन्द होने पर भी अवश्य ही चार अनुप्रेक्षा का चिन्तन करे।

ध्यान रूप नही गिनी जायगी। पुनः इस पर भी यह प्रश्न सम्भवित है कि 'ध्ये का अर्थ इतना ही क्यो?' तो उसके समाधान मे 'जिनेन्द्र आगम' नामक चौथा हेतु कहा। सर्वज्ञ वचन अन्तिम प्रमाण है। (इसीलिए रात्रिभोजन-त्याग को प्रमाण-सिद्ध करने मे अनेक हेतु बताने के बाद अन्त मे यही प्रमाण दिया जाता है कि जिनेश्वरदेव की आज्ञा है कि रात्रिभोजन नही करना, इससे उसका त्याग 'जिनाज्ञा' प्रमाण से सिद्ध है।)

'ध्यातव्य' द्वार का विवेचन हुआ। अब 'ध्याता' द्वार में 'शुक्ल ध्यान के ध्याता कौन?' की बात आती है परन्तु धर्म-ध्यान के अधिकार मे वह साथ मे ही कह दिया गया है; अत. अब उसके बाद के 'अनुप्रेक्षा' द्वार का वर्णन करते हैं।

शुक्ल ध्यान में अनुप्रेक्षा

विवेचन :

'चारित्र-सम्पन्न महात्मा शुक्ल ध्यान मे चढ़े हो', और वह ध्यान है अतः सतत अन्तमुं हूर्त से ज्यादा नही टिक सकता, तो प्रारम्भ किये हुए ध्यान के अन्तमुं हूर्त मे बन्द होने पर उनके चित्त का क्या व्यापार चलता है?' यह प्रश्न उठ सकता है। उसके जवाब मे कहते है कि वह महात्मा अवश्य अनुप्रेक्षा का चिन्तन करने वाला हो। इसका कारण यह है कि उन्हे 'ध्यान' है इसलिए

आसवदाराए तह संसारामुहाणुभावं च।
भवसंताणमणन्तं वत्थूणं विपरिणामं च ॥८८॥

अर्थः—आश्रवद्वारों (मिथ्यात्वादि) के अनर्थ, संसार के अशुभ स्वभाव, भवों की अनन्त धारा और (जड़-चेतन) वस्तुओं का परिवर्तन स्वभाव अशाश्वतता (नामक चार अनुप्रेक्षा हैं।)

मात्र एकाग्र चिन्तन करके नहीं रह गये किन्तु उससे अपने आत्मा को 'सुभावित' याने अच्छी तरह से भावित किया है, चिन्तन के रंग से खूब रंग दिया है। इससे एकाग्र ध्यान पूरा हुआ तो तुरन्त अनुप्रेक्षारूप चिन्तन शुरू हो जाता है। सुभावितता के कारण मन आहट्ट दोहट्ट विचारों में नहीं जाता, परन्तु अब कहे जाने वाले आश्रव द्वार आदि चारों में से किसी एक के बारे में चिन्तन अनुप्रेक्षा प्रारम्भ हो जाती है। (पहले धर्मध्यान के बाद की अनुप्रेक्षा के बारे में भी यही कहा था कि धर्मध्यान से सुभावित होने के कारण ध्यान से विराम पा कर अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षा में से किसी भी अनुप्रेक्षा में चढ़े। यह सूचित करता है कि जिनशासन में ध्यान केवल एकाग्र चिन्तन रूप ही नहीं, किन्तु साथ साथ आत्मा को भावित करने वाला होता है और इस तरह भावित होने का फल यह होता है कि ध्यान से रुक गये तो वह अनुप्रेक्षा चालू हो जाती है। वह करने से पुन. एकाग्रता हो कर ध्यान शुरू हो जाता है। इस तरह अन्तर के साथ ध्यान-सन्तति ध्यान-धारा चलती है। तात्पर्य कि ध्यान जीव को भावित करने वाला चाहिये और उसके रुकने पर अनुप्रेक्षा चालू होनी चाहिये।)

शुक्ल ध्यान की ४ अनुप्रेक्षा

यहां शुक्लध्यान के विराम में आने वाली ४ अनुप्रेक्षा इस प्रकार से हैं—

विवेचन :

शुक्लध्यानी को ध्यान बन्द होने पर (१) आश्रव द्वार के अनर्थ, (२) ससार-स्वभाव (३) भवों की अनन्तता, और (४) वस्तु परिवर्तन, ये चार अनुप्रेक्षा होती है। उन पर वे चिन्तन करते है। इसमे।

(१) आश्रवद्वार के अनर्थ मे मिथ्यात्व, अविरति आदि आश्रव द्वार अर्थात् कर्मबन्ध के हेतु कौन से है, उनके सेवन के फलस्वरूप यहा और परलोक मे कैसे कैसे दु:ख आते हैं, कैसे अनर्थ उत्पन्न होते हैं? .. का चिन्तन करे।

(२) ससार के अशुभ स्वभाव मे चिंतन करे कि धिक्कार है संसार के स्वभाव को कि (i) वह जीव के पास उसके अपने ही अहित की वस्तु का आचरण करवाता है! (ii) फिर इसमें सुख अल्प और वह भी आभास मात्र है, तब दु:ख अनन्त! नरक निगोदादि मे दु:ख का पार नही है! (iii) इसमें सम्बन्ध विचित्र होते हैं, पिता पुत्र होता है, माता पत्नी बनती है, मित्र शत्रु होता है.... इत्यादि। (iv) इसमे सर्व सयोग नाशवन्त हैं। अनुत्तरवासी देव जैसे को भी वहा से भ्रष्ट हो कर नीचे उतरना पड़ता है। .. इत्यादि ससार के अशुभ स्वभाव का चिन्तन करे।

(३) भव की अनन्त परम्परा का विचार करे कि जीव यदि तीव्र राग द्वेष काम क्रोधादि मे पड़ा तो नरकादि गतियो मे अनन्त जन्म मरण कैसे करने पडते है।

(४) वस्तु के परिवर्तन (विपरिणमन) याने जड़ चेतन पदार्थों की अस्थिरता का चिन्तन करे कि 'सर्व स्थान अशाश्वत है, सर्व द्रव्य परिणामी हैं, परिवर्तनशील है, शाश्वत गिने जाने वाले बड़े मेरु जैसे मे भी अणु गमनागमनशील है तो काया के विपरिणमन का तो पूछना ही क्या?'

सुक्काए लेसाए दो, ततियं पुण परमसुक्क लेसाए ।
थिरयाजियसेलेसं लेसाइयं परम सुक्कं ॥८९॥

अर्थ —पहले दो ध्यान शुक्ल लेश्या मे, तीसरा परम शुक्ल लेश्या मे और स्थिरता गुण से मेरु को जीतने वाला चौथा शुक्ल ध्यान लेश्या रहित होता है ।

ये चारो 'अपाय-अशुभ-अनन्त-विपरिणमन' की अनुप्रेक्षा पहले दो शुक्ल ध्यान मे ही होती है, पीछे के दो मे नही । क्यो कि पहले दो शुक्ल ध्यान के वक्त मन होता है और उनमे ध्यान विचय होता है, इसमे अनुप्रेक्षा याने चिंतन हो सकता है, पिछले दो ध्यान मे तो केवलज्ञान होने से मन का व्यापार ही नही है, सिर्फ काययोग की निश्चलता है, इससे चिन्तन किस तरह से हो ? ये दो ध्यान तो शैलेशी प्राप्त करवा कर मोक्ष ही ला देते है तो फिर वहा अनुप्रेक्षा का मौका ही कहा रहा ?

यह 'अनुप्रेक्षा' द्वार हुआ ।

चारों शुक्लध्यान में लेश्या कैसी ?

अब 'लेश्या' द्वार कहते है:—

विवेचन :

पहले दो शुक्लध्यान जीव शुक्ललेश्या मे होता है, तब होते है । इससे नीचे की लेश्या हो वहां परमाणु आदि का एकाग्र चिन्तन करे, तो वह शुक्ल ध्यान रूप नही बन सकता । यह सूचित करता है कि ऊँचे ध्यान का उच्च लेश्या के साथ सम्बन्ध है । मानसिक लेश्या यदि किसी अशुभ रागादि वाली हो तो वह नीची लेश्या है, उसमे उच्च ध्यान नही हो सकता ।

अवहा संमोह विवेग विउसग्गा तस्स होंति लिंगाइं ।
लिंगिज्जइ जेहिं मुणी सुक्कज्झाणोवगय - चित्तो ॥९०॥
चालिज्जइ बीभेइ य धीरो न परीसहो वसग्गेहिं ।
सुहुमेसु न संमुज्झइ भावेसु न देवमायासु ॥९१॥
देह विवित्तं पेच्छइ अप्पाणं तह य सव्वसंजोगे ।
देहोवहिवोस्सग्गं निस्संगो सव्वहा कुणई ।।९२॥

अर्थः अवध असमोह, विवेक, व्युत्सर्ग ये शुक्लध्यानी के लक्षण हे, जिन से शुक्लध्यान मे चढे हुए चित्त वाले मुनि पहचाने जाते हैं। (१) परीसह उपसर्गो से ये धीर मुनि न चलायमान होते है, न भयभीत ही होते है। (२) न वे सूक्ष्म पदार्थो से मोहित होते या न देवमाया से विचलित होते है। (३) अपने आत्मा को देह से बिलकुल भिन्न तथा सब सयोगो से भिन्न देखते हैं और देह तथा उपधि को सर्वथा निस्सगरूप से त्याग करते हैं।

तीसरा शुक्ल ध्यान केवलज्ञानी को तेरहवें गुणस्थानक के अन्त के समय होता है। वहा परम याने उत्कृष्ट शुक्ल लेश्या होती है। अर्थात् तीसरा शुक्लध्यान परम शुक्ल लेश्या मे कहा जाता है। यहा लेश्या मानसिक नही होती, क्यो कि मन का कोई व्यापार नही है, किन्तु योगान्तर्गत परिणामरूप लेश्या है।

(४) इसीलिए चौथा शुक्लध्यान लेश्या रहित होता है, क्योकि यहां तो योगदशा मे से आगे बढ़ कर सर्वथा योगनिरोध-अवस्था यानी 'शैलेशी' प्राप्त की होती है। इसमे की गई आत्म-प्रदेशो की स्थिरता मेरु की निष्प्रकपता को भी जीतने वाली होती है, मेरु की स्थिरता से भी ज्यादा स्थिरता होती है। मेरु यो तो स्थिर, शाश्वत काल के लिए निष्प्रकप है, परन्तु उसमे से अणुओ का गमनागमन चालू है;

लेकिन सर्वथा योगनिरोध किये गये आत्मा के प्रदेशों मे लेश मात्र भी हल चल नही होती। यहा योग नही है अत. योगान्तर्गत पुद्गल-परिणाम रूप लेश्या भी नही होती। अतः यहां लेश्या रहित अलेशी अवस्था है। इसमे 'व्युपरत क्रिया अप्रतिपाती' नामक चौथा शुक्ल-ध्यान होता है। यह लेश्या द्वार हुआ।

शुक्ल ध्यान के ४ लिंग

लिंग द्वार का विवरण करने की इच्छा से लिंगो के नाम, प्रमाण, स्वरूप व गुण की भावना करने के लिए कहते हैं अर्थात् शुक्ल ध्यानी के लिंग[1] कौन कौन से है ? प्रत्येक कितने[2] प्रमाण मे या कितने ऊंची कक्षा वाले तथा लिंगों का स्वरूप[3] कैसा कैसा होता है और उनके ४ गुण क्या है, प्रभाव क्या है ? आदि बताते हैं।

विवेचन :

शुक्ल ध्यान मे चित्त लगा हो ऐसे मुनि को पहचान ने के लिए ४ लिंग होते हैं : अवध, असमोह, विवेक तथा व्युत्सर्ग। 'अवध' याने अचलता, 'असमोह' याने मोहित न होना या व्यामोह मे न पडना, 'विवेक' याने पृथकता का भान तथा 'व्युत्सर्ग' याने त्याग। किसी को शुक्ल ध्यान होने का इन चार लिंगो से पता चलता है। चारो का स्वरूप निम्न प्रकार से है:—

(१) अवध : धीर याने बुद्धिमान या स्थिर शुक्ल ध्यानी मुनि चाहे जैसे क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, आदि परिसहो से या किसी देवादि की तरफ से मरणान्त उपसर्ग या उपद्रव आने पर जरा भी चलित या विचलित नही होते, ध्यान भग नही करते, डरते नही या भयभीत नही होते। इतनी अधिक निडरता तथा अडिगता शुक्ल ध्यान के समय होती है।

(२) असंमोह : शुक्ल ध्यान के समय 'पूर्व' गत सूक्ष्म पदार्थ पर एकाग्रता होती है. तो वहा चाहे जितना गहन पदार्थ हो, तब भी चित्त व्यामोह मे नही पडता, मोहित नही होता कि उदा० 'ऐमा कैसे होगा ?' आदि । वे इतने ज्यादा प्रमादरहित और श्रद्धा सम्पन्न होते हैं। फिर अनेक प्रकार की देवमाया आवे, परीक्षा के लिए देवता ऐसे किसी अनुकूल या प्रतिकूल इन्द्रजाल की रचना करे तो भी वे उससे जरा भी विचलित नहीं हाते ।

(३) विवेक : शुक्लध्यानी अपनी आत्मा को देह स बिलकुल भिन्न देखता है । इसीलिए देह के मान अपमान आक्रोश वध आदि परिसहो को अपने पर के समझते ही नही; तो फिर उन्हे इनका मन दुख कहा से ? जिससे उसमे मन को ले जा कर ध्यानभग तो हो ही कहा से ? देह की तरह सर्व संयोगों को भी अपने से बिलकुल भिन्न ही देखते हैं, अतः इस हिसाब से भी मन ध्यान मे से चलित नही होता । गजसुकुमाल मुनि के सिर पर सोमिल श्वसुर ने मिट्टी की पगडी बाध कर उसमे जलते हुए अगारे रखे, पर महामुनि ने पहले से ही ऐसी गिनती रखी कि 'जलता है (शरीर या सिर) वह मेरा नही है और मेरा है वह (ज्ञान दर्शन चारित्र) जलता नहीं है ।' इसी गिनती पर क्रोध से भरे हुए व अपने को जलाने का काम करने वाले सोमिल का सयोग भी अपने से बिलकुल भिन्न माना याने 'अपनी ज्ञानादि-सम्पन्न आत्मा को उससे कुछ भी लेना देना नही है । वे सयोग अपना कुछ भी बिगाड़ने वाले नहीं हैं ।' ऐसा मान लिया । जो ध्यान हुआ उसके भग होने का कोई अवसर या मौका ही न हुआ, उसकी जगह भी न रही । इससे इस ध्यान पर स केवलज्ञान प्राप्त किया और वहीं बाकी के दो शुक्लध्यान तथा शैलेशी कर के सर्व कर्म खपा कर मोक्ष प्राप्त किया ।

(४) व्युत्सर्ग : शुक्ल ध्यानी का परिचय कराने वाली

होंतिसुहासव संवर विणिज्जराऽमरसुहाइं विउलाइं ।
झाणवरस्स फलाइं सुहाणुबंधीणि धम्मस्स ।९३।

अर्थः— उत्तम ध्यान 'धर्म ध्यान' के फल विपुल शुभ आश्रव, संवर निर्जरा और दिव्य सुख होते हैं, वे भी शुभ अनुबन्ध वाले।

एक विशेषता यह है कि वह शरीर तथा उपधि से बिल्कुल निःसंग बनकर उसका सर्वथा व्युत्सर्ग याने त्याग करता है। 'विवेक' में शरीर आदि बिल्कुल अलग माने तथा व्युत्सर्ग में उन का ममत्व छोड़ दिया, उसे वोसिरे कर दिया।

प्रश्न— शुक्ल ध्यान में ही शरीर आदि का व्युत्सर्ग किया तो फिर केवलज्ञान होने के बाद ये शरीरादि कैसे रख सकते हैं?

उत्तर—वे शरीर को राग ममत्व आग्रह से रखते ही नहीं हैं, क्यों कि अब तो वे वीतराग बन चुके होने से शरीरादि पर उनको लेश मात्र भी रागादि होता ही नहीं। तब भी शरीरादि जो रहता है, वह तो निरुपक्रम आयुष्य आदि कर्म का संचालन है। बाकी वीतराग केवलज्ञानी शरीर आदि इच्छा से व राग से रखते ही नहीं है।

यह लिंग द्वार पूरा हुआ। अब 'फल' द्वार कहते हैं।

धर्म ध्यान के फल

यहां लाघव के लिए पहले कहा वैसे धर्मध्यान का फल कहकर बाद में शुक्लध्यान का फल कहते हैं। इसमें लाघव यह है कि पहले दो शुक्लध्यान का फल तो जो धर्मध्यान का फल है वही है, पर वह विशेष शुद्ध होता है। अतः धर्मध्यान के फल पहले बता दिया हो तो फिर शुक्लध्यान के लिए पूर्व निर्देश ही करना रहा याने 'यही पूर्व निर्दिष्ट फल', पर पुनः नाम के साथ सभी फल

नहीं कहने पडेगे, यही लाघव। इस गिनती से पहले धर्मध्यान का फल कहते है।

विवेचन :

ध्यान में प्रधान धर्मध्यान के फल मे (१) विपुल शुभाश्रव (२) सवर, (३) निजरा और (४) दिव्यसुख निष्पन्न होते है। इन फलो की उत्पत्ति स्वाभाविक है। शुभाश्रव याने पुण्य का वध। 'ज ज समय जीवो ...' के अनुसार धर्मध्यान शुभ भाव होने से इससे शुभकर्म 'पुण्य' का वन्ध हो, यह स्वाभाविक है साथ ही अशुभ भाव के अभाव मे संवर याने अशुभ कर्म का निरोध या रुकावट होनी है, यह भी स्वाभाविक है। फिर धर्मध्यान से कर्म की 'निर्जरा' याने क्षय होना भी स्वाभाविक है, क्यो कि वह आभ्यन्तर तप है और तप यह निर्जरा का कारण है। उसी तरह धर्मध्यान से बाधे हुए पुण्य कर्म से दैवी सुख मिलें वह भी स्वाभाविक है।

यह शुभ पुण्य आदि 'विपुल' याने विस्तृत रूप से उत्पन्न होता है याने दीर्घ कालस्थिति और विशुद्धि वाले पैदा होते है। पुण्य वध भी वैसा ही होता है और भी विपुल होता है तथा निर्जरा भी विस्तृत होती है। कर्मो की दीर्घ स्थिति का क्षय होता है तथा दैवी सुख भी दीर्घ काल के तथा विशुद्धी वाले याने सक्लेश रहित उत्पन्न होते है।

फिर धर्म ध्यान के ये फल शुभ अनुवन्ध वाले होते है अर्थात् परम्परा चलाने वाले होते है। इससे पुनः अच्छे कुल मे जन्म मिलता है, पुनः 'बोधिलाभ', जैन धर्म की प्राप्ति होती है और असंक्लिष्ट भोग मिलते है कि जिसमे जीव कमलपत्र की तरह निर्लेप रहता है, प्रव्रज्या मिलती है और परम्परा से केवलज्ञान तथा मोक्ष तक पहुंच सकते हैं। धर्मध्यान शुभानुवन्धी होने से ऐसी शुभ

ते य विसेसेण सुभासवादओऽणुत्तरामरसुहाइं च ।
दोण्हं सुक्काण फलं परिनिव्वाणं परिल्लाणं ॥९४॥

अर्थः—यही विशिष्ट रूप के शुभ आश्रव आदि और अनुत्तर देवलोक के सुख पहले दो शुक्ल ध्यान का फल है और अन्तिम दो का फल तो मोक्षगमन है ।

परम्परा तक पहुँचाने वाले पुण्य-बन्ध आदि फल को उत्पन्न करते है ।

शुक्ल ध्यान के फल

अब शुक्ल ध्यान के फल कहते हैं:—

विवेचन :

शुक्ल ध्यान मे से पहले दो शुक्ल ध्यान 'पृथकत्व वितर्क सविचार' और एकत्व वितर्क अविचार' ध्यान के फल पूर्वोक्त शुभाश्रव आदि है परन्तु वे विशिष्ट स्वरूप के उत्पन्न होते हैं। अर्थात् अद्भुत उच्चकोटि के पुण्य-बन्ध, कर्म-निर्जरा आदि होते हैं। इसमे दैवी सुखो मे सबसे ऊंचे अनुत्तर विमानवासी देवलोक के सुख उत्पन्न होते हैं। उपशम श्रेणा मे चढ़े हुए मुनि शुक्लध्यान से ऐसी फलोत्पत्ति के अनुसार, श्रेणी से गिरते हुए आयुष्य पूर्ण हाने पर, अनुत्तर विमान मे जन्म लेते है ।

अन्तिम दो शुक्ल ध्यान तो केवलज्ञानी को होते है। अतः इससे तो सर्व कर्म-क्षय होने के कारण फल के रूप मे मोक्ष-गमन होता है ।

यह तो धर्मध्यान व शुक्लध्यान के विशेष फल है, पर सामान्यत. ये दोनो ध्यान ससार के प्रतिपक्षी (विरोधी) है अर्थात् संसार उत्पन्न नही करते ।

आसवदारा संसार-हेअवो; नं ण धम्मसुक्केसु ।
संसार कारणाइं; तओ धुवं धम्मसुक्काइं ॥९५॥

अर्थ—आश्रव के द्वार समार के हेतु हैं। ये ससार हेतु धर्म-ध्यान व शुक्लध्यान में नही होते अतः धर्म-शुक्ल-ध्यान अवश्य संसार के प्रतिपक्षी है।

धर्म-शुक्ल-ध्यान संसार प्रतिपक्षी कैसे ?

विवेचन :

ससार के हेतु इन्द्रिय, कषाय, अव्रत आदि आश्रव द्वार हैं। धर्म और शुक्लध्यान मे ये संसारवर्धक हेतु नही होते हैं क्योकि वहा कोई इन्द्रिय-आसक्ति नही है, अप्रशस्त कषाय नही है, अविरति नही है, अशुभ योग नही है। ये संसारवर्धक हेतु न होने से धर्म-ध्यान व शुक्लध्यान स्वाभाविक ही ससार नहीं वढाते। अतः वे अवश्य ससार के प्रतिपक्षी या विरोधी है। जहा धर्म-शुक्ल-ध्यान वहां ससार-उत्पत्ति नही। यदि ससार बढाने की इच्छा नही है यानी अनिच्छा है तो ये ध्यान उसके अनन्य साधन है ऐसा समझ रखना चाहिये। तात्पर्य, सव धर्मसाधना की जाए, किन्तु यह प्रत्येक साधना धर्मध्यान से अन्वित होनी ही चाहिए। आगे वढ़ कर शुक्ल-ध्यान लाना ही चाहिए। तभी मोक्ष होगा।

शुक्ल-ध्यान संसार का प्रतिपक्षी होने से मोक्ष का कारण है, यह बताते हुए कहते है —

संवर-विणिज्जराओ मोक्खस्स पहो, तवो पहो तासिं ।
झाणं च पहाणंगं तवस्स, तो मोक्खहेऊयं ॥९६॥

अर्थ —मोक्ष का मार्ग संवर और निर्जरा है। इन दोनों का उपाय तप है। तप का प्रधान अंग ध्यान है। इससे यह ध्यान मोक्ष का हेतु है।

विवेचन :

प्रश्न – मोक्ष का कारण तो संवर और निर्जरा है, क्योंकि संवर से नये कर्म रुकते हैं और निर्जरा से पुराने कर्म कटते हैं; अत: स्वत: ही अन्त में मोक्ष आ कर खड़ा रहता है। परन्तु ध्यान मोक्ष का कारण कैसे है ?

ध्यान मोक्ष कारण कैसे ?

उत्तर—मूल तो संवर और निर्जरा ही मोक्ष-मार्ग है। परन्तु संवर-निर्जरा का उपाय तप है। इसलिए संवर के ५७ भेदों के अन्तर्गत क्षमादि १० यति धर्मों में नाम दे कर तप कहा एवं संवर के अन्य प्रकारों में कायकष्ट संलीनता आदि तप एक या दूसरे रूप में समाविष्ट होते ही हैं; उसी तरह निर्जरा के १२ भेदों में तो बाह्य व आभ्यन्तर तप है ही।

इस तरह संवर अर्थात् कर्माश्रव-निरोध और, निर्जरा अर्थात् कर्मक्षय, उनका मार्ग तप है।

अब तप का प्रधान अंग शुभ ध्यान है क्योंकि (१) तप के अन्य अनशन आदि अंगों में यदि ध्यान शुभ न हो तो वह तप रूप नहीं बनता, (२) एवं शुभ ध्यान से ही विशिष्ट कर्मनिर्जरा होती है, अत: तप का प्रधान अंग ध्यान है। इस तरह से मोक्ष साधनभूत

अंबर-लोह-महीणं कमसो जह मल-कलंक-पंकाणं ।
सोज्झा-वणयण-सोसे साहेंति जलाणलाइच्चा ।।९७।।

तह सोज्झाइसमत्था जीवंबर-लोह-मेइणिगयाणं ।
झाण जलाऽणल-सूरा कम्ममल-कलंक-पंकाणं ।।९८।।

अर्थ --जिस तरह पानी अग्नि और सूर्य क्रमश वस्त्र, लोहे और पृथ्वी के मैल कलक और कीचड का (यथासख्य) शोधन, निवारण और शोषण करते है, उसी तरह ध्यान रूपी पानी अग्नि व सूर्य जीव स्वरूप लोहे वस्त्र और पृथ्वी मे रहे हुए कर्म स्वरूप मैल कलक व पक के शोधन आदि मे समर्थ है ।

सवर निर्जरा का साधन ध्यान प्रधान तप होने से ध्यान मोक्ष का कारण बन जाता है ।

ध्यान से कर्म नाश के ३ दृष्टान्त

इसी वस्तु को सरलता से समझाने के लिए दृष्टान्तो द्वारा उसका प्रतिपादन करते है --

विवेचन :

कर्मसयोग से ससार तथा कर्मवियोग से मोक्ष होता है। तो कर्मवियोग करवाने मे ध्यान कितना अद्भुत काम करता है, वह दिखाने वाले ३ दृष्टान्त पानी अग्नि और सूर्य है। उनका स्वरूप इस तरह से है --

(१) जिस तरह पानी कपड़े के मैल का शोधन करता है, उसी तरह ध्यान रूपी पानी जीव रूपी वस्त्र के कर्म-मैल को साफ करता जाता है। अलबत्ता वस्त्र का मैल धोने मे पानी के साथ क्षार आदि की जरूरत है, किन्तु पानी के बिना वे सब बेकार हैं,

तापो सोसो भेओ जोगाण झाणओ जहा निययं ।
तह तावसोसभेया कम्मस्स वि झाइणो नियमा ॥९९॥

अर्थ:—जिस तरह ध्यान मे मन वचन काया के योगो का अवश्य तपन, शोषण और भेदन होता है, उस तरह ध्यानी को कर्म का भी अवश्य तपन, शोषण, भेदन होता है

पानी हो तो ही क्षार आदि से मैला वस्त्र साफ होता है और कुछ तुरन्त के मैल दाग तो अकेले पानी से भी साफ हो जाते हैं। अत: यहा मुख्यत: पानी का ही दृष्टान्त लिया।

(२) जैसे खान में से निकले हुए लोहे के कलक याने मिश्रित अन्य वस्तुए अग्नि से गरम करने से दूर होती है, उसी तरह जीव-रूपी लोहे मे से कर्मकलंक ध्यान रूपी अग्नि से गरम हो कर दूर हो जाते हैं।

(३) इसी तरह जैसे पृथ्वी पर का कीचड वर्षा के पश्चात् धूल वाले रास्ते पर का कीचड़ सूर्य की गरमी से सूख जाता है, उसी तरह जीव रूपी पृथ्वी पर का कर्मकीचड़ ध्यान रूपी सूर्य की गरमी से गरम हो कर सूख जाता है।

इस तरह जीव पर चिपके हुए कर्ममैल को ढीला बनाकर साफ कर देने मे ध्यान पानी का काम करता है; जीव मे मिश्रित हो गये कर्म को जलाकर खतम करने मे ध्यान अग्नि के समान है और जीव पर के कर्मकीचड़ को सुखाकर नष्ट करने के लिए ध्यान सूर्य के समान काम करता है।

ध्यान का योग और कर्म पर प्रभाव

ध्यान से कर्मनाश होता है इसमे योग का चौथा दृष्टान्त बताते हुए ध्यान का योग और कर्म पर प्रभाव बताते है:—

विवेचन :

मन वचन काया के योग आत्मप्रदेशो को कम्पनशील रखता है, इससे आत्मा पर कर्म चिपकते है। आत्मा यदि स्थिर हो जाय, जैसे कि १४वें गुणस्थानक पर, तो फिर एक भी कर्माणु चिपक नही सकता। परन्तु इस स्थिरता के लिए योगो को रोक देना चाहिये। यह योगनिग्रह योगो के तपन, शोषण व भेदन से होता है। ध्यान इसके लिए अनन्य साधन है। ध्यान मे एकाग्रता होने से योग अवश्य गरम हो कर तपते हैं, सूखते है और भेदे जाते हैं। अग्नि की गरमी से पानी तप कर हलका सूखने व उड़ने जैसा होता है, उसी तरह जमे हुए योग याने मन वचन काया की प्रवृत्तिशीलता ध्यान के ताप से तप्त हो कर हलकी बन कर ढीली हो कर सूखती जाती है और अन्त मे भेदन हो कर उड जाती है।

यह सूचित करता है कि अनन्तानन्त काल मे चली आती हुई यह मन वचन काया की दोड़ धूप ढीली करनी हो, कम करना हो, तो ध्यान का खूब सेवन करना चाहिये, तभी आत्मा को शान्ति मिलेगी, स्थिरता प्राप्त होगी।

जिस तरह ध्यान से योगो पर यह प्रभाव पड़ता है, उसी तरह ध्यान से कर्मों का भी तपन, शोषण भेदन अवश्य होता है। ध्यान आत्मा का उज्ज्वल स्थिर अध्यवसाय है, उसकी कर्मो को तपाकर, सुखाकर तोड़ डालने की तीव्र ताकत है। ध्यान बिना यो ही ये कर्म खिसकते नही हैं।

ध्यान कर्म रोग की चिकित्सा

ध्यान से कर्मनाश होता है उसमे पांचवां रोग व दवा का दृष्टान्त देते हैं—

जह रोगासयसमणं विसोसण विरेयणो सह विहीहिं ।
तह कम्मामयसमणं झाणाणसणाइ जोगेहिं ।।१००।।

जह चिरसंचियमिंधणमनलो पवन सहिओ दुयं दहइ ।
तह कम्मेंधणममियं खणेण झाणाणलो डहइ ।।१०१।।

अर्थः—जिस तरह रोग के प्रबल कारण का निवारण लंघन, विरेचन तथा औषध के प्रकारों से होता है वैसे ही कर्मरोग का शमन-निवारण ध्यान अनशन आदि योगों से होता है।

अर्थ—जैसे हवा सहित अग्नि दीर्घकाल के भी एकत्रित किये हुए ईंधन को शीघ्र जलाकर भस्म कर देता है, वैसे ध्यान रूपी अग्नि भी क्षण भर में ही अपरिमित कर्म ईंधन को जला देता है।

विवेचन :

बुखार आदि व्याधि आने पर वैद्य पहले असली निदान ढूंढते है, फिर वे मूल दोष को हटाने के लिए याने उखाड़ डालने हेतु दरदी को लंघन करवाकर दोष को पक्व करते है फिर विरेचन याने जुलाब दे कर उसको निकाल देते हैं और बाद में दूसरी औषधियें दे कर रोगी का बिलकुल निवारण करके आरोग्य प्राप्त करवाते है।

इस तरह आत्मा पर बरसती हुई अनेकविध पीड़ाओं के मूल (जड़) में कर्म रोग है, उसका शमन निवारण ध्यान और अनशन आदि से होता है। यहां 'आदि' शब्द से ध्यान वृद्धि करने वाले दूसरे भी उनोदरिका, द्रव्य संकोच, आदि तप के प्रकार समझ लेना चाहिये। इन सबसे ध्यान वृद्धि होने से कर्म रोग का शमन होता है।

ध्यान : कर्मेन्धन दाहक दावानल

छट्ठा ईंधन अग्नि का दृष्टान्त है।

जह वा घणसंघाया खणेण पवणाहया विलिज्जंति ।
झाणपवणावहूया तह कम्मघणा विलिज्जंति ॥१०२॥

अर्थः—अथवा जिस तरह स हवा से उडाये जाने वाले बादलों का समूह क्षण भर मे नष्ट हो जाता है वैसे ही ध्यान रूपी हवा से उडाये जाने वाले कर्म-बादल नष्ट हो जाते हैं ।

विवेचन :

लम्बे समय से काष्ठ घास आदि ईंधन इकट्ठा किया हो; उस पर अग्नि गिरे और साथ मे हवा जोर से चलती हो, तो वह अग्नि इस ईंधन के ढेर को शीघ्र जला कर भस्म कर देता है । बस कर्म-रूपी ईंधन के लिए ध्यान ऐसा ही काम करता है । कर्म को ईंधन की उपमा इसलिए दी गई कि जैसे ईंधन जल उठने पर उसके संसर्ग मे रहे हुए को दु.ख तथा गरमी देता हैं, वैसे ही कर्म भी उदय से प्रज्वलित होने पर शारीरिक दु ख तथा मानसिक ताप सताप देने का कारण बन जाते है, इससे वे ईंधन जैसे हैं । वे असख्य भवो के एकत्रित हो कर अनन्त वर्गणा स्वरूप अनन्त स्कन्ध स्वरूप बने हुए है, तब भी जब ध्यान रूपी अग्नि भभक उठता है कि तुरन्त ही क्षण भर मे वह ढेरो कर्मो को जला कर भस्म कर देता है ।

•

क्या ध्यान मे इतनी ज्यादा ताकत है ? हां, कारण यह है कि यह ध्यान राग द्वेप के अत्यन्त निग्रह के साथ मन की भारी स्थिरता वाला होता है इससे यह स्वाभाविक है कि राग द्वेप और मन की अशुभ चचलता पर यदि ढेरो कर्मबन्ध होते है, तो उससे विरुद्ध स्थिति मे ढेरो कर्मो का क्षय होगा, होना ही चाहिये ।

ध्यान-हवा से कर्म-बादल नष्ट

अब हवा से बिखरते हुए बादल का ७वां दृष्टान्त कहते हैः—

विवेचन :

अथवा ध्यान अग्नि की तरह ही हवा भी काम करता है। आकाश मे बादलो का समूह छा गया हो परन्तु यदि हवा की आंधी शुरु हो जाय तो बादलो का बिखेर देती है, नष्ट कर देती है और आकाश स्वच्छ बन जाता है, उसी तरह आत्मा पर चाहे जितने कर्म आवरण छा गये हो, परन्तु यदि ध्यान रूपी हवा शुरु हो जाय तो उन कर्म आवरणो को नष्ट कर देती है और आत्मा स्वच्छ बन जाती है।

यहां कर्मो को बादल की उपमा इसलिए दी कि जैसे बादल सूर्य के प्रकाश को ढक देते हैं, आवृत्त कर देते हैं, वैसे ही कर्म जीव के ज्ञानादि स्वभाव को आवृत्त कर देते हैं। कहा है:—

स्थितः शीतांशुवज्जीवः प्रकृत्या भावशुद्धया।
चन्द्रिकावच्च विज्ञानं तदावरणमभ्रवत्॥

जीव आन्तर मल रहित भावशुद्ध स्वभाव वाला होने से चन्द्रमा के समान है और उसका ज्ञानगुण चन्द्रिका चन्द्रप्रकाश के समान है, तो उसे आच्छादित करने वाले कर्म बादलों जैसे हैं।

(जीव के इस मौलिक स्वच्छ ज्ञान स्वभाव को बार बार अंतर मे भावित किया जाय; 'मैं आत्मा शुद्धस्वरूप मे तो निर्मल ज्ञानमात्र स्वभाव वाला हूं। इसमे कोई भी राग द्वेष आदि मैल मिश्रित नही है। वस्तु मात्र को सिर्फ जानना देखना ही मेरा स्वच्छ ज्ञानस्वभाव है।' यह भावना बार बार करके अन्तर को भावित किया जाय, तो ऐसे भावित हुए अन्तर मे रागादि का प्रभाव कम होता जाता है।)

यह तो ध्यान के अतीन्द्रिय और पारलौकिक फल की बात हुई। परन्तु इस लोक मे अनुभव मे आने लायक कोई अन्य ध्यान-फल है? वह बताते हैं।

न कसाय समुत्थेहि य वाहिज्जइ माणसेहिं दुक्खेहिं ।
ईसा - विसाय - सोगाइएहिं झाणोवगयचित्तो ॥१०३॥

अर्थ:—ध्यान मे लाए हुए चित्त वाली आत्मा कषायो से उत्पन्न होने वाले मानसिक दुखो ईर्ष्या, खेद, शोक आदि से पीडित नही होती ।

ध्यान का प्रत्यक्ष फल

विवेचन :

चित्त जब शुभ ध्यान मे लगा होता है, तो उसे ईर्ष्या विषाद शोक आदि किसी दुख की पीडा नही रहती ।

ईर्ष्या आदि ये मानव दुख है । किसी अन्य मनुष्य का उदय, उन्नति या बढती देखकर मत्सर होता है, असहिष्णुता उठती है, मन जल उठता है, कहता है. 'इसे यह क्यो मिला ? यह कैसे व क्यो चढ गया ?' ऐसे चित्त जलता है यही ईर्ष्या है । 'विषाद' याने खेद, बेचैनी । जरा सा भी अनिच्छित हुआ कि चित्त को ग्लानि व बेचैनी उद्वेग हो गया । शोक याने इच्छित वस्तु नष्ट होने पर या अनिच्छित वस्तु सिर पर पडने से दीनता आती है । 'हाय' होती रहती है । दिल एक गरीब बनकर विलाप किया करता है. जलता रहता है । यहा शोकादि पद मे आदि शब्द है । इससे हर्ष उन्माद जुगुप्सा भय आदि भी समझे जाय । ये ईर्ष्या-क्रोधादि कषाय में से उत्पन्न होते है । बढती पाने वाले अन्य व्यक्ति को देखकर जीव को शाति नही रही, क्रोध भभक उठा, इससे फिर उस पर चित्त जलता है, ईर्ष्या, मत्सर असूया होती है । इसी तरह किसी वस्तु का लोभ है, तो उसके बिगड़ने या नष्ट होने पर चित्त बेचैन बन जाता है, खेद विषाद होता है । इसी तरह इच्छित वस्तु के प्रति लोभ ममता आसक्ति होने से वह बन आने पर हर्ष उन्माद होता है । मूल मे

सीयायवाइएहिं य सारीरेहिं सुबहुप्पगारेहिं ।
झाणसुनिच्चलचित्तो न वहिज्जइ निज्जरापेही ।१०४।

अर्थ:—ध्यान मे अच्छी तरह निश्चल (भावित) बने चित्त वाला शीत ताप आदि अनेकानेक प्रकार के शारीरिक दु.खों से खिंच नहीं जाता (उनसे पीडित नही होता, चलित नही होता) क्यो कि वह कर्म निर्जरा की अपेक्षा वाला है ।

कषाय होने से ही ये ईर्ष्यादि की वृत्तियें उठती है । ये कषाय ही नहीं तो यह वृत्ति नही । ये ईर्ष्यादि मानस दु.ख हैं । मन इनसे पीड़ित होता है ।

प्रश्न – हर्ष से मानसिक पीड़ा क्या ? इसमे तो मन को आनंद मंगल लगता है ।

उत्तर—शराबी शराब पीता है और उसे नशा चढता है, इसमे ही उसे आनन्द मंगल लगता है, वह मस्ती का अनुभव करता है । परन्तु सचमुच मे वह आनन्द नही है, पर चित्त की अस्वस्थता है, पागलपन है, नशा है । इसी तरह लोभ की वस्तु बन जाने पर, मिल जाने पर मन को एक प्रकार का नशा चढ़ता है, हर्ष का अनुभव होता है । किन्तु सचमुच मे तो वह आनन्द नही है, पर चित्त की अस्वस्थता है, पागलपन है । पर को अपना मानना, अशुचि को शुचि मानना, सुखाभास मे सुख मानना यह पागलपन नही तो दूसरा क्या कहा जाय ? तात्पर्य, हर्ष आदि वृत्तियें भी मन की अस्वस्थता है, पीड़ा हैं ।

चित्त शुभ ध्यान मे पिरो देने से कषायो की शांति रहती है : इससे ईर्ष्या विषाद शोक आदि को उठने की जगह ही नहीं रहती अतः शुभ ध्यान करने वाले को इन मानसिक दु.खों से पीड़ित होने

का नही होता और इसी जीवन में प्रत्यक्ष मानसिक पीड़ा से बचने का लाभ मिलता है ।

ध्यान से शारीरिक दुःख में पीड़ा नहीं

अब शारीरिक पीडा स बचने का प्रत्यक्ष लाभ बताते हैं —

ध्यान की धारा से जिसने चित्त को भावित कर दिया है ऐसा व्यक्ति ऐसी आत्मदृष्टि वाला बना हुआ होता है कि उसे ऋतु को सर्दी गर्मी या भूख, तृषा या आक्रोश प्रहार आदि शारीरिक दु.ख आने पर भी वह दुखों का चिन्ता या उनके सताप मे वह नहीं ज ता, उसे उनकी कुछ भी पीड़ा नही लगती । (हो सकती है, पर होने पर भी नही लगती ।) अत वह अपने ध्यान कार्य मे इतना निश्चल रहता है कि उसमे से लेश मात्र भी चलित होने की बात नही होती । दुख की वेदना तो होती है, पर उससे अल्प भी अरति या उद्वेग नही होता कि जिससे वह ध्यान मे से चलित हो जाय ।

शारीरिक दु.खो से पीडित नही होने का कारण यह है कि वह आत्मा केवल कर्मक्षयार्थी है, उसे निर्जरा की अपेक्षा है, अभिलाषा है । उसने ध्यानादि साधना निर्जरा के लिए तो हाथ मे ली है, तो फिर निर्जरा करवाने वाली शारीरिक आपत्ति आवे उसमे तो उसका मन खूश होगा, उसके मनको पीड़ा किस तरह से होगी ? शारीरिक दु ख तो कर्म रूपी फोडे पर ऑपरेशन के चाकू का काम करता है, इससे कर्म रूपी फोड़ा मिट जाने का उसे दिखता है, तो उसे जरा भी उद्वेग क्यो होगा ? ध्यान बराबर करके चित्त का उससे भावित याने रगा हुआ करने मे प्रत्यक्ष रूप से यह महान फल है ।

इस तरह फल द्वार का वर्णन हुआ ।

श्रद्धा-ज्ञान-क्रिया से नित्य सेव्य ध्यान

अब अन्तिम गाथा से उपसहार करते हैं:—

इयमव्वगुणाधाणं दिट्ठादिट्ठसुहसाहणं झाणं ।
सुपसत्थं सद्धेयं नेय फेयं च निच्चंपि ॥१०५ ।

अर्थ —इस तरह ध्यान सकल गुणो का स्थान है, दृष्ट अदृष्ट सुखों का साधन है, अत्यन्त प्रशस्त है, अत. वह सर्व काल मे श्रद्धेय है, ज्ञातव्य है और ध्यातव्य है ।

विवेचन :

शुभ ध्यान का उक्त द्वारो मे विचार किया । इस पर मे यह फलित होता है कि ध्यान समस्त गुणो का स्थान है। उदा० पहला तो ध्यान के लिए भूमिका रूप जो भावना बतलाई उसमे ज्ञानदर्शन चारित्र के और वैराग्य के अनेक गुणो का पोपण होता है। फिर ध्यान के आलम्बनो मे वाचनादि तथा क्षमादि के अनेक गुणो को अवकाश मिलता है । इसक ध्यातव्य आज्ञा विचयादि के ध्यान मे जिनवचन अनेक रुचि बहुमान आदि अनेक गुणो का पोपण होता है । तब ध्यान के अधिकारी ध्याता बनने मे तथा अनुप्रेक्षार्थं ध्यान से भावित बनने मे भी अनेकानेक गुणो को स्थान मिलता है। ध्यानी की प्रशस्त लेश्या और लिंगो मे तो स्पष्टतया अद्भुत गुणो का ही समर्थन होता है। सारांश ध्यान इन सकल गुणो को अवकाश देता है ।

ध्यान इन गुणो के साथ साथ दृष्ट अदृष्ट सुखो को भी अवकाश देता है । फल द्वार मे धर्मध्यान शुक्लध्यान मे जो फल बताया, उदा० विपुल शुभाश्रव, सवर, निर्जरा, अमर सुखो से लेकर अन्त मे जो मानसिक शारीरिक दु खों का अन्त बताया, उससे ध्यान से परोक्ष मे और प्रत्यक्ष मे महा अनन्य सुख होने का सूचित किया ।

इस तरह ध्यान गुणो और सुखो का भण्डार होने से सुप्रशस्त है। श्री तीर्थंकर देव तथा गणधर महाराजा आदि से भी सेवित

ध्यान यह अत्यन्त शुभ साधना है। ऐसे उत्तम पुरुष जिसे करें उसकी प्रशस्तता का तो पूछना ही क्या ?

इसीलिए ध्यान श्रद्धेय है, ज्ञेय है, ध्यातव्य है। श्रद्धेय है याने 'ध्यान सर्व गुणो का स्थान और दृष्टादृष्ट सुख का साधन है, इस बात मे कोई मीनमेष फर्क नहीं।' ऐसी भावना से श्रद्धा रुचि आस्था आदर करने योग्य है। इतना ही नही, ध्यान का स्वरूप जानने समझने जैसा है, तथा क्रिया से अमल मे उतार ने जैसा याने चिंतन मे आचरण करने योग्य है।

ऐसा करने मे सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्र की आराधना होती है।

इस श्रद्धा व ज्ञान पूर्वक ध्यान का आसेवन भी एकाधो बार नही, किन्तु नित्य सर्वकाल करना चाहिये। इतनी ऊची वस्तु को किस लिए क्षण भर भी छोड़ना ? इसकी सतत ही आराधना करनी चाहिये।

प्रश्न— यो तो सर्व काल ध्यान की ही आराधना करते रहने से सयम-जीवन की अन्य सब क्रियाए करने का अवकाश ही नही रहेगा ! सब क्रियाए ही उड़ जावेंगी।

उत्तर— नही, क्रियाओ का लोप नही होगा, क्यो कि क्रिया का आसेवन वस्तुत: ध्यान रूप है। अत. क्रियाए छोड़कर ध्यान की बात ही नही है। क्रियाए की जाये, वही ध्यान रूप हो जाती है। क्यो कि क्रिया मे मन की एकाग्रता ध्यान ही है। साधु की कोई क्रिया ऐसी नही होती कि जिसमे ध्यान याने चित्त की एकाग्रता न होती हो।

इसका कारण यह है कि प्रत्येक साधना प्रणिधान युक्त ही करने की है। और 'प्रणिधान' की 'विशुद्ध भावना सार तदर्थार्पित मानसम्। यथाशक्ति क्रियालिग प्रणिधान जगौ मुनि:।' व्याख्या अनुसार 'तदर्थार्पित मानसम्' याने उस सूत्रार्थ अथवा क्रिया के विषय मे मन को अर्पित करना, उसमे मन को तन्मय बनाना होता

है; और मन की तन्मयतः स्थिरता ध्यान ही है। इस शास्त्र के प्रारम्भ में ही कहा है कि 'जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं।' अर्थात् चित्त का स्थिर चिन्तन ही ध्यान है।

साराश कि सर्व साधुक्रिया प्रणिधान युक्त होने से ध्यानरूप बन जाती है। बाकी स्वाध्याय वाचनादि तो ध्यान में आलम्बन रहे ही हैं; अतः स्वभावतः उसके आलम्बन से चित्तस्थैर्य याने ध्यान आवेगा ही। इस तरह साधुक्रिया और स्वाध्याय के सतत प्रवाह में ध्यान का भी सतत प्रवाह बहता है; इसीलिए कहा कि ध्यान सर्वकाल सेवनीय है।

इस पर से यह सूचित होता है कि साधुक्रिया तो एक ओर छोड़कर ध्यान करने का विधान जैन शासन में नहीं है (अनादि के चले आने वाले विविध कषाय-कुसंस्कारों को मिटाने में विविध क्रिया व आचार समर्थ हैं। इन को सेवे बिना ये कषाय कुसंस्कार किस तरह घिसकर नष्ट होंगे ? फिर मन विविधता प्रिय होने से विविध क्रिया सूत्र और विविध स्वाध्याय में यदि स्थिर हो सके वैसा है तो ऐसा यह छोड़ कर मात्र एकरूप कोई 'ॐ' आदि के सतत ध्यान में किस तरह स्थिर रह सकता है ?

इति ध्यान शतक विवेचन

इस तरह सयमप्रधानदृष्टि, कर्मसाहित्य-सूत्रधार, विशाल गच्छाधिपति परमाराध्यपाद स्व० गुरुदेवश्री सिद्धान्तमहोदधि आचार्य भगवन्त **श्री विजय प्रेमसूरीश्वरजी** महाराज की कृपा से उनके चरणरज पन्यास **भानुविजय** ने श्री ध्यान-शतक और उसकी टीका के आधार पर यह विवेचन (गुजराती भाषा में) लिखा है। (यह उसका अनुवाद है।) इसमें प्रमादवश जिनाज्ञाविरुद्ध यदि कुछ लिखा गया हो तो मिच्छामि दुक्कडं।

